प्रकाशक
बी० एन० माथुर, सुपरिंटेंडेंट
इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस), लिमिटेड
इलाहाबाद

मुद्रक
पी० एल० यादव
इंडियन प्रेस, लिमिटेड
इलाहाबाद

समर्पण

उन्हीं को जिनके साथ पिछले बारह वर्षों से इन्हीं समस्याओं को लेकर चर्चा करती रही हूँ और जो मेरे निकट जीवन की भाँति ही प्रिय हैं तथा जिनको चरित्र-निर्माण में सहायता देना मेरा कर्तव्य भी है और 'श्रेय' भी।

—कंचन

प्राक्कथन

अपनी प्रिय शिष्या तथा मित्र प्रिंसिपिल डा० कञ्चनलता सब्बरवाल द्वारा लिखित "आचार-शास्त्र" के आदि में परिचयात्मक दो चार शब्द लिखने मे मुझे बहुत हर्ष होता है।

आचार-शास्त्र सदा से ही जीवन और समाज के लिए अत्यन्त महत्त्व का विषय रहा है। विशेषतः आज-कल जब कि साधारण लोगों की दृष्टि में सदाचार का महत्त्व उतना नहीं रह गया है जितना पूर्वकाल में था। यह खेदजनक बात है कि आज-कल का साधारण पढा-लिखा व्यक्ति आचार चर्चा और कर्तव्य-पालन की ओर इतना ध्यान नहीं देता जितना कि जीवन की अन्य समस्याओ की ओर देता है यद्यपि यह विषय प्रायः सभी महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयो में पढाया जाता है पर थोड़े से ही विद्यार्थी इसको पढ़ते हैं और बहुत कम इसको भली भाँति समझने का प्रयत्न करते हैं। मैं इस निर्णय पर अपने अनेको वर्षों के आचार-शास्त्र में परीक्षक होने के अनुभव से पहुँचा हूँ।

जीवन मे सदाचार का कितना महत्त्व है, सदाचार क्या है और किस प्रकार अपने नित्य के व्यवहार मे हम सदाचारी बन सकते हैं, ये प्रश्न सब मनुष्यों को जानना इतना ही, बल्कि इससे कहीं अधिक, आवश्यक हैं—जितना कि खाना-पीना, सोना और कमाना। जो विद्यार्थी दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी नहीं हैं उनके लिए तथा जन साधारण के लिए भी आचार-शास्त्र का परिशीलन करना जीवनोपयोगी और आवश्यक है।

अतएव इस विषय पर अपनी राष्ट्र भाषा में ऐसी पुस्तको का होना जिनमें आचार-सम्बन्धी प्रश्नो का विचार विस्तृत, व्यापक, तुलनात्मक और स्वतन्त्र आलोचनात्मक दृष्टि से किया जाय, बहुत ही वाञ्छनीय है। आज जब कि पृथ्वी मण्डल पर एक सार्वभौम मानव संस्कृति की रचना हो रही है, एक ऐसी सरल हिन्दी भाषा में लिखी हुई पुस्तक की आवश्यकता है कि जिसमें प्राचीन और अर्वाचीन, पूर्व और पश्चिम के आचार-सम्बन्धी विचारों के आधार पर आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तो की स्वतन्त्र व्याख्या की गई हो। ऐसी पुस्तक लिखने के लिए डा० सब्बरवाल वास्तव में उपयुक्त लेखिका हैं। वे दर्शन, इतिहास, और

अनेक भाषाओं की प्रगाढ़ पंडिता ही नहीं, बल्कि शिक्षिका भी हैं। वे विद्यार्थियों और पाठकों की कठिनाइयों से भी भली भाँति परिचित हैं। उनकी लिखी हुई पुस्तक का सर्वथा अच्छा होना तो स्वाभाविक ही है। अतएव मैं इस पुस्तक की यथोचित प्रशंसा न करके उनको इस बात के लिए हिन्दी भाषियों की ओर से धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने इस पुस्तक को लिखकर हिन्दी में वांछनीय साहित्य की वृद्धि की और उनको एक उपयोगी एवं आवश्यक पुस्तक लिखने पर हार्दिक बधाई भी देता हूँ। यह भी आशा करता हूँ कि भविष्य में वे और विषयों पर भी इस प्रकार की पुस्तक लिखकर भारत की सेवा करेंगी।

भी० ला० आत्रेय

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक को लिखने की प्रेरणा मुझे अपनी छात्राओं के विशेषानुरोध से तो मिली ही थी किन्तु उनके बार-बार स्मरण कराते रहने ने तो मुझे इसे शीघ्र लिख डालने के लिए एक प्रकार से विवश ही कर दिया। यदि इससे छात्र-छात्राओं को न केवल आचार-शास्त्र को समझने मे ही वरन् अपने निजी जीवन में भी सत्य, शिव एवं सुंदर को अधिकाधिक स्थान देने की दिशा मे तनिक सी भी सहायता प्राप्त हुई, तो मै अपना परिश्रम सफल समझूँगी। इसी दृष्टि से मैंने इसमे भारतीय आचार-शास्त्र सम्बन्धी सिद्धातो की चर्चा भी स्थान-स्थान पर की है।

भाई डा० भीखनलाल आत्रेय से तो सदा सर्वदा सहायता पाती ही रही हूँ तब फिर इस बार ही उन्हे प्रेरणा देने तथा उत्साहवर्द्धन करने के लिए धन्यवाद क्या दूँ ?

कागज प्राप्ति सम्बन्धी कठिनाइयो के होते हुए भी इतने थोड़े से समय मे पुस्तक को प्रकाशित करने का श्रेय इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद को ही है।

लखनऊ—२-३-५४ } कंचनलता सब्बरवाल

अनुक्रमणिका

अध्याय १

आचारशास्त्र की आवश्यकता और उसकी समस्याएँ

आवश्यकता—मानव की जिज्ञासा एवं उसकी सभ्यता और संस्कृति-निर्माण में, वैज्ञानिक खोजे तथा एक लक्ष्य की ओर संकेत, उसकी प्राप्ति के लिए सदाचार की आवश्यकता है, मानव-जीवन मे उसका महत्त्वपूर्ण स्थान।

समस्या—नैतिकता का आदि काल, जातीय रीति-नीति, प्रथा आदि के रूप मे आरम्भ, इसका वास्तविक रूप मानव के मन मे द्वन्द्व की उत्पत्ति के साथ साथ, रीत्याचार ही अन्तर्द्वन्द्व द्वारा आलोचना एवं विचार की वस्तु बना, फिर विवेकाचार आया।

महत्त्व—आचारशास्त्र का महत्त्व कर्ता के स्वयं अपने मार्ग, कर्मक्षेत्र के चुनने में ही है।

अध्याय २ ✓

आचारशास्त्र की परिभाषा,

आचारशास्त्र—आचरण सम्बन्धी शास्त्र, मेकञ्जी-आचरण सम्बन्धी उचित अथवा श्रेय की खोज, श्रेय ध्येय भी हो सकता है, श्रेय-सदाचार सम्बन्धी-विज्ञान, आचार और चरित्र, रोजरस—आचारशास्त्र सफल जीवन की नींव स्वरूप सिद्धान्तों को समझने की दिशा मे एक प्रयत्न, आर० ए० पी० रोजरस—मानवाचरण के अन्तिम ध्येय का मूल्याकन करा सकने वाले सिद्धान्तो की खोज, सिजविक-मानव के नैतिक जीवन के क्रियात्मक रूप का सैद्धान्तिक अध्ययन। रैशडाल—उचित और श्रेय को समझने का प्रयत्न, हार्ट मैन—'हमें क्या करना चाहिए?' का उत्तर।

अध्याय ३ ✓

(१)

आचारशास्त्र का विषय एवं स्वरूप

विज्ञान-तथ्यों के 'संग्रह', वर्गीकरण और आलोचनात्मक अध्ययन करने को कहते है, क्या आचारशास्त्र विज्ञान है? आचारशास्त्र विचारप्रधान विज्ञान है,

(२)

आचारशास्त्र क्या कला-कौशल है ? आचारशास्त्र क्या क्रियात्मक विज्ञान है ? आचारशास्त्र सैद्धान्तिक भी है और क्रियात्मक भी। मानव का सम्पूर्ण जीवन, आचारशास्त्र के भाग—मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक।

(३)

आचारशास्त्र का अन्य विज्ञान एवं शास्त्रों से सम्बन्ध

प्राकृतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, राजशास्त्र, अर्थशास्त्र, तर्क शास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, तत्वज्ञान एवं दर्शन, धर्मशास्त्र अथवा धार्मिक मत और विश्वास।

अध्याय ४

नैतिक निर्णय

नैतिक निर्णय, स्वेच्छा से किये गये कर्मों पर ही दिये जाते हैं, स्वेच्छाकृत कर्म और उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन—शारीरिक माँग, प्राकृतिक माँग, इच्छा, इच्छा और कर्म, कामना, निश्चय, चरित्र, आचरण, नैतिक निर्णय किस पर ? कर्मफल पर नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता है, नैतिक निर्णय आचरण पर भी नहीं, वह दिया जाता है आन्तरिक कारणों पर—प्रत्यक्ष एवं प्रेरक, प्रेरक कारण, प्रेरक और प्रत्यक्ष कारण उनमें भेद, चरित्र एवं आचरण, परिस्थितियाँ, नैतिक गुण।

अध्याय ५

नैतिक निर्णय के प्रकार

नैतिक निर्णय के प्रकार—(१) स्वनिर्णय, परनिर्णय, (२) वर्णात्मक, प्रशंसात्मक; स्वतःसिद्ध, श्रेय की परिभाषा देना कठिन है। "श्रेयत्व" अमूर्त है, जीवनादर्श में श्रेय का स्थान, श्रेय अद्वितीय अत्यधिक सरल विचार, श्रेयत्व का अंश इच्छित वस्तु और इच्छुक दोनों में ही रहता है, सर्वोच्च श्रेय, सर्वोच्च मूल्य के कारण मूल्यवान् नैतिक श्रेय, सर्वाधिक श्रेय, उचित जो सम्भव श्रेयतम का उत्पादन कर सके, विभिन्न कसौटियाँ, उचित और श्रेय का दृष्टिकोण भिन्न है, नैतिक मापदंड, इनका महत्त्व, वाह्यनियम, वाह्य के अतिरिक्त आन्तरिक नियम भी हैं जो कि नैतिकता के लिए आवश्यक हैं, अन्तरात्मा अथवा मनोवृत्ति, ध्येय, उद्देश्य।

अध्याय ६

सुखवाद

नैतिक निर्णय की कसौटी, ध्येय-सुख, सुखवाद की विचार धाराएँ—मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक, स्वार्थ सुखवाद एवं परार्थ सुखवाद; स्वार्थ सुखवाद-प्राचीन मतः लोकमत, वर्तमान स्वार्थ सुखवाद, बुद्धिजन्य स्वार्थ सुखवाद, आधुनिक मत-बेनथम, सुख की माप के सात आधार, स्वार्थ सुखवाद की कठिनाई, तर्क आन्तरिक नैतिक तर्क की स्वीकृति कठिनाइयाँ बढ़ाती है, उपयोगिता का सिद्धान्त जान स्टुअर्ट मिल के विचार, सार्वजनिक सुखवाद, उपयोगितावाद, सिजविक के विचार—सिजविक की कठिनाई, चरित्र एवं नैतिक गुण, ध्येय, निष्कर्ष।

अध्याय ७

विकासवादी सुखवाद

विकासवाद का आचारशास्त्र पर प्रभाव, हर्बर्ट स्पेन्सर के विचार, मानव-समाज-जीवी, विकासवादी सिद्धान्तों का नैतिक दृष्टि से महत्त्व।

अध्याय ८

विवेक बुद्धिवाद

बुद्धिवाद की ओर, कुछ पुरातन विचार-धाराएँ, बौद्धमत, अन्य भारतीय दर्शन, स्टौइक, इम्मैनुयल कान्ट, विवेकबुद्धि और मानवेच्छा की स्वाधीनता, नैतिकता के सिद्धान्त, आलोचनात्मक दृष्टि, भगवद्गीता और विवेकवाद, मूल्याकन।

अध्याय ९

अन्तः शक्तिवाद

नैतिक पथ-प्रदर्शन—भीतर से, सदसद्विवेकवाद और अन्तःकरण, विवेक-बुद्धिवादी अन्तःशक्तिवाद, सौन्दर्यवादी अन्तःशक्तिवाद, सहानुभूतिवादी अन्तःशक्तिवाद, स्वविधायक अन्तः शक्तिवाद, समन्वय, आलोचनात्मक दृष्टि।

अध्याय १०

नैतिक ध्येय-व्यापक श्रेय

अन्तिम ध्येय की चर्चा, मानव के भीतर-स्वार्थ, परार्थ, व्यक्ति और समाज, मानव की स्वाधीनता, कर्ता, वातावरण के, परिस्थितियो के अधीन भी है और

स्वतन्त्र भी, व्यापक श्रेय-आत्मत्याग और आत्मज्ञान, कर्तव्य-विवेचना, सामाजिक असन्तुलन और मानव के अन्तर्द्वन्द्व, जीवन पूर्ण है, नैतिकता की आधारशिला।

अध्याय ११

नैतिक गुण

नैतिकगुण और कर्तव्य, नैतिक गुण की परिभाषा, नैतिक गुण और उनका वर्गीकरण, मुख्य नैतिक गुण, संयम, साहस, न्याय, बुद्धिमत्ता।

अध्याय १२

नैतिक-उन्नति

नैतिकता पर देश, काल और समाज का प्रभाव, नैतिकता का मुख्य आधार चिरन्तन है, नैतिक उन्नति, नैतिक उन्नति-सम्बन्धी विश्वास संदेहास्पद है।

अध्याय १३

आचारशास्त्र की कुछ समस्याएँ

व्यक्ति के लिए नैतिक पथ-प्रदर्शन, आत्म-स्वातन्त्र्य, सचेतनज्ञान, अन्तिम ध्येय-आदर्श, अमरत्व।

अध्याय १४

सामाजिक न्याय और दण्डविधान

न्याय, पुरातन विचार-धारा, आधुनिक विचार-धारा, दण्डः—अवश्यंभावी फल, दण्ड :—बाधा देने के लिए, दण्ड :—सुधार के लिए, क्षमादान, प्रायश्चित, दण्ड :—दूसरों के अपराधों के लिए, अपराध-रहित समाज, प्राणदण्ड, युद्ध, उपसंहार।

विषय-सूची



अध्याय १

आचार-शास्त्र की आवश्यकता और उसकी समस्याएँ

आवश्यकता—मानव-जीवन का लक्ष्य है, सत्य, शिव एवं सुन्दर की प्राप्ति। वह जो सत्य है, चिरन्तन है, और है चिरस्थायी···वह जो शिव है, हितकर है, और है कल्याणमय···वह जो सुन्दर है, पूर्ण है, और है विकाररहित···वह ही हमारा लक्ष्य हो सकता है। किन्तु वह क्या है? चरम सत्य, सर्वथा शिव एवं पूर्ण सुन्दर क्या है? इसी प्रश्न के उत्तर पर विश्व के समस्त तत्त्वज्ञान एवं दर्शन आधारित हैं। विभिन्न विचारक, जिज्ञासु, साधक एवं तपस्वी अपने-अपने ढंग से सत्य, शिव एवं सुन्दर की खोज करते हैं और वही अमर, चिरन्तन एवं अनादि अनन्त हो सकता है जो कि पूर्णरूपेण सत्य, शिव एवं सुन्दर हो। उनकी खोज और उन खोजों के परिणामस्वरूप विचारजन्य सिद्धान्त ही दर्शनशास्त्र अथवा तत्त्वशास्त्र कहलाते हैं। सभ्यता के युग से बहुत पूर्व भी मानव इसी प्रकार की खोज में तल्लीन था और उस समय के विचारकों ने भी अपने ढंग से इस समस्या पर विचार करके अपनी जिज्ञासा शान्त करने का प्रयत्न किया होगा। मानव सर्वथा मुक्त, बन्धनहीन व्यक्तिगत प्राकृतिक जीवन से सामूहिक नागरिक जीवन की ओर बढ़ा और ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों उसकी बुद्धि ने उसे प्रकृति पर विजय करने में सहायता दी। वह अधिकाधिक सभ्य होता गया किन्तु सभ्यता ने उसकी समस्याओं में वृद्धि की, उसकी मौलिक जिज्ञासाएँ भी बढ़ीं और उन पर विचार करने का ढंग भी अधिक गम्भीर होता गया। किन्तु उसकी जिज्ञासा बढ़ती ही गई और वह अधिकाधिक जिज्ञासु होता गया। भले ही वह अपने इस प्रयत्न में प्रकृति से कुछ दूर होता गया हो। यह भी एक विवादास्पद प्रश्न है कि विज्ञान की देन सभ्यता ने मानव को अपने लक्ष्य की ओर बढ़ाया है अथवा नहीं, किन्तु इतना तो सत्य ही है कि मानव की जिज्ञासा आज भी सर्वथा शान्त नहीं हो पाई है। सत्य, अनन्त, चिरन्तन

सत्य क्या है ? यह धीरे धीरे तत्त्वज्ञान का, दर्शन-मात्र का ही विषय बन गया किन्तु शिव एवं सुन्दर ने तो मानव की बुद्धि से उतर कर उसके व्यवहार पर भी छा जाना आरम्भ कर दिया। यद्यपि एक का प्रभाव दूसरे पर बहुत ही गहन-गम्भीर रहा क्योंकि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व क्षीण-सा रह जाता था। भारतीय विचारकों ने तो यहाँ तक विश्वास करना आरम्भ कर दिया कि बिना शुद्ध, पवित्र आचरण के सत्य की प्राप्ति होना भी सन्देहास्पद है। अतः वेदान्त के युग में तो आचार मानसिक उच्च भूमिका तक पहुँचने का एक आवश्यक साधन भी माना जाने लगा। ज्ञान और कर्म एक पूर्ण जीवन के दो आवश्यक पहलू मात्र ही तो हैं। इनका परस्पर अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। अतः भारतीय दर्शनशास्त्रों एवं दर्शन-प्रणाली में सदाचार को यद्यपि गौण ही स्थान मिला किन्तु मिला अनिवार्य स्थान ही। सदाचार का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा क्योंकि ब्रह्मज्ञान अथवा सर्वोत्तम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह एक आवश्यक साधन माना जाने लगा।

भले ही पश्चिम में सभ्यता के पूर्वी काल में आचार-शास्त्र का उतना आवश्यक स्थान न रहा हो, किन्तु यूनानी सभ्यता के काल से ही आचार-शास्त्र की चर्चा चली आ रही है। आचार-शास्त्र (Ethics, Moral Philosophy) नैतिक चरित्र-सम्बन्धी विज्ञान माना जाता है। वस्तुतः इस शब्द का सम्बन्ध प्राचीन काल से ही स्वभाव अथवा रीति-रिवाज (Edos, Mores, Customs or Habits) से रहा है। मॉरल फिलासफी भी हमें मोरज (Mores) शब्द का स्मरण कराती है जिसका कि लैटिन भाषा मे मुख्यतः संकेत रीतियों अथवा प्रथाओं की ही ओर होता है। ऐसा जान पड़ता है कि आरम्भ मे मानव ने उसी को शिव माना जो कि वह कर पाता था। अतः साधारणतया शिव अथवा श्रेय (Good) का आरम्भ सामूहिक नियमादि से ही हुआ। जो हो, व्यक्तिगत जीवन के धरातल से कुछ ऊपर उठकर जहाँ से मानव ने सामाजिक जीवन आरम्भ किया होगा वहीं से उसके व्यवहार को लेकर शिव अथवा श्रेय का प्रश्न उठना आरम्भ हो गया होगा। तब से लेकर आज दिन तक वह प्रश्न अधिकाधिक गहन एवं गम्भीर होता ही चला गया यद्यपि इस प्रश्न का आधार केवल मात्र सामूहिक जीवन और तत्सम्बन्धी सुविधाएँ ही नहीं है। मानव आचार-सम्बन्धी सम्मति अर्थात् नैतिक निर्णय (Moral Judgement) व्यक्तिगत धरातल पर ही देता और पाता है। अतः आचार-शास्त्र व्यक्ति को लेकर चलता है किन्तु वह व्यक्ति सर्वथा

समाज से परे एकाकी ही हो ऐसी बात नहीं है। उसके आचार का मापदण्ड कुछेक ऐसे सिद्धान्त भी होते है और हो सकते हैं जिनका आधार एक दर्शन-विशेष हो। जो हो, मनुष्य अपने आप से भी तो जिज्ञासा करता है कि उसका व्यवहार कैसा होना चाहिए। वह दूसरों के व्यवहार पर अपना मत भी देता है और उस मत का आधार भी देता है तथा यह भी जिज्ञासा करता है कि उनका व्यवहार कैसा होना चाहिए अथवा हम सब का व्यवहार कैसा होना चाहिए। हमें क्या करना चाहिए? इसी प्रश्न के उत्तर से आचार-शास्त्र का निर्माण होता है। किसी भी कर्म का करना अनुभूति और ज्ञान से परे होकर तो हो ही नहीं सकता है। कर्म को वाणी और मन से सर्वथा पृथक् करके नहीं रखा जा सकता है इसीलिए यह कहना पड़ता है (कि मनसा, वाचा और कर्मणा हमें क्या करना चाहिए इस प्रश्न का उत्तर आचार-शास्त्र में मिलता है) हमारे कर्म हमारी अनुभूतियों, हमारे विश्वासों एवं विचारों की घोषणा करते है। अतः हम प्रायः वही करते है जो हम होते है। हमारा अन्तर ही तो हमारे बाह्य की बहुत कुछ सृष्टि करता है। और हमारा बाह्य ही हमारा आचरण (Conduct) कहलाता है। हमारे जन-सम्पर्क की, सामाजिक जीवन की नींव आचरण पर ही रखी जाती है और इस आचरण का आधार होता है चरित्र (Character)। मानव के जीवन में उसके आचरण का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः हमारा आचरण कैसा होना चाहिए यह जानना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि मानव-जीवन में आचार-शास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः हमें आचार-शास्त्र की आवश्यकता है। भले ही उसकी क्रियात्मक उपयोगिता कुछ भी हो किन्तु उसकी आवश्यकता तो हमें है ही।

समस्या—अब देखना यह चाहिए कि आचार-शास्त्र की समस्या (Problem) का जन्म कैसे हुआ। हम आरम्भ में ही देख चुके है कि किसी भी प्रकार की खोज के आरम्भ होने का कारण मानव की वह जिज्ञासा होती है जो उसे खोज करने को विवश कर देती है। और जिज्ञासा तब ही उत्पन्न होती है जब कि मानव अपने भीतर अथवा बाहरी संसार मे ऐसी परिस्थितियों के बीच पड़ गया हो जो उसे आश्चर्यचकित कर देती हैं और वह उन्हे पूर्णतया अपने स्वभाव और गत अनुभवों के अनुरूप न पाता हो। सृष्टि के आदिकाल से ही मानव ने अपने नैसर्गिक संस्कारों अथवा प्राकृतिक प्रवृत्तियों के अनुरूप स्वभाव

बना लिया होगा। जब तक वह उस स्वभाव के अनुसार कार्य करता रहा तब तक उसे तत्सम्बन्धी जिज्ञासा नहीं हुई होगी। उदाहरणार्थ—सभ्यता के पूर्व के युग में जब मानव भूख लगने पर ही शिकार करने जाता होगा और किसी भी पशु को मारकर खा लेता होगा तब यह प्रश्न उसके मन मे भी नहीं उठा होगा कि पास ही पड़े हुए किसी भूखे, दुर्बल, वृद्ध अथवा रोगी मानव को भोजन देकर ही मुझे भोजन करना चाहिए। अतः स्वभाव के अनुरूप कार्य करते रहने से ही किसी जिज्ञासा का जन्म नहीं होता है और कोई समस्या भी मन में उदय नहीं होती है। किन्तु ज्यों ही मनुष्य उन स्वभावगत कार्यों के औचित्य अथवा अनौचित्य के प्रश्न की ओर ध्यान देने लगता है समस्या का जन्म होता है। साधारणतया हमारे जीवन के बहुत से कार्य जिनसे मिलकर आचरण, व्यवहार बनता है, स्वभाव पर ही आधारित होते है। और उन कार्यों का स्वभाव बन जाना हमारी बहुत-सी साधारण जीवन की समस्याओं को हल कर देता है। हम साधारणतया किसी प्रश्न का उत्तर वही देते हैं जो कि हमें ज्ञात होता है अथवा सत्य होता है। साधारणतया यह प्रश्न भी हमारे सम्मुख नहीं उठता है कि हम इस प्रश्न का उत्तर सत्य दें अथवा असत्य और यदि सत्य ही दें तो क्यों सत्य बोले? साधारणतया खान-पान तथा जीवन के अन्य साधारण कृत्यों में स्वभाव ही आधार रहता है। आदि युग का मानव भी अपने साधारण काम-काज स्वभाव के ही आधार पर करता रहा होगा। स्वभाव के अनुसार कार्य करने से मनुष्य के मन में न तो किसी द्वन्द्व (Conflict) का ही जन्म होता है और न संघर्ष का ही। अतः चरित्र का वह अंश जो कि स्वभाव बन जाता है किसी भी कार्य को निर्द्वन्द्व एवं शान्तिपूर्वक करा डालता है। (व्यक्ति के सम्बन्ध मे चरित्र का जो अंश स्वभाव कहलाता है जाति के अथवा समूह के सम्बन्ध में वही 'रीति' कहलाता है।) प्रश्न व्यक्ति का हो अथवा जाति का, जब तक 'स्वभाव' अथवा 'रीतियाँ' व्यक्ति की अथवा जाति की सब ही समस्याओं को पूर्णरूपेण हल करती जाती है तब तक आचार-शास्त्र की समस्या का उदय नहीं होता है। किन्तु परिस्थितियाँ तो सदा-सर्वदा एक-सी रहती नहीं है। अतः ज्यों ही परिस्थियाँ परिवर्तित होने लगती है पुराना स्वभाव अथवा रीतियाँ उनके अनुरूप समस्याओं का हल नहीं कर पाती हैं आचार-शास्त्र की समस्याओं का जन्म होता है। आचार-शास्त्र किसी कार्य-विशेष को न्याय अथवा अन्याय, उचित अथवा अनुचित कह देना मात्र ही नहीं है वरन्

उसका मुख्य कार्य तो वह आधार खोजना है जिसे लेकर किसी कार्य को न्यायानुकूल घोषित किया जाता है। (अथवा आचार-शास्त्र का कार्य यह खोजना नहीं है कि कौन-सा कार्य न्यायोचित है वरन् यह खोजना है कि न्याय क्या है।) यह प्रश्न मन में तब ही उदय होना है जब कि तत्कालीन समस्या का हल पुराने स्वभाव के आधार पर पूर्णरूपेण नही हो पाता है। यही स्थिति अन्तर्द्वन्द्व (Mental conflict) कहलाती है। और मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से ही इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जो कि कर्म-सम्बन्धी जिज्ञासा को जन्म देती है। इन्हीं परिस्थितियों के बीच पड़ कर विद्वान् व्यक्ति भी अपने आप से पूछने लगते हैं कि कर्म कौन सा है और अकर्म कौन सा है। "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" (गीता ४. १६) यही अवस्था कर्त्ता के मन में सिद्धान्त से सम्बन्वित जिज्ञासा को जगाती हैं। उदाहरणार्थ—दैनिक जीवन में पग पग पर हम न तो यह पूछते ही हैं और न सोचते ही है कि उचित क्या है? अनुचित क्या है? न्याय क्या है? अन्याय क्या है? कोई भी व्यक्ति साधारण परिस्थितियों में विवाह करते समय यह नहीं सोचता कि यह न्याय है अथवा अन्याय किन्तु कोई भी पुरुष जिसका विवाह एक बार हो चुका है और जिसकी पत्नी उसके सम्बन्धियों के अत्याचारों से पीड़ित है, और यदि उसके पिता की उसके लिए यह आज्ञा होती है कि वह उस पत्नी को त्याग दे और दूसरा विवाह कर ले तो वह अवश्य एक मानसिक संघर्ष का शिकार हो जाता है। अन्तर्द्वन्द्व के कारण ही उसे यह सोचने को विवश होना पड़ता है कि न्याय क्या है। ठीक यही बात जातियों के लिए भी सत्य है। अतः जिन परिस्थितियों में कोई मनुष्य अथवा जाति अपना कर्त्तव्य तक निर्धारित नहीं कर पाती है वही परिस्थितियाँ आचार-सम्बन्धी प्रश्नों को उत्पन्न करने तथा उनका हल खोजने का कारण होती हैं। और सभ्यता तथा विचार-शक्ति के विकास के साथ ही साथ ऐसी परिस्थितियों का उत्पन्न होना अनिवार्य-सा हो जाता है। उदाहरणार्थ—क्षमा को कर्त्तव्य तो माना जा सकता है किन्तु सदा सर्वदा बिना परिस्थितियों पर विचार किये क्षमा भी नहीं की जा सकती है। तब ही तो महाभारत में प्रह्लाद को अपने नाती राजा बलि से कहना पड़ा—"न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।" अर्थात् सदा न तो क्षमा करना और न क्रोध करना ही श्रेयस्कर है। (म० भा० वन० २८. ६) सम्भवतः सरलता से बिना द्विविधा और सन्देह के यदि मानव अपने कर्त्तव्य का सदा सर्वदा निर्णय कर लिया

करता तो आचार-शास्त्र की आवश्तकता ही नहीं होती। अतः विकट परिस्थितियों में कर्तव्य-ज्ञान प्राप्त करने के लिए मानव को आचार-शास्त्र की आवश्यकता होती है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि आचार-शास्त्र मनुष्य को उसके जीवन के उस मुख्य ध्येय की ओर संकेत करता है जिसे सम्मुख रखकर उसकी प्राप्ति के उद्देश्य से वह अपने समस्त आचरण की रचना करता है। ऐसा कर पाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसका चरित्र ऐसा ही हो जिससे कि वह आचरण स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो सके। मानव का आचरण उसके विचारों, विश्वासों अथवा चरित्र का दर्पण-मात्र है। सदाचरण तब ही हो सकेगा जब कि सद्चरित्र भी हो। साधारणतया दुष्टात्माओं का आचरण भी दुष्ट ही होता है। अतः आचार-शास्त्र का मुख्य कार्य है, उसकी समस्या है यह जाँचना, खोजना कि मानव का चरित्र और उसका आचरण कैसा होना चाहिए। चरित्र उसके विचारों, विश्वासों अथवा संक्षेप में यह दिखाता है कि वह व्यक्ति वस्तुतः क्या है। और आचरण यह दर्शाता है कि उसका मुख्य ध्येय क्या है। अब आचार-शास्त्र की मुख्य समस्या यह खोज करना हुआ कि मानव-चरित्र और आचरण कैसा होना चाहिए अथवा मानव को क्या करना चाहिए। इसी प्रश्न से सम्बन्धित दो प्रश्न और भी उत्पन्न हो गये—एक तो यह कि उसका अन्तिम ध्येय क्या होना चाहिए और दूसरा यह कि उसकी प्राप्ति के लिए उसे क्या करना उचित है। संक्षेप में यह भी कहा जा सकता है कि उसकी खोज का मुख्य लक्ष्य है अनन्त शिव अथवा श्रेय। किन्तु इस खोज तक पहुँचने के लिए मानव और समाज अथवा जाति दोनों को ही कई अवस्थाओं (Stages) से होकर जाना पड़ता है।

जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में बाल्यकाल में ही चरित्र-निर्माण की नींव पड़ती है उसी प्रकार जातियों के जीवन में भी वह समय होता है जब कि वह अपना जातीय स्वभाव निर्माण करती हैं। जीवन के उषा काल में हम केवल सीखते हैं और वही सीखना हमारा स्वभाव बनाता है। यह हमारा शिक्षा काल होता है। इसी में हम अपना नैतिक स्वभाव बना लेते हैं। यह प्रारम्भिक अवस्था ही होती है जिसमें कि हमारे नैतिक संस्कार बनते और परिपक्व होते हैं। उदाहरणार्थ—वह बालक जो कि एक ऐसे परिवार में जन्म लेता और अपना बाल्यकाल व्यतीत करता है जहाँ कि एक व्यक्ति दूसरे की वस्तु बिना आज्ञा के छूता भी नहीं है, बाल्यकाल में ही दूसरों की वस्तु बिना आज्ञा के न उठाने का स्वभाव ही बना लेता है अतः उसका चोरी न करना बाल्यकाल से नैतिक स्वभाव ही बन जाता है। ऐसा न

करने का वह कोई कारण अथवा तर्क नहीं दे पाता है फिर भी वह ऐसा करता है क्योंकि उसने गुरुजनों को ऐसा ही करते देखा है और इसी कारण से वह ऐसा करना चाहिए यही विश्वास करता है। जातियों के जीवन में भी ऐसा काल होता है और वहीं से नैतिक सदाचार की नींव पड़ती है। यद्यपि इस समय वह जाति केवल मात्र अपनी रीति नीति की नींव डाल रही होती है फिर भी रीत्यानुसार सद् और असद् आचार का आधार भी वही बनता जाता है। इसके पश्चात् करने का समय आता है। जब वही स्वभाव चरित्र बन जाता है तब व्यक्ति और जाति कार्यशील होती है अर्थात् उन्हीं विश्वासों, स्वभाव आदि के आधार पर कर्म करने लगती है। इस समय में सब ही आन्तरिक शक्तियाँ मिल-जुल कर स्वभाव और कर्म के बीच सन्तुलन स्थापित करती हैं। प्राचीन भारत में वर्ण-व्यवस्था ऐसे ही समय में बनाई गई थी। जातियाँ जब अपने कुछ नैतिक नियम, सामाजिक रीति-नीति व्यवहार आदि बना चुकती है तब उन्हीं के आधार पर समाज में काम-काज चलने लगता है। किन्तु इस अवस्था तक तो अनन्त सत्य की खोज तक हम पहुँच नहीं पाते हैं। फिर भी आचार-शास्त्र के क्रियात्मक अंश का प्रस्थापन हो चुका होता है। मानव सद् और असद्, उचित और अनुचित कहने और समझने लगता है यद्यपि उसके निर्णय का आधार केवल मात्र सामाजिक नियम अथवा रीति ही होते है। इस अवस्था में आचार रीत्याचार (Customary morality) ही होता है। किन्तु यह अवस्था सदा नहीं रहती है। व्यक्ति और समूह दोनों ही इस अवस्था से आगे बढ़ते हैं। साधारण दैनिक जीवन की समस्याओं का हल तो स्वभाव से अथवा रीति-आचार के आधार पर होता जाता है किन्तु ज्यों ही नवीन प्रश्न और नवीन परिस्थितियाँ मनुष्य अथवा जाति के सम्मुख आती है वह अपने भीतर मानसिक संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व के लक्षण पाता है। उसे जान पड़ता है कि उसकी भीतरी शक्तियों का सन्तुलन झकझोर दिया गया है। व्यक्ति के भीतर यह सन्तुलन शान्ति और मानसिक सुख की वृद्धि करता था जिससे कि वह निस्सन्देह शान्त और एकरस जीवन-पथ पर सामाजिक नियमों, रीतियों और निजी संस्कारों को लिये चला जा रहा था। अभी तक उसने कभी भी उन नियमों के आधार की सत्यता जाँचने का विचार तक नहीं किया था। उसे उन रीतियों अथवा रूढ़ियों का विरोध करने की भी अवश्यकता नही पड़ी थी। वह उन्हे सत्य मानकर उन्हीं के आधार पर चला जा रहा था। किन्तु उसके भीतर उन नियमों की मान्यता प्रश्न चिह्न बनाकर खड़ी हो गई। ज्यों ज्यों उनका बौद्धिक विकास हुआ,

उसने अधिकाधिक विचार करना आरम्भ किया त्यों त्यों उसके लिए विना तर्क किये, विना बुद्धि द्वारा ग्रहण किये हुए जातीय प्रथाओं अथवा रीतियों (Customs) को मानना कठिन होता गया। अत: उसने उन प्रथाओं, रीतियों पर विचार करना आरम्भ किया। फलस्वरूप उसमें सन्देह, शंका और उन्हे न मानने की प्रवृत्ति वढ़ती गई। और इसी अन्तर्द्वन्द के फल-स्वरूप उसकी बुद्धि ने आचार-सम्बन्धी प्रश्नों के बौद्धिक हल खोजने आरम्भ किये। वह स्वयं ही नवीन मार्ग खोजकर अपने आपको उसके अनुरूप बनाने तथा इन नवीन प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयत्न करने लगा। वह पुरातन को एकबारगी उतार कर, अपने से पृथक् करके फेंक देना नहीं चाहता है। वरन् उसका अन्तर्द्वन्द्व उसे पुरातन को बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए विवश करता है। वह उन प्रथाओं को समझ लेना चाहता है जिन्हें कि उसने आज दिन तक आँख मूँद कर माना था और सदा उन्हें ही सत्य करके जाना था। अव वह बुद्धिवल से, तर्क-वल से उनकी गहनता, गम्भीरता जाँचना चाहता है। यहीं से विवेकाचार (Reflective morality) का उदय होता है। इस गम्भीर विचार के पश्चात् मानव जो कुछ बुद्धि और तर्क के आधार पर प्राप्त करता है उसे ही वह सत्य मानना चाहता है किन्तु बुद्धि द्वारा प्राप्त वस्तु ही सदा सर्वदा सत्य होती ही हो, ऐसी बात भी नहीं है। कान्ट के विचारानुसार वह कुछ दूर तक तो जा सकती है किन्तु मानव पूर्ण विश्वास के साथ यह कैसे कह पायेगा कि वह सब कुछ बुद्धि के द्वारा ही प्राप्त कर सकता है। क्रियात्मक क्षेत्रों में बुद्धि भले ही हमें कुछ दूर तक सहायता दे दे किन्तु अनन्त सत्य की प्राप्ति सम्भवत: केवल मात्र उसी की सहायता से होना सम्भव नहीं है। यदि ऐसा न होता तो उपनिषदकारों को 'नेति'-'नेति' कहकर अनन्त सत्य की व्याख्या न करनी पड़ती। अत: बौद्धिक मनन, विचार एवं गम्भीरतापूर्वक उस ही पर ध्यान देकर तर्कादि के द्वारा जीवन का एक मार्ग खोजा तो जा सकना है। विचार, विवेक, ज्ञान और तर्क कर्तव्याकर्तव्य का आभास भी करा देते हैं किन्तु सम्भवत: उसके पश्चात् भी एक अवस्था आती है जिसे वह अवस्था कहा जा सकता है जहाँ कि व्यक्ति को अन्तज्योंति प्राप्त होती है। जहाँ वह विचार करके नहीं वरन् भीतरी ज्ञान के कारण ही सत्य और असत्य, शिव और शिवेतर, उचित और अनुचित, कर्तव्य और अकर्तव्य का भेद कर सकता है। जिस प्रकार यह अवस्थाएँ मानव के नैतिक जीवन के विकास मे प्रकट होती है उसी प्रकार जातियों का नैतिक विकास भी इन्हीं अवस्थाओं से निकल कर

होता है। जातियों के भी जीवन में शिक्षा-काल होता है जब कि वह अपने लिए रीतियों, प्रथाओं का निर्माण करती है ज्ञान, विज्ञान और सभ्यता की उन्नति के साथ ही साथ उनकी शक्तियों में भी वृद्धि होती है। उनकी समस्याओं की रूप-रेखाएँ भी परिवर्तित, परिवर्धित एवं संशोधित होती जाती हैं। नवीन प्रश्न भी उनके सम्मुख आते हैं और नवीन जातीय रुचियाँ भी उत्पन्न होती जाती हैं। अब इन नवीन परिस्थितियों में उत्पन्न होनेवाले नवीन प्रश्नों का उत्तर पुरानी रीतियों, प्रथाओं के आधार पर खोज पाना कठिन होने लगता है। वह उत्तर इन प्रश्नों का सम्पूर्ण हल हो भी नहीं पाते हैं। अतः जाति के भीतर भी पुरातन के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास कम हो जाता है और सन्देह की उत्पत्ति होती है। यही सन्देह उसे विचार करने को प्रेरित करता है। सन्देह जातीय अन्तर्द्वन्द्व के साथ मिलकर एक नवीन विचारधारा की सृष्टि करता है और समूची जाति रीत्याचार से आगे बढ़कर बुद्धिजन्य आचार की ओर चलती है। यद्यपि जातीय अन्तर्द्वन्द्व काल जाति के मानसिक एवं नैतिक विकास का ही प्रतीक है किन्तु उसका लाभ तब ही हो सकता है जब कि वह जाति को विचारों की, तर्क बुद्धि की ओर ले जाय।

महत्त्व—आचार-शास्त्र का महत्त्व, नैतिकता का महत्त्व इसमें नहीं है कि व्यक्ति एक सधे बँधे मार्ग पर धीरे-धीरे पग रखकर चलता ही जाता है। वह उस मार्ग से इधर-उधर नहीं खिसकता अथवा खिसक पाता ही नहीं है, वरन् उसका महत्त्व है सोच समझ कर, जान बूझ कर अपने लिए उसको चुनने में, जो कि श्रेय है, शिव है। दूसरों के बनाये हुए अच्छे हितकर नियमों पर भी आँख मूँदकर चले जाना, चलते ही जाना और भले ही कुछ हो मानव के लिए महत्त्व की बात नहीं है, तब ही तो गीता में श्रीकृष्ण को भी अर्जुन को उपदेश दे चुकने के पश्चात् कहना पड़ा "यथेच्छसि तथा कुरु" अर्थात् सब कुछ सोच समझकर अब जो तेरी इच्छा हो वही तू कर। अर्थात् आचार-सम्बन्धी श्रेय की एक सूची बना कर अथवा कर्तव्यों की एक तालिका बनाकर किसी भी मानव को देकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह उनको पालन करके श्रेष्ठ, नैतिक, सदाचारी व्यक्ति हो जायेगा। वस्तुतः उसका मुख्य कार्य तो है मानव होने के नाते अपने लिए उपयुक्त मार्ग खोजना। विभिन्न अवस्थाएँ उसे इसी स्थान तक खींच लाती है। और यही स्थान मानव के लिए वह स्थान है जहाँ खड़े होकर वह आचार-शास्त्र की रचना करता है। इसी स्थान पर मानव ने उन सिद्धान्तों को प्राप्त किया है जो आज आचार-शास्त्र की अमूल्य निधियाँ

हैं। अतः यह तो निश्चित ही हुआ कि मानव और जाति दोनों ही नैतिक उन्नति के पथ पर विभिन्न अवस्थाएं पार करते हुए अग्रसर होते हैं और इन्हीं अवस्थाओं को पार करते हुए रीत्याचार से विवेकाचार की ओर बढ़ते है।

आचार-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन पाठक को उन सिद्धान्तों के निकट ले जाता है जिसे मानव ने बुद्धि एवं तर्क के आधार पर शिव कर्म की आधारशिला माना है। भले ही वह सिद्धान्त केवल मात्र वह रेखाचित्र ही हों जिनमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी परिस्थितियों के अनुरूप रंग भर सकता है किन्तु वे चित्र भी तो इस दृष्टि से उपयोगी है ही कि वह व्यक्ति को वे साधारण रेखाएँ तो दे पाते हैं, वह पथ-निर्देशन तो कर पाते हैं जिस पर चलकर सत्य की खोज की जा सकती है। इसी कारण से तो आचार-शास्त्र की उपयोगिता और उसका महत्त्व व्यक्तिगत आचार निर्देशन शास्त्र (Casuistry) से कहीं अधिक है। आचार-शास्त्र व्यक्तिविशेष का पथ निर्देशन नहीं करता है वरन् मानव मात्र के सम्मुख विभिन्न पथ-सम्बन्धी प्रश्नों को उनके हल सहित रख देता है। यही आचार-शास्त्र की उपयोगिता है और यही उसका महत्त्व है। भले ही यह मानव की नियमों, रीतियों एवं प्रथाओं के प्रति घनी अगाध और अटूट श्रद्धा को हिला देता हो। भले ही यह दैवेच्छा एवं दैवी-शक्ति के प्रति मानव के स्थिर भय मिश्रित विश्वास एवं श्रद्धा को न्यून कर देता हो फिर भी यह मानव को पथ की खोज के लिए उत्साहित करता है। और पथ पर चलते रहने की अपेक्षा अपने लिए पथ की खोज करना, कर पाना कहीं अधिक महत्त्व का कार्य है। यही मानव के योग्य है, यही मानव जैसे बुद्धि सहित जीव की प्रकृति के अनुरूप भी है। इसी से उसका कल्याण भी हो सकता है। यही उसे सत्य, शिव और सुन्दर की ओर ले जाने मे भी सहायक हो सकता है। अतः मानव को आचार-शास्त्र की आवश्यकता है।

अध्याय २

आचार-शास्त्र की परिभाषा

आचार-शास्त्र-आचरण-सम्बन्धी शास्त्र—इसमें कोई सन्देह नहीं कि आचरण का उत्तरदायित्व तो व्यक्ति पर ही होता है किन्तु आचरण का सम्बन्ध किसी सीमा तक उस व्यक्ति, व्यक्तियों अथवा समूह से भी होता है जिनके प्रति व्यक्ति वह आचरण करता है। अतः आचार-शास्त्र का सीधा सम्बन्ध ऐसा जान पड़ता है कि व्यक्ति के आचरण से है। तत्सम्बन्धी निर्णय देना और उन निर्णयों के आधार स्पष्ट करना आचार-शास्त्र का उद्देश्य है किन्तु इस प्रकार के निर्णय देने के लिए उन आधारों की जाँच करना, उन्हें समझना भी अत्यन्त आवश्यक है जिन्हें मापदण्ड मानकर इस प्रकार के निर्णय किये जाते है। अतः यह भी आचार-शास्त्र के अन्तर्गत ही आता है कि 'उचित' और 'श्रेय' की व्याख्या की जाय। जीवन के प्रायः सब ही क्षेत्रों में जाने अथवा अनजाने हम प्रतिदिन बहुत से नैतिक निर्णय देते रहते है। साधारण बोलचाल से लेकर बड़े कामों तक हम कहते हैं "यह उचित था" "यह अनुचित था" "यह श्रेयस्कर था" "यह अश्रेय था"। अब आवश्यकता है यह जानने की कि उचित (Right) क्या है, श्रेय क्या है।

आचरण से सम्बन्धित उचित अथवा श्रेय की खोज—मेकन्ज़ी (Mackenzie) के विचारानुसार आचार-शास्त्र वह अध्ययन है जो कि यह खोज करता है कि आचरण से सम्बन्धित उचित (Right) अथवा श्रेय (Good) क्या है। इसका मुख्य कार्य यह जानना है कि मानव अपने कार्यों एवं प्रकृतियों में उचित और श्रेय को कहाँ तक स्थान देता है। यहाँ पर यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि उचित और श्रेय की परिभाषा क्या है ? हम किसे उचित कहते है और किसे श्रेय कहते है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय दर्शन में जो उचित माना गया है उसी को श्रेय भी माना गया है। चूँकि साधारण जीवन मे यही समझा जाता है कि श्रेय अथवा अच्छा वही है जो कि करणीय है, उचित है। फिर भी इन दोनों शब्दों के भावार्थ समझ लेना अच्छा ही रहेगा।

मान लीजिए कि मैं एक बड़े भारी आश्रम की संचालिका हूँ और आश्रम निराश्रित बहिनों का आश्रयस्थल है। किन्तु आश्रम का नियम यह है कि वहाँ क्षय-रोग से पीडित महिलाओं को नहीं रखा जायेगा। मेरे पास एक ऐसी स्त्री आश्रम मे स्थान पाने की इच्छा लेकर आती है जो कि क्षय-रोग से पीड़ित है किन्तु जिसका विश्व भर में कोई आश्रय नहीं है और जिसे किसी भी चिकित्सालय आदि संस्था मे स्थान नहीं मिल पाया है। ऐसे समय में उस स्त्री को आश्रम मे स्थान न देना मेरे लिए उचित तो है क्योंकि वह नियमानुकूल है किन्तु वह श्रेय भी है यह कहना तनिक कठिन है। अतः प्रायः उचित शब्द का प्रयोग हम नियमानुकूल होने के अर्थ में करते है। और यह सदा सर्वदा तो आवश्यक भी नहीं होता है कि वही श्रेयस्कर भी हो जो कि नियमानुकूल हो। यद्यपि इसके साथ सम्बन्धित दूसरे भी प्रश्न हैं जैसे कि नियम क्या है ? उसका आधार क्या है ? आदि आदि। फिर भी उचित में न्याय की, पूर्णतया नियमानुकूल ही चलने की भावना प्रबल है। दूसरी ओर 'श्रेय' उस कर्म की ओर संकेत करता है जो कि किसी ध्येय की ओर ले जाने में सहायक होता है। उदाहरणार्थ—मान लीजिए एक दुष्ट पुरुष किसी निर्दोष अबला के पीछे पड़ा हुआ है और वह स्त्री आपके घर में ही आश्रय लेती है। आप स्वयं इतने सशक्त नहीं है कि उस आततायी से अबला की रक्षा कर सकें। अतः उसके आपसे प्रश्न करने पर कि वह कहाँ है, यदि आप असत्य कह देते है कि आप नहीं जानते तो हो सकता है आपका यह कर्म अनुचित हो किन्तु एक अबला की रक्षा कर सकने के कारण श्रेय माना जा सके। ऐसी अवस्था में मनु भी जड़वत अथवा विक्षिप्तवत आचरण करने की व्यवस्था दे देते हैं "जानन्नपि हि मेधावीं जड़वल्लोक आचरेत्" (मनु० २. ११०) श्रीकृष्ण और भीष्म पितामह जैसे धर्मज्ञों एवं नीतिज्ञों को भी ऐसी ही व्यवस्था देनी पड़ती है। "श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्" (म० भा० कर्ण प० ६९-६१—शा० प० १०९. १५. १६.) "यदभूतहितं" अर्थात् "जिससे प्राणियों का हित हो" इस सिद्धान्त को ध्येय मानकर इस प्रकार की व्यवस्था को अथवा तदानुकूल कर्म को श्रेय तो माना जा सकता है किन्तु उचित नहीं। उदाहरण में चित्रित कर्तव्या-

कर्तव्य विवादास्पद हो सकता है किन्तु यहाँ तात्पर्य केवल इतना ही है कि श्रेय वह है जो किसी ध्येय (End) तक ले जाने में सहायक हो सके। यहाँ भी यह प्रश्न उठेगा कि वह ध्येय क्या है। उदाहरणार्थ—मानव मात्र की सेवा करना, उनसे स्नेह करना एक श्रेय-कर्म हो सकता है। क्योंकि वह उस ध्येय की ओर ले जानेवाला होता है जिसकी प्राप्ति विश्व में अनन्त सत्य एक ही है वरन् एक की परिधि में भी उसे बाँधा नहीं जा सकता है…वह अनिर्वचनीय…नेति नेति है अथवा 'सर्वं खलु इदम् ब्रह्म' 'ईशा वास्यमिदम् सर्वम्' 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि के आधार पर की जा सकती है। तात्पर्य यह हुआ कि यदि हमारा ध्येय हो ब्रह्म ज्ञान… अथवा विश्वमात्र में एक ही सत्य के दर्शन करना जिसका विभिन्न रूप विभिन्न मानव देह हैं और इस लक्ष्य की, ध्येय की प्राप्ति के लिए यदि हम साधन स्वरूप मानव मात्र को अपने स्नेह, सेवा और श्रद्धा का पात्र मानें और वैसा ही करें तो यह कर्म श्रेय होगा क्योंकि यह हमें अपने ध्येय की ओर ले जाने में सहायक होता है।

श्रेय ध्येय भी हो सकता है—साधन-मात्र ही नहीं, श्रेय ध्येय भी हो सकता है। हमारा चरित्र एवं आचरण स्वयं ध्येय को लक्ष्य करके भी चल सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि वह श्रेय जो कि ध्येय है क्या है। और इससे भी कुछ आगे बढ़कर यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि मानव जीवन का अन्तिम ध्येय अथवा आदर्श (Ultimate End) क्या होना चाहिए? क्या वह सर्वोत्तम श्रेय (Summum Bonum, Supreme Good) हो सकता है? होना तो चाहिए ही, क्योंकि मानव जीवन का आदर्श उसका अन्तिम ध्येय तो सर्वोत्तम श्रेय की प्राप्ति ही हो सकता है। हो सकता है कि उस ध्येय तक पहुँचने में जो कि 'सर्वोत्तम श्रेय' है 'उचित' का आधार लेना हमारे लिए सहायक एवं हितकर सिद्ध हो। अतः यह तो निश्चित ही है कि आचार-शास्त्र में उचित और श्रेय की व्याख्या होनी चाहिए और इनका मानव आचरण तथा मानव जीवन के ध्येय तथा आदर्श के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिए, यह भी स्पष्ट होना चाहिए। इसका यह तात्पर्य हुआ कि आचार-शास्त्र मानव जीवन से सम्बन्धित आदर्श एवं आदर्शों का अध्ययन है।

सदाचार-सम्बन्धी विज्ञान—श्रीयुत जे० सेथ (J. Seth) के विचारानुसार आचार-शास्त्र सदाचार-सम्बन्धी विज्ञान है। 'सद्' अथवा

'नैतिक' की व्याख्या कर देना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। सम्भवतः नैतिक अथवा सद् (Moral) वही है जो कि मानव कर्म में स्वभावतः व्याप्त हो, सदा सर्वदा विश्व भर में मानव कर्म से सम्बन्धित एक सा ही हो और मानवता के लिए अनिवार्य हो तथा जिसे मानव कर्म के उस प्रकार से पृथक् करके देखा जा सकता हो जो कि यद्यपि उसमें कभी कभी पाया तो जाता है किन्तु उसका स्वाभाविक अंश नहीं है। सम्भवतः तात्पर्य यही है कि जो विकृत नहीं है। (Universal and characteristic element of human activity) अर्थात् नैतिकता ही मानव कर्म के लिए उसका स्वाभाविक धर्म है। अनैतिकता उसका स्वभाव अथवा धर्म नहीं है वह तो केवल मात्र अचानक सम्बन्धित हो जानेवाला तत्त्व है।

अब यह भी आवश्यक है कि यहाँ आचार की भी व्याख्या कर दी जाय।

आचार और चरित्र—यह तो नितान्त सत्य है कि आचार व्यक्ति के चरित्र का ही क्रियात्मक रूप है। व्यक्ति वस्तुतः जो कुछ है वही हमें उसके कर्म दर्शाते हैं। अतः व्यक्ति का आचार उसके चरित्र को प्रतिभासित करता है। अथवा चरित्र का ही प्रकट रूप हमें आचार में मिलता है। मानव का अन्तर होता है उसका चरित्र और वाह्य स्वरूप होता है उसका आचार अथवा आचरण। इस व्याख्या को मानकर चलने पर यदि बहुत दूर तक चला जाय तो सम्भवतः हमें यह भी मानना पड़ेगा कि मानव का वह आचरण भी जो कि हमें उसकी विक्षिप्तावस्था अथवा अर्द्धचेतनावस्था में दिखाई देता है उसके चरित्र का बहुत कुछ आभास देता है। किन्तु उतनी दूर तक जाने की अभी आवश्यकता नहीं है। अतः नैतिक दृष्टि से तो उन्हीं कर्मों पर निर्णय दिया जा सकता है जो कि व्यक्ति अपनी चेतनावस्था में, साधारण ज्ञानावस्था में, जागृति में सोच-विचार कर करता है। सोच-विचार कर किया हुआ कर्म किसी लक्ष्य, किसी उद्देश्य को लेकर ही किया जा सकता है अतः सचेतनावस्था में उद्देश्य सहित जो कार्य किया जाता है वही आचार है। किसी उद्देश्य से जब भी कोई कार्य किया जाता है तो सम्मुख कोई न कोई ध्येय तो रहता है। और यह तो आवश्यक है नहीं कि सदा सर्वदा एक ही ध्येय सम्मुख हो अतः यह भी सम्भव है कि कर्ता को कर्म करने से पूर्व अपने सम्मुख कई एक ध्येय दिखाई दे रहे हों और उनमें से उसने अपने विवेक अथवा ज्ञान के आश्रय से किसी एक ध्येय को चुनकर अपने कर्म

का लक्ष्य बनाया हो। उस अवस्था में वही ध्येय उस कर्म का उद्देश्य हो गया हो। जब कर्ता ध्येय का चुनाव करता है तो उसने साधनों का भी चुनाव किया होगा। अतः आचार वह कर्म है जिसमें ध्येय का चुनाव, कर्म का ध्येय आदि कर्ता द्वारा चेतनावस्था में सोच-विचार कर निर्धारित किया गया हो।

आचार-शास्त्र एक प्रयत्न—श्रीयुत ए० के० रोजरस (A.K. Rogers) के मतानुसार आचार-शास्त्र, जीवन की सफलता की नींव जिन सिद्धान्तों पर रखी जा सकती है, जो आचार की तत्कालीन आवश्यकताओं के आधार हैं उन्हे समय से पूर्व समझ लेने की दिशा में एक प्रयत्न है। आचार के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही पक्ष है। सकारात्मक पक्ष यह जानने का प्रयत्न है कि हमें क्या करना चाहिए और नकारात्मक पक्ष यह बताता है कि हमें क्या नहीं करना चाहिए। इन्हीं दोनों पक्षों से मिलकर आचार की सृष्टि होती है। अतः हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए; आचार-शास्त्र का सम्बन्ध इन दोनों ही प्रश्नों से घनिष्ठ है।

ध्येय के मूल्यांकन कर सकनेवाले सिद्धान्तों की खोज—श्रीयुत आर० ए० पी० रोजरस (R. A. P. Rogers) आचारशास्त्र को वह विज्ञान मानते हैं जो कि उन सिद्धान्तों की खोज करता है जिनके द्वारा मानव के आचरण के अन्तिम ध्येय का ठीक ठीक एवं सत्य मूल्यांकन किया जा सके। ऐसा हुए बिना किसी भी कर्म पर कोई नैतिक निर्णय तो ठीक ठीक दिया ही नहीं जा सकता है। अतः उन सिद्धान्तों की अत्यधिक आवश्यकता है जो कि मानव आचार, उसके व्यवहार के अन्तिम ध्येय का उचित एवं सत्य मूल्यांकन करा सके। वस्तुतः इन सिद्धान्तों के बिना आचार-शास्त्र चल ही नहीं सकता है। अतः इन्हीं सिद्धान्तों की खोज करना आचार-शास्त्र का कार्य है।

मानव के नैतिक जीवन के क्रियात्मक रूप का सैद्धान्तिक अध्ययन—अतः इतना तो निश्चित ही जान पड़ता है कि आचार-शास्त्र का सम्बन्ध मानव के चरित्र और आचरण दोनों से ही है। इस प्रकार वह मानव चरित्र एवं आचरण (Chara ter, Conduct) सम्बन्धी विज्ञान हुआ। चरित्र प्रायः मानव के सैद्धान्तिक जीवन का प्रतीक है जब कि आचरण उसके क्रियात्मक जीवन का नाम है। इसी दृष्टि से श्रीयुत सिजविक आचार-शास्त्र को मानव के नैतिक जीवन के क्रियात्मक रूप

का सैद्धांतिक अध्ययन मानते हैं। उनके मतानुसार आचार-शास्त्र 'हमें क्या करना चाहिए' का ही अध्ययन है किन्तु यह केवल उन्हीं कर्मों का अध्ययन है जो कि हम अर्थात् व्यक्ति जान बूझ कर करते हैं। वस्तुतः अचेतनावस्था में, विक्षिप्तावस्था में किया हुआ कर्म नैतिक निर्णय की सीमाओं के भीतर नहीं आता है। यही कारण है कि साधारण जीवन में भी हम विक्षिप्त व्यक्ति को उन्हीं कार्यों के लिए दोषी नहीं ठहराते हैं जिनके लिए अन्य व्यक्तियों को दोषी ठहराते हैं। अतः आचार-शास्त्र के अन्तर्गत नैतिक निर्णय की वस्तु होने के लिए कर्मों का स्वेच्छा से, चेतनावस्था में किया जाना आवश्यक है। स्वेच्छा के प्रश्न को लेकर तो हम यथास्थान कुछ अधिक गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे किन्तु यहाँ भी इतना देख लेना तो आवश्यक ही है कि स्वेच्छा से किये गये कर्म का ही उत्तरदायित्व कर्ता पर हो सकता है। यों तो 'स्वेच्छा' का भी अर्थ खोजना पड़ेगा तथा यह भी देखना होगा कि मनुष्य कहाँ तक स्व-इच्छा से कार्य कर सकता है तथा उसकी इस दिशा मे सीमाएँ क्या क्या है? वस्तुतः उसका कर्म-सम्बन्धी दायित्व तो इसी पर आश्रित है कि वह कहाँ तक कर्म करने में स्वतन्त्र है तथा उसका 'स्व' ही कहाँ तक अन्य तत्त्वों एवं प्रभावों से स्वतन्त्र निर्मित हो पाता है। इन सब समस्याओं की चर्चा करने तथा किसी निष्कर्ष तक पहुँचने के पूर्व भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि स्वेच्छा से किये गये कर्म ही आचार-शास्त्र के अन्तर्गत नैतिक निर्णय के विषय हो सकते हैं।

'उचित' और 'श्रेय' को समझने का प्रयत्न

आचार-शास्त्र का सम्बन्ध मानव के जीवन से है और सम्भवतः सम्पूर्ण जीवन से है। ऐसी अवस्था मे तत्त्वज्ञान, दर्शन एवं आचार शास्त्र के विद्यार्थियों को इन सब का अर्थ, तात्पर्य धीरे धीरे ही खोजना, समझना होता है। जीवन को जीवित रहकर ही जाना, पहचाना, समझा जा सकता है। अतः इस प्रकार के ज्ञान को किसी भी परिभाषा-विशेष में बाँध देना उचित नहीं जान पड़ता है। और इस दिशा में किये गये प्रयत्न पूर्ण भी नहीं कहे जा सकते है। ऐसा श्रीयुत रैशडाल (Rashdall) का मत है। हमें इस सत्य को किसी सीमा तक तो मानना ही पड़ता है। वस्तुतः जीवन एक प्रवाह है और उसे, उसके किसी भी अंश को, तत्सम्बन्धी ज्ञान, विज्ञान एवं सिद्धान्तों को एकबारगी परिभाषा की सीमाओं मे पूर्णरूपेण बाँध देना सम्भव भी नहीं है। अतः श्रीयुत रैशडाल ने यह

स्पष्ट कर दिया है कि वह किसी एक निश्चित परिभाषा देने का प्रयत्न न करके प्रयत्न कर रहे हैं आचार शास्त्र के उद्देश्यों को स्पष्ट करने का जो कि उनके विचारानुसार 'उचित' और 'श्रेय' शब्दों के अर्थ तथा प्रयोग जानने-समझने की दिशा में एक खोज है। इन शब्दों का अर्थ, तात्पर्य एवं प्रयोग हम मानव आचरण के साथ साथ इनके होनेवाले प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए ही जानना, खोजना चाहते हैं। और ऐसा करने का एक उद्देश्य है। वह है इनका अधिकाधिक स्पष्ट, निश्चित एवं साधारणतया ठीक अर्थ एवं प्रयोग जानना। ऐसे करने की हमें आवश्यकता भी तो है। साधारणतया हम अनेकों बार मानव आचरण को लेकर नैतिक निर्णय देते हैं। ऐसे निर्णय देते समय हम प्रायः 'उचित' 'अनुचित' 'श्रेय' एवं 'अश्रेय' शब्दों का प्रयोग करते हैं। किन्तु सदा सर्वदा उनका प्रयोग एक ही ढंग से और ठीक ही होता हो, ऐसी बात नहीं है। अतः इस प्रकार की खोज जो कि इन शब्दों के तात्पर्य और अर्थ हमारे निकट अधिकाधिक स्पष्ट कर दे अत्यन्त आवश्यक है। दूसरी बात यह भी है कि कर्म-विशेष से सम्बन्धित अर्थ और प्रयोग जानना तो आचार-शास्त्र का उद्देश्य है नहीं। आचार-शास्त्र को तो वह अर्थ और प्रयोग देखना है जो कि किसी कर्म-विशेष से ही सम्बन्धित न होकर साधारणतया उसी प्रकार के सब ही कर्मों मे लागू हो सकें अर्थात् स्पष्ट साधारण और सर्वकालीन भी हों। अतः इतना तो स्पष्ट हो ही गया कि आचार-शास्त्र वह शास्त्र अथवा विज्ञान है जो कि मानव-चरित्र एवं आचरण से सम्बन्धित अथवा उनके साथ प्रयोग में लाये जानेवाले 'उचित' और 'अनुचित' 'श्रेय' एंव 'अश्रेय' शब्दों का अर्थ एवं तात्पर्य खोजता है तथा उनका मानव-चरित्र एवं आचरण से क्या सम्बन्ध होना चाहिए, यह भी देखता है तथा 'उचित' और 'श्रेय' का पारस्परिक सम्बन्ध भी खोजने की चेष्टा करता है।

हमें क्या करना चाहिए का उत्तर आचार शास्त्र—श्रीयुत हार्टमैन Hartman) ने तो आचार-शस्त्र को तीन आधारशिला स्वरूप मानव जीवन सम्बन्धी प्रश्नों में से द्वितीय का उत्तर माना है। ये तीन प्रश्न हैं :

(१) हम क्या जान सकते हैं ?
(२) हमें क्या करना चाहिए ?
(३) हम किसके लिए अथवा क्या आशा कर सकते है ?

आचार-शास्त्र का सम्बन्ध तो द्वितीय प्रश्न और उसके उत्तर से है

अर्थात् आचार-शास्त्र इस प्रश्न के उत्तर की खोज करता है कि हमें क्या करना चाहिए ? किन्तु वह उन कर्मों की सूची नहीं तैयार करता है जो कि करने योग्य है अर्थात् यह शास्त्र न तो 'क्या' की परिभाषा ही करता है और न क्या के उत्तर में एक सूची ही उपस्थित कर देता है वरन् उन सिद्धान्तों, विचारों एवं उच्च नैतिक स्तर के आधारों की खोज करता है जो कि मानव को 'हमें क्या करना चाहिए', का उत्तर खोज करने में समर्थ बना सके।

यदि आचार-शास्त्र अथवा कोई भी गुरु मानव को करणीय कर्मों की एक सूची बनाकर दे देता और मनुष्य उसी पर पग धरता चुपचाप जीवन पथ पर चलता ही चला जाता बिना किसी शंका के, बिना हिचकिचाहट के तो फिर वह 'नैतिकता' के अर्थ भी संभवतः नहीं समझ पाता। कर्म तो प्राकृतिक शक्तियाँ भी करती हैं किन्तु उनके कर्म नैतिक अथवा अनैतिक नहीं कहे जा सकते हैं। वस्तुतः वह तो नैतिक निर्णय की सीमाओं से बहुत परे है। अतः नैतिक निर्णय तो चेतन स्वेच्छा से किये गये कर्म पर ही दिया जा सकता है। और वैसा कर पाने के लिए अपना पथ स्वयं खोजना भी तो आवश्यक है। पथ की खोज में ध्येय स्पष्ट न होने के कारण अथवा अन्य कारणों से कठिनाई हो सकती है। यहाँ तक कि कभी पथभ्रष्ट होने का भी भय हो जाता है जैसा कि अर्जुन को हुआ था। किन्तु वहाँ भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पथ की ओर संकेत ही किया; हाथ पकड़ कर, खींच घसीट कर पथ पर ले नहीं गये। उचित और अनुचित की व्याख्या करके उन्होंने फिर अन्त में अर्जुन से यही कहा कि जैसी तेरी इच्छा हो वैसा ही कर। अतः नैतिकता का सबसे बड़ा आधार है मानव का स्वयं अपना पथ खोज सकना, उसका अनुचित करने की सामर्थ्य होते हुए भी उचित का चयन करना, उचित ही करना···अशिव की, अश्रेय की ओर बढ़ सकने की शक्ति होते हुए भी शिव की, श्रेय की खोज करना, और उसी ओर बढ़ना। यह न होने पर 'नैतिकता' मूक हो जाती है। अतः आचार-शास्त्र वह ज्ञान है जो कि मानव को उसके कर्तव्य का ज्ञान कराता है। यह बताता है कि उसे क्या करना चाहिए, उसके लिए क्या करना उचित है, श्रेय है। और वहाँ भी उचित, श्रेय कर्म खोज कर नहीं देता वरन् मानव के स्वेच्छा से किये गये आचरण और उसके भी जनक चरित्र से सम्बन्धित 'उचित' और 'श्रेय' की खोज करता है। उनके आधारों को, तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों को स्पष्ट करता है। उन्हीं को लेकर मानव अपना पथ खोज सकता है। उन्हीं को लेकर वह अपने और दूसरों के कर्मों पर नैतिक निर्णय दे सकता है।

यह तो हुई आचार-शास्त्र की परिभाषा अर्थात् इस प्रश्न का उत्तर कि आचार-शास्त्र क्या है? अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि आचार सम्बन्धी ज्ञान विज्ञान है अथवा कला? इस प्रश्न के उठने के कारण हैं। यह एक ऐसा ज्ञान है जिसका सम्बन्ध यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से तो सिद्धान्तों से ही है किन्तु परोक्ष रूप से तो वह सिद्धान्त क्रियात्मक जीवन को प्रेरणा देने और गति देने के ही लिए है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि इस ज्ञान का स्वरूप क्या है, कैसा है। यह ज्ञान केवल मात्र सैद्धान्तिक ज्ञान है अथवा क्रियात्मक भी अथवा केवल मात्र क्रियात्मक? ये सब प्रश्न आचार-शास्त्र एवं आचार सम्बन्धी ज्ञान की चर्चा में अपना स्थान रखते हैं। अतः इनकी यहाँ चर्चा कर देना आवश्यक है। इससे इस शास्त्र का अन्य शास्त्रों के साथ सम्बन्ध निश्चित करने में भी सहायता प्राप्त होगी जो कि आवश्यक है।

अध्याय ३—(१)

आचार-शास्त्र का विषय एवं स्वरूप

विज्ञान, तथ्यों के संग्रह, वर्गीकरण और आलोचनात्म अध्ययन करने को कहते हैं।—आचार-शास्त्र विज्ञान है अथ कला ? इस प्रश्न का उत्तर खोजने से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है ि हम विज्ञान की एक साधारण-सी परिभाषा कर देखें। विज्ञान सत्य क खोज करता है और ऐसा करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है ि सर्वप्रथम तो वह तथ्यों (Facts) का संग्रह करे और फिर उन तथ्यों सम्बन्धित कारणों और कार्यों का विश्लेषण करे। इस प्रकार के कार और कार्यों को श्रेणीबद्ध (Classified) कर उन साधारण निय की खोज करे जिनके आधार पर कोई एक कारण-विशेष किसी एक क विशेष से सम्बन्धित होता है। तत्पश्चात् उन सबके आधार पर खो करके नवीन निष्कर्षों एवं सिद्धान्तों तक पहुँचने का प्रयत्न किया जा है। वस्तुतः प्रकृति के आँचल में छिपे हुये उसके सब ही कार्यों की नं में दृढ़ता से अपना स्थान रखनेवाले सिद्धान्तों की खोज, उन्हें प्रकाश लाना ही किसी भी विज्ञान का अत्यावश्यक कार्य है। यही कार्य उ अन्य ज्ञानादि से भिन्न करता है। प्रायः सब ही विज्ञान यही कार्य क हैं जैसे कि रासायन-विज्ञान विभिन्न रसायनों के प्रभावों से सम्बन्धित तथ का संग्रह करता है, उन्हें श्रेणियों में सजाकर यह देखता है कि वि नियमों के आधार पर किन कारणों के कौन से परिणाम-कार्य होते हैं फिर इन कारण-कार्य सम्बन्धों को लेकर परीक्षणों द्वारा उन साधार नियमों का स्पष्टीकरण करता है जिनके आधार पर यह सम्बन्ध चलते हैं रसायन-विज्ञान का महत्त्व ही यही है कि उसमें ज्ञात नियमों के आध पर ही कारणों एवं कार्यों के परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता और ऐसे ही नियमों की खोज भी की जाती है जिनके आधार रसायन अपना प्रभाव स्पष्ट करते हैं अथवा जिनके आधार पर का

कार्य सम्बन्धित तथ्य स्पष्ट करके रसायन जगत के विभिन्न कार्यों को समझा जा सकता है। यही बात अन्य विज्ञानों के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

जो हो, इतना तो हम इस समय मान लेते है कि विज्ञान के मुख्य कार्य हैं तथ्यों का संग्रह करना, उन्हे श्रेणीबद्ध करके उनका कारण-कार्य सम्बन्ध देखते हुए परीक्षणादि के आधार पर विशेष अध्ययन करना और उस अध्ययन के फलस्वरूप निष्कर्ष रूप में उन साधारण नियमों की खोज करना जिनके आधार पर उन तथ्यों को समझा जा सकता है, उनका कारण-कार्य सम्बन्ध चलता है और इस प्रकार सत्य तक पहुँचना।

क्या आचार-शास्त्र विज्ञान है?—अब प्रश्न यह है कि क्या आचार-शास्त्र इन कामों को कर सकता है? अथवा क्या आचार शास्त्र विज्ञान है? आचार शास्त्र आचरण सम्बन्धी तथ्यों का संग्रह कर सकता है। उन्हे श्रेणीबद्ध करके उनका कार्य कारण आधार पर अध्ययन भी कर सकता है किन्तु उस अवस्था मे सम्भवतः यह भी मानना पड़ेगा कि मानव आचरण और चरित्र कुछ एक कारणों द्वारा उत्पन्न फल ही है। इसका यह अर्थ हुआ कि मानव के सब ही आचरणों के कारण खोजे जा सकते है और उन्हीं कारणों की परिभाषा, व्याख्या करके तथा उनके कार्य—कारण सम्बन्धों का अध्ययन, विश्लेषण करके कुछ एक उन साधारण नियमों तक पहुँचा जा सकता है जिन्हे कि हम चरित्र-निर्माण अथवा आचरण आधार नियम कह सकते है। तब तो फिर भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान आदि की भाँति किसी समय में यह भी कहना सम्भव हो सकेगा कि इस प्रकार के कारणों से नियमानुसार इस ढंग के ही चरित्र एवं आचरण उत्पन्न होंगे। किन्तु ऐसा कहने का यह तात्पर्य होगा कि मानव चरित्र एवं आचरण उसकी अपनी इच्छा के अधीन न रहकर मान लिया जायेगा प्रकृति की ही भाँति सर्वदा कुछ एक नियमों के अधीन, जिनका कि आधार होगा कार्य कारण एवं तत्सम्बन्धी नियम। किन्तु हम इसके पूर्व देख चुके है कि आचार शास्त्र का आधार, उसका महत्त्व है मानव की पथ की खोज करने की स्वतन्त्रता, उसकी स्वेच्छा। मानव स्वेच्छा के न रहने पर तो आचार शास्त्र एवं नैतिक निर्णय व्यर्थ ही हो जायेगे। यहीं तो आचार-शास्त्र और शास्त्रों से भिन्न है। प्रकृति के नियम स्थिर है, एक रस है और है विश्वव्यापी किन्तु आचार शास्त्र के नियम सर्वथा ऐसे ही हों, ऐसी बात नहीं है। मानव में आचार सम्बन्धी अपने ही बनाये हुए नियमों पर न चलने की जो शक्ति है...

खोज करने, चयन करने की उसे जो स्वतन्त्रता है वही तो नैतिकता की आधार-शिला है। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि आचार-शास्त्र विज्ञान नहीं हो सकता। यद्यपि आचरण-सम्बन्धी नियमादि स्थिर और सदा सर्वदा एक ही ढंग के नहीं माने जा सकते हैं फिर भी यह तो सम्भव ही है कि एक-सी परिस्थितियों में एक ही सा आचरण हो सके। आचार-शास्त्र तथ्य-संग्रह करके उनके सम्बन्ध में साधारण, व्यापक नियमों की खोज कर सके। यहाँ पर भी वही प्रश्न उपस्थित हो जायेगा कि इस प्रकार के नियमों की खोज क्या मानव की स्वेच्छा पर कुठाराघात नहीं करेगी? वस्तुतः कठिनाई यह है कि यद्यपि आचरण सम्बन्धी तथ्यों का भी अध्ययन किया जा सकता है किन्तु इनके अध्ययन का आधार "है ही" न होकर "होना चाहिए" है जबकि अन्य प्राकृतिक विज्ञानों का विषय उन तथ्यों से सम्बन्धित है जो कि "है ही" के अन्तर्गत आते है। आचार-शास्त्र का उद्देश्य यह देखना नहीं है कि मानव-आचरण कैसे है? उनके कारण क्या हैं? वे कार्य काल स्थान की सीमाओं को लिये दिये किस प्रकार हुए? अर्थात् आचार शास्त्र घटनाओं के रूप में आचरण का अध्ययन नहीं करता है। आचार शास्त्र आचरण को एक उस तथ्य के अथवा घटना के रूप में नहीं देखता है जो कि किसी एक कारण के परिणाम स्वरूप एक समय में एक स्थान पर घटी है और जिसके कुछ निश्चित फल भविष्य में दिखाई देंगे। जब कि प्राकृतिक विज्ञान तथ्यों का अध्ययन इसी दृष्टिकोण को लेकर करते है। उनके लिए तथ्य घटनाएँ—प्राकृतिक घटनाएँ होती हैं जिनका कारण कार्य आदि सम्बन्ध को लेकर अध्ययन किया जाता है। आचार-शास्त्र ऐसा नहीं कर पाता क्योंकि उसका सम्बन्ध घटनाओं के घटने मात्र से नहीं है वरन् उसका सम्बन्ध है उन पर दिये जानेवाले नैतिक निर्णय से। 'कोई कार्य हुआ' इतना ही आचार शास्त्र का विषय नहीं है उसका विषय तो है कार्य उचित हुआ अथवा अनुचित, श्रेय अथवा अश्रेय। अतः उस पर वही साधारण दृष्टिकोण लागू नहीं हो सकता है जो कि उन विज्ञानों पर लागू होता है जो कि तथ्यों के, घटनाओं के घटने मात्र से ही सम्बन्धित हैं। कुछ एक अन्य विज्ञानों के निर्णय तथ्यों के विषय में दिये जाते हैं किन्तु आचार-शास्त्र अपने नैतिक निर्णय तथ्यों पर देते है उनके सम्बन्ध में नहीं।

आचार-शास्त्र विचार प्रधान विज्ञान है।—इसी आधार पर विज्ञान दो प्रकार के हो जाते हैं प्राकृतिक विज्ञान (Natural or Positive

science) और विचार-प्रधान विज्ञान (Normative science)। आचार-शास्त्र प्राकृतिक-विज्ञान नहीं है क्योंकि एक ओर तो इसका सम्बन्ध तथ्यों के होने मात्र से ही नहीं है और दूसरी ओर यह तथ्यों के निर्णय अथवा तथ्य-सम्बन्धी निर्णय न देकर, देता है तथ्यों पर निर्णय···उनके उचित-अनुचित, श्रेय-अश्रेय होने के सम्बन्ध में। अतः इसे विचार-प्रधान विज्ञान ही माना जा सकता है। प्राकृतिक विज्ञान तो तथ्यों के सम्बन्ध में अपनी वैज्ञानिक व्याख्या देता है किन्तु आचार शास्त्र अथवा कोई भी विचार-प्रधान विज्ञान उनका वैज्ञानिक ढंग से मूल्यांकन (Systematized Valuing) करता है, यह बताता है कि क्या होना चाहिए। इसका यह तात्पर्य है कि जब कि प्राकृतिक विज्ञानों का उद्देश्य होता है कारण-कार्य सम्बन्ध की खोज करना, उसी का अध्ययन करना विचार-प्रधान-विज्ञान का उद्देश्य कारण की ओर इंगित न करके होता है उस कार्य के उद्देश्य, लक्ष्य एवं ध्येय की खोज करना। आचार शास्त्र कार्यों के कारणों की खोज न करके करता है उनके उद्देश्यों की, ध्येय की खोज अतः यह प्राकृतिक विज्ञान न होकर विचार-प्रधान-विज्ञान है। उसे तो उचित और अनुचित, श्रेय और अश्रेय का स्तर, आधार एवं तत्सम्बन्धी विचारों की खोज करना पड़ता है। इसी श्रेणी के अन्तर्गत तर्क-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र आदि भी आते हैं।

हम देख ही चुके है कि विज्ञान का कार्य है तथ्यों का संग्रह और फिर उनका ठीक ठीक निरीक्षण तथा वर्णन करना। तत्पश्चात् उन्हें श्रेणियों में विभक्त करके, उनका वर्गीकरण करके उनकी व्याख्या करना। आचार शास्त्र यह कार्य करता है। वह सब ही प्रकार के नैतिक नियमों का संग्रह करता है और फिर उनका ठीक ठीक निरीक्षण करके उन्हें विभिन्न श्रेणियों मे रखता है। इस प्रकार रखने के आधार सम्बन्धी तर्क भी होते हैं और उनकी व्याख्या भी करता है। वह उन निर्णयों का परस्पर सम्बन्ध भी देखता है। अतः वह अपने ढंग का विज्ञान ही है।

आचार-शास्त्र क्या कला-कौशल (A r t) है—कला-कौशल तो उसे कहा ही नहीं जा सकता है क्योंकि वह किसी प्रकार का कौशल नहीं है। 'श्रेयत्व' कोई शक्ति नहीं है, कोई कौशल नहीं है। प्रत्येक मनुष्य श्रेय अथवा उचिन कर्म कर सकता है, करने की शक्ति रखता है किन्तु केवल इतने से ही वह श्रेय व्यक्ति नहीं कहलाया जा सकता है, उसका चरित्र एवं आचरण नैतिक नहीं कहा जा सकता है। आचरण का

श्रेयत्व 'कर सकने' में निहित नहीं है वरन् है 'करने में'। संसार में बहुत से मनुष्य शिव कर्म करने की क्षमता रखते हैं किन्तु वही अच्छे व्यक्ति हो सकते हैं जो सदा सर्वदा स्वाभाविक रूप से शिव कर्म ही करते हों। अतः श्रेयत्व, शिवत्व मानव की इच्छा के शिव कर्म चयन करने में ही निहित है। अतः आचार-शास्त्र को कला-कौशल नहीं कहा जा सकता है जो कि सीखने मात्र से ही आ जाये अथवा जिसे एक बार सीख कर ही उस पर सदा सर्वदा के लिए अधिकार किया जा सके।

आचार-शास्त्र क्या क्रियात्मक विज्ञान है ?—इस प्रश्न का एक उत्तर तो श्रीयुत मैकञ्जी के ढग पर यह दिया जा सकता है कि आचार-शास्त्र यद्यपि कर्म से ही सम्बन्धित सिद्धान्त (Theory of action) है किन्तु उसका क्रियात्मक रूप (Theory of practice) नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इंजीनियरिंग आदि की भाँति आचार-शास्त्र को जीवन के क्रियात्मक अंगों से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित नही किया जा सकता है। और आचार-शास्त्र का उद्देश्य भी शिव आचरणों की एक ऐसी सूची तैयार कर देना नहीं है जो कि एक बारगी निश्चित है। दूसरी ओर यह भी विचारणीय है कि विश्व भर के सन्त आचार-शास्त्र का अध्ययन करके ही सन्त बने हों, ऐसी बात नहीं है। अतः आचार-शास्त्र चरित्र एवं आचरण से सम्बन्धित उचित-अनुचित की, औचित्य एवं श्रेयत्व की व्याख्या तो कर देता है किन्तु उसका कर्म उस पर कार्य करनेवाले व्यक्तियों की सृष्टि करना नहीं है। अतः आचार-शास्त्र का सम्बन्ध कर्म से सम्बन्धित सिद्धान्तों से ही है, उन्हीं पर उचित ढंग से, वैज्ञानिक रीति से विचार करना है।

आचार-शास्त्र सैद्धान्तिक भी है और क्रियात्मक भी—कुछ एक विद्वानों का यह भी विचार है कि आचार-शास्त्र सैद्धान्तिक भी है और क्रियात्मक भी। श्रीयुत सेथ इसी मत क समर्थक है। किसी भी विज्ञान का क्रियात्मक रूप उसके सैद्धान्तिक रूप से पूर्व ही दृष्टिगोचर होता है। और क्रियात्मक रूप के विना सैद्धान्तिक रूप की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? भौतिक विज्ञान अथवा रसायन विज्ञान मे भी मानव ने पहले प्रकृतिक नियमों के द्वारा कार्य होते देखे थे। तत्पश्चात् उन्हें अध्ययन का विषय बनाकर उन नियमों की खोज की जिनके आधार पर वह कार्य हो रहे थे और तब वह कहलाया भौतिक विज्ञान अथवा रसायन विज्ञान। अतः उचित और श्रेय आधार रूप से तो आचार-शास्त्र

का जन्म होने से कहीं पूर्व से ही मानव द्वारा बिना विचार किये हुए ही स्वीकृत होते चले आये होंगे । मानव आचार-शास्त्र के पूर्व भी नैतिक निर्णय देता ही रहा है अत: उस विज्ञान अथवा शास्त्र को जिसका सम्बन्ध मानव-जीवन और मानव के आचरण से हो क्रियात्मक कहना ही उचित जान पड़ता है ।

वस्तुत: सिद्धान्त भी तो किसी मानव के निजी अनुभवों पर ही आधारित होते है । और सब ही ज्ञान-विज्ञानों की भाँति आचार शास्त्र भी मानव के वर्षों तक आचरण करने के पश्चात्, उस आचरण पर नैतिक निर्णय देने के पश्चात ही, सैद्धान्तिक रूप ले सका होगा । अत: आचरण का क्रियात्मक रूप उसके सैद्धान्तिक रूप में आने से पूर्व भी होगा ही । इसके अतिरिक्त आचार शास्त्र को क्रियात्मक रूप से सैद्धान्तिक रूप तक ले जाने की मानव को आवश्यकता भी पड़ी । आदि काल में तो आचरण का आधार मानव के नैसर्गिक संस्कार मात्र (Instincts) ही रहे होंगे । साधारणतया उसने श्रेय का अर्थ उपयोगी अथवा हानिरहित अथवा लाभप्रद ही समझा होगा । किन्तु सदा मानव की स्थिति ऐसी ही तो रही नहीं । वह धीरे धीरे अधिक सभ्य और सुसंस्कृत होता गया । सभ्यता और संस्कृति की उन्नति ने मानव की मानसिक उन्नति भी की । साथ ही साथ उसकी 'श्रेय' और 'उचित' की परिभाषाएँ, उनके तात्पर्य भी परिवर्तित होते गये । अब यह स्वाभाविक था कि मानव की नैतिक भावनाओं में भी विरोधाभास दीख पड़े । इस प्रकार की विरोधी नैतिक भावनाओं, विभिन्न नैतिक नियमों, विभिन्न नैतिक आलोचनाओं तथा उन अन्तर्द्वन्द्वों ने जिनका प्रादुर्भाव मानव के क्रियात्मक आचरण में हो गया था मानव को क्रिया से तत्सम्बन्धी विचारों की ओर मोड़ा । और फिर मानव को सैद्धान्तिक आचार शास्त्र की आवश्यकता पड़ी । अत: यह दोनों पक्ष साथ ही चल सकते है । साधारण जीवन में भी सिद्धान्त अथवा विचार के बिना क्रिया और क्रिया के बिना विचार अधूरे और व्यर्थ से ही रह जाते है । क्रिया तो वस्तुत: विचारों के बिना हो ही नहीं सकती । विशेषतया मनुष्य जो कुछ भी जान-बूझकर सोच-समझकर करता है वह किन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर ही तो करता है । दोनों का साथ रहना आवश्यक ही होता है । वस्तुत: आचार शास्त्र का तो कार्य ही यही है कि मानव-जीवन के क्रियात्मक रूप को सैद्धान्तिक ढंग से देख-भाल सके, उस पर विचार कर सके । सम्भवत: इसी भावना और दृष्टि को रखते हुए सुकरात ने ज्ञान को ही नैतिक गुण (Virtue) कहा था ।

ज्ञान अथवा बुद्धि-विचार एवं विवेक के न होने से तो उचित कर्म भी नहीं किया जा सकता है। अतः उचित-अनुचित के विवेक की अर्थात् सैद्धान्तिक धरातल की आवश्यकता तो मनुष्य को उचित कार्य कर पाने के लिए होगी ही। मोहान्ध अर्जुन को उचित कर्तव्य कर पाने के लिए उपदेश, विचार और विवेक की आवश्यकता पड़ी ही थी। क्या उचित है और क्या अनुचित है? मेरे लिए इन परिस्थितियों में क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है? ये प्रश्न कर्मठ अर्जुन के सम्मुख विकट रूप से आ ही खड़े हुए थे और अर्जुन को ऐसे समय में कहना ही पड़ा था "न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।" (हम जय प्राप्त करें या हमें वे लोग जीत लें—मुझे इस समय नहीं जान पड़ता है कि इन दोनों में से क्या श्रेय है। गी० २.६) ऐसे ही समय पर स्वभाव रूप बन नैतिक विश्वासों अथवा विवेक की मानव को आवश्यकता होती है। और विवेक ज्ञान मानव के नैतिक जीवन का एक आवश्यक अंग है। उचित-अनुचित, श्रेय-अश्रेय सम्बन्धी विवेक यदि मानव के भीतर उत्पन्न हो जाय तो उसके सब ही कर्म उचित और श्रेय होंगे ही। और इस प्रकार का विवेक ज्ञान आचार शास्त्र के द्वारा विकसित किया जा सकता है। सम्भवतः इसी कारण से नित्यानित्य वस्तु विवेक को मोक्ष के लिए सोपान स्वरूप साधनों में से एक माना गया है।

आचार तो आदर्श को लक्ष्य मे रखकर चलता है। अतः वह आदर्श की ओर दृष्टि रख के वास्तविकता को आदर्श तक ले जाने में सहायक होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि क्रिया जो कि वास्तविक है, आदर्श अर्थात् सिद्धान्तों की ओर आचार शास्त्र द्वारा ले जाई जा सकती है। आचार शास्त्र केवलमात्र वौद्धिक अखाड़े में तर्क-वितर्क मात्र ही तो है नहीं, वह तो है सत्य की, शिव की, श्रेय की खोज और उसको ग्रहण कर पाने के वौद्धिक प्रयत्न, जिनका फल आवश्यक रूप से यही हो सकता है कि उन्हे कार्यरूप में भी लाया जाये। यह सब देख-सुनकर यही कहा जा सकता है कि आचार शास्त्र के पंडित यद्यपि सैद्धान्तिक नैतिकता को लेकर चलते है तथापि उसका लक्ष्य क्रियात्मक नैतिकता ही होता है क्योंकि सत्य की खोज, श्रेय की खोज, उसकी प्राप्ति की ओर ही तो ले जानेवाली होती है। अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि आचार शास्त्र न तो केवल सैद्धान्तिक ही है और न क्रियात्मक ही वरन् वह दोनों ही पक्षों को लेकर चलता है। उसका प्रत्यक्ष लक्ष्य तो सैद्धान्तिक ही होता

है किन्तु परोक्ष प्रभाव क्रियात्मक जीवन पर भी पड़ता है। इस दृष्टि से इसे जीवन का नैतिक दर्शन भी कहा जा सकता है।

आचार-शास्त्र का विस्तार, मानव का सम्पूर्ण जीवन—

यह तो हम देख ही चुके है कि आचार-शास्त्र का सम्बन्ध मानव-चरित्र एवं मानवाचरण से है। मानव का चरित्र और उसका आचरण यही मानव का लगभग सम्पूर्ण जीवन है। मानव का आचरण ही तो उसके वाह्य जगत् के कार्य-कलाप हैं और उसका अन्तर ही कहलाता है चरित्र। अतः आचार शास्त्र मानव के सम्पूर्ण जीवन को लेकर चलता है। किन्तु अन्य सब ही ज्ञान-विज्ञान, शास्त्रादिक भी तो मानव-जीवन से ही सम्बन्धित होते हैं, मानव जीवन को ही तो लेकर चलते है फिर आचार शास्त्र में और उनमें भेद क्यों है? यह प्रश्न विचारणीय है। प्राकृतिक विज्ञानों और आचार शास्त्र में भिन्नता है। यह भी हम देख चुके है कि इस भिन्नता का एक आधार यह है कि प्रायः प्राकृतिक विज्ञान तथ्यों का अध्ययन करते है, और वह अध्ययन भी उनके 'घटना' रूप में काल और स्थान, कारण और कार्य को लेकर करते है। आचार शास्त्र तथ्यों अथवा घटनाओं का अध्ययन नहीं करता वरन् उनके सम्बन्ध में दिये गये नैतिक निर्णयों का अध्ययन करता है। अतः यह तो स्पष्ट ही हो गया कि आचार शास्त्र यह मान कर चलता है कि विश्व में कोई सत्य, चिरन्तन सत्य है जिसके आधार पर नैतिक नियमादि बनते हैं जिन्हें कि उचित और 'श्रेय' कहकर नैतिक निर्णय के रूप में कर्मों से सम्बन्धित करके घोषित किया जाता है। यह नियम प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्धित नियमों से सर्वथा भिन्न होते हैं और इस दृष्टि से भिन्न होते हैं कि इनके आधार पर घोषित किये गये नैतिक निर्णय मानवीय शक्ति से परे नहीं होते। प्राकृतिक विज्ञान जिन नियमों की खोज करते है वे मानव-शक्ति द्वारा संचालित नियमादि नहीं होते है, मानव की चेतना ने उनका निर्माण किया हो ऐसी बात भी नहीं होती है किन्तु आचार शास्त्र के अन्तर्गत दिये गये नैतिक निर्णय भले ही वह स्वयं अपने कार्यों पर दिये गये हों अथवा औरों के कर्मों पर; मानव स्वयं जान-बूझकर सोच-समझकर ही घोषित करता है। इस दृष्टि से वह प्रकृति के आधीन न रहकर, उसके नियमों का दास-मात्र न रहकर एक ऐसा चेतन प्राणी होता है जो कि प्रकृति के नियमों को चेतनावस्था में लेकर चलनेवाला होता है। अतः उसका विषय विस्तार मानव का सम्पूर्ण जीवन है किन्तु उस जीवन का एक विशेष दृष्टिकोण है। यों तो और भी बहुत से ज्ञान-विज्ञान एवं शास्त्रादि मानव जीवन से सम्बन्धित

है, प्राय: प्राकृतिक विज्ञानेतर सब ही ज्ञानादि, शास्त्रादि मानव जीवन का समूचा क्षेत्र अपने विस्तार-क्षेत्र मे ले लेते है किन्तु आचार शास्त्र तो मानव जीवन के आचार व्यवहार को ही लेकर चलता है और वह भी 'चाहिए' के विचार को लेकर। आचरण की सब ही रेखाओं, झाँकियों आदि को आचार शास्त्र इस दृष्टि से देखता है कि वह कैसी होनी चाहिए और इसी दृष्टि से उसे मानव जीवन से सम्बन्धित उचित और श्रेय की रूप रेखा देखना पड़ता है तथा उनका आधार भी खोजना पड़ता है। अतः आचार शास्त्र का विषय विस्तार मानव जीवन का वह वाह्य अंश है जिसे आचरण कहा जाता है और उसका आन्तरिक अंश वह है जिसे कि चरित्र कहा जाता है। और वह इनका अध्ययन एक विशेष दृष्टिकोण को लेकर करता है।

आचार-शास्त्र के भाग मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक—इस दृष्टि से आचार शास्त्र के कई भाग हो जाते है। हमें क्या करना चाहिए, यह जानने अथवा घोषित करने के लिए यह जानना भी तो आवश्यक है कि हम क्या करते हैं अथवा कर सकते है। जो हो ही नहीं सकता उसके विषय मे 'ऐसा होना चाहिए' कहना ही व्यर्थ है। अतः आचार शास्त्र के अन्तर्गत ही सर्वप्रथम यह भी अध्ययन का विषय आ जाता है कि नैतिकता का मनोवैज्ञानिक आधार (Psychological basis of morality) क्या हो सकता है। इन्हीं मनोवैज्ञानिक, सत्य-आधारों को लेकर नैतिकता तथा नैतिक निर्णयों की सृष्टि होती है। इन्हें जान लेने के पश्चात् उस नैतिक मापदण्ड (Moral Standard) का तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का अध्ययन करना भी आवश्यक हो जाता है जिनके आधार पर नैतिक निर्णय दिये जाते हैं। इस प्रकार के सिद्धान्तों का मुख्य आधार कोई न कोई चिरन्तन सत्य अथवा तात्त्विक सिद्धान्त होता ही है। आत्मा (Soul) अथवा स्व (Self) की किसी न किसी रूप मे अमरता स्वीकार करके ही आचार शास्त्र चलता है। इस सम्बन्ध मे किसी न किसी दार्शनिक अथवा तात्त्विक सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती ही है। अतः आचार-शास्त्र के अन्तर्गत नैतिक माप-दण्ड (Moral Standard) और तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों के दार्शनिक एवं तात्त्विक आधार और उनका प्रयोग (Metaphysical basis and implications) का भी अध्ययन किया जाता है। नैतिक स्तर और उससे सम्बन्धित सिद्धान्तों का मानव के नैतिक जीवन से सम्बन्ध भी अध्ययन का विषय होता है। वस्तुतः आचार-शास्त्र व्यक्ति के ही आचरण को लक्ष्य करके चलता है यद्यपि

उसके नियमादि किसी व्यक्ति-विशेष के लिए नहीं होते हैं और न ही उसके नैतिक निर्णय किसी विशेष व्यक्ति की ओर संकेत ही करते हैं। मानव के नैतिक जीवन के सामाजिक पक्ष की ओर भी आचार-शास्त्र ध्यान देता है तथा कुछेक अन्य भी ऐसी ही समस्याएँ उसके सम्मुख आती हैं जिनका उसे अध्ययन करना होता है। संक्षेप में आचार-शास्त्र का विषय विस्तार मानव के उस आचरण तक है जो कि वह स्वयं स्वेच्छा से कर्त्ता के रूप में करता है। इस प्रकार का आचरण, सचेतन आचरण अथवा चेतनावस्था में सोच-विचार कर किया गया कर्म ही हो सकता है और उस अवस्था में वह चरित्र से सम्बन्धित होगा ही। उस आचरण पर नैतिक निर्णय देने और उस निर्णय के आधार-स्वरूप मानव जीवन के नैतिक मापदण्ड तथा उसके आधार तक पहुँचना आचार-शास्त्र के विषय विस्तार के भीतर ही आ जाता है। इस सब का आधार खोजने के लिए आचार-शास्त्र को दर्शन अथवा तत्त्व ज्ञान, तत्त्व शास्त्र से भी उसके निष्कर्ष ले लेने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, भौतिकता अथवा भौतिक जगत् को ही सत्य मान लेने से नैतिक निर्णय तथा उनका मापदण्ड, उनका आधार एक प्रकार का होगा किन्तु भौतिक जगत को असत्य मानकर, आध्यात्मिक सृष्टि को ही सत्य मान लेने पर नैतिक स्तर और उसका आधार भिन्न हो जायगा। इसी प्रकार 'श्रेय' का अन्तिम आदर्श अथवा चरम 'श्रेय' ईश्वर को मान लेने पर आचार-शास्त्र और उसमें स्वीकृत नैतिक मापदण्ड कुछ भिन्न हो जायगा उससे जो कि 'चरम श्रेय' का स्वरूप ईश्वर से भिन्न मानने से हो जायगा।



(२)

आचार-शास्त्र का अन्य विज्ञान एवं शास्त्रों से सम्बन्ध

प्राकृतिक विज्ञान (Natural sciences)—यह तो हम देख ही चुके हैं कि आचार-शास्त्र प्राकृतिक विज्ञान नहीं है अतः प्राकृतिक विज्ञानों तथा प्रकृति के नियमों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध आचार-शास्त्र से होना कठिन ही है। वस्तुतः आचार शास्त्र का सम्बन्ध है तथ्यों एवं घटनाओं के मूल्यांकन से जब कि प्राकृतिक विज्ञानों का सम्बन्ध होता है स्थान एवं काल की सीमाओं में घटित तथ्यों अथवा घटनाओं से। अतः भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान का तो आचार-शास्त्र से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं के ही बराबर है क्योंकि इनके तथ्यों और उनसे सम्बन्धित प्राकृतिक नियमों का मानव आचरण पर प्रायः कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। किन्तु जीव विज्ञान की स्थिति इससे कुछ भिन्न है। जीव विज्ञान जीवों, जीवित प्राणियों का शरीर माध्यम से अध्ययन करता है अतः उसके निष्कर्षों का परोक्ष रूप से प्रभाव आचार-शास्त्र पर पड़ सकता है। यद्यपि जीव विज्ञान का भी कुछ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से आचार-शास्त्र से नहीं है फिर भी जो कुछ है वह भौतिक एवं रसायन विज्ञानों की अपेक्षा निकटतर है।

मनोविज्ञान (Psychology)—हम देख चुके हैं कि आचार-शास्त्र का सम्बन्ध इस प्रश्न से है कि हमें क्या करना चाहिए जब कि प्राकृतिक विज्ञान देखते हैं कि क्या है। यही भेद प्राकृतिक और नैतिक नियमों मे भी है। प्राकृतिक नियम अस्तित्व मात्र से, "है" से सम्बन्धित हैं जब कि नैतिक नियम, 'चाहिए' से सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु "है" और "चाहिए" में तो परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राकृतिक विज्ञानों में से भी जीव-विज्ञान, शरीर विज्ञान आदि केवल मात्र 'घटना' अथवा 'अस्तित्व' की ओर ही ध्यान रखते हों ऐसा नहीं है उन्हें उनके पूर्ण विश्व से क्या सम्बन्ध हैं, इस ओर भी ध्यान देना पड़ता है। वह भी

केवल 'है' मात्र तक ही सीमित नहीं हो जाते है, वरन् उसे विस्तृत करके, उसका प्रसार करके, उसे श्रेणीबद्ध करके यह भी देखते है कि सब ही उस प्रकार की स्थितियों, शरीरों आदि में ऐसा होना चाहिए। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'चाहिए' और एकबारगी पूर्णतया "है" को पृथक् नहीं किया जा सकता है। मनोविज्ञान मानव के मनस् (Mind) का, मानसिक जीवन का, मनोवृत्तियों आदि का अध्ययन करता है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध "है" से है। वह केवल मानव के मानसिक जीवन-सम्बन्धी सत्यों को प्रकाश में लाता है किन्तु जैसा मानव का स्वाभाविक मानसिक जीवन है उसे जाने बिना तो यह कहा ही नहीं जा सकता है कि ऐसा होना चाहिए अतः मनोवैज्ञानिक आधार लेकर ही, उसके निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए ही आचार शास्त्र चल सकता है। "चाहिए" को मानव पर आज्ञा रूप म लादा नहीं जा सकता है। यदि ऐसा किया जायेगा तो वह आज्ञा पालन भले ही हो और चाहे जो भी हो नैतिक कर्म नहीं हो सकता है। इसीलिए कहीं कोई एक सदा सर्वदा के लिए पूर्ण नैतिक नियमावली बनाकर रखी नहीं जा सकती है वरन् उचित, श्रेय तो वह है, 'चाहिए' की सीमाओं में तो वही आ सकता है, जिसे व्यक्ति स्वयं पहचान कर अपने ऊपर लागू करे, जिसके विषय मे वह स्वयं यह अनुभव करे कि उसे ऐसा करना ही चाहिए। ऐसा कर पाने के लिए उसे मानव के मानसिक जीवन का ज्ञान प्राप्त करना होता है अन्यथा उस 'चाहिए' के पीछे चाहे जितना भी सत्य का बल रख लीजिए वह थोड़ा ही रहेगा। अतः आचार शास्त्र और मनोविज्ञान का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

समाज-शास्त्र (Sociology)—मानव सामाजिक प्राणी है। समाज से सर्वथा भिन्न होकर सम्भवतः उससे बहुत कुछ भिन्न हो जाय जो वह आज दिन है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति और समाज इनका परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। समाज शास्त्र समाज के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करता है। मानव का आचरण केवल अपने प्रति ही और निज से ही सम्बन्धित सदा सर्वदा होता हो ऐसी बात नहीं है। मानव आचरण का सम्बन्ध समाज से, अन्य मानवों से भी होता है और उस पर प्रभाव भी पड़ता है। अतः मानव-समाज और उसके विकास से सम्बन्धित तथ्यों की आचार शास्त्र को आवश्यकता पड़ती ही है। अतः इन दोनों शास्त्रों का परस्पर सम्बन्ध है, घनिष्ठ है। समाज शास्त्र के अतिरिक्त आचार शास्त्र का तो सम्बन्ध मानव जीवन के पुरातन (आदि कालीन) रूपों से सम्बन्धित नृ अथवा मानव विज्ञान (Anthropology) से भी है।

राज शास्त्र (Political Science)—आचार शास्त्र मानव चरित्र और आचरण से सम्बन्धित शास्त्र है। राजशास्त्र का भी सम्बन्ध मानव आचरण से ही है। दोनों ही शास्त्र मानव आचरण का अध्ययन मानव जीवन के ध्येय अथवा मानव-श्रेय, मानव हित को ही ध्यान में रख कर करते है। दोनों का ही उद्देश्य है चरम श्रेय, चरम सत्य, मानव का चरम हित। दोनों ही शास्त्र इस विश्वास के साथ चलते हैं कि मानव आचरण पर नैतिक निर्णय दिये जाते है और वह निर्णय मानव के समाज के साथ सम्बन्ध, समाज के प्रति मानव के कर्त्तव्य एवं समाज के मानव के प्रति सम्बन्ध तथा कर्त्तव्य निश्चित करते हैं। मानव का समाज के साथ सम्बन्ध तथा समाज के प्रति कर्त्तव्य और समाज का मानव के साथ सम्बन्ध एवं मानव के प्रति कर्त्तव्य ही मानव हित का स्तर निर्धारित कर पाता है। अब प्रश्न यह होता है कि यदि इन दोनों ही शास्त्रों का लक्ष्य है मानव हित और उद्देश्य है चरम श्रेय की मानव द्वारा प्राप्ति, तो फिर इनमे भेद कहाँ है ? अन्तर कैसा है ? वस्तुतः इस अन्तर को समझने के लिए हमें देशविधि (Laws of Country) और नैतिक नियमों (Moral Laws) में भेद खोजना होगा। इससे पूर्व ही हम देख चुके हैं कि प्राकृतिक नियम (Laws of Nature) नैतिक नियमों से भिन्न है क्योंकि वह व्यापक, अपरिवर्तनशील, चिरन्तन और अपवादरहित होते है। किन्तु देशविधि तो इनसे भिन्न और नैतिक नियमों के कुछ निकट ही है। यह प्राकृतिक नियमों की भाँति व्यापक नहीं होते है। इनमे परिवर्तन किया जा सकता है। ये राष्ट्र-सत्ता अथवा राज्य सत्ता द्वारा स्वीकृत अथवा मान्यता प्राप्त होने चाहिए। विना यथोचित स्वीकृति के इनका मूल्य कुछ भी नहीं रह जाता है। यद्यपि यह मान्य होते है फिर भी इनकी अवहेलना की जा सकती है किन्तु उस अवस्था में दण्डित होना पड़ता है। अर्थात् इन नियमों की अवहेलना करना बिना दण्ड के लिए तत्पर रहे, सम्भव नहीं है। नैतिक नियम इनसे भी कुछ भिन्न होते हैं। ये नियम यद्यपि व्यापक होते है, अपरिवर्तनशील भी होते है किन्तु इनकी अवहेलना की जा सकती है। यद्यपि एक बार उनकी सत्यता का, उनके श्रेयत्व का ज्ञान कर लेने के पश्चात् उनकी अवहेलना करना कठिन होता है क्योंकि वह मानव पर अपने श्रेयत्व के महत्त्व का दवाव डालते हैं। उनका नैतिक महत्त्व मानव मन पर छा ही जाता है। वे स्पष्ट होते है और अन्य किसी प्रकार की शर्त से रहित मान्य ही होते है। वे अदर्श के आधार पर चलते है।

राष्ट्र की विधि, नियम और नैतिक नियमों मे भेद देख चुकने के

पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि देश-विधि और नैतिक नियम दोनों ही मानव आचरण से सम्बन्धित है किन्तु देश-विधि का सम्बन्ध उनके बाह्य परिणामों से ही अधिक है अतः अधिक से अधिक वह उन मानसिक प्रत्यक्ष कारणों (Intentions) की खोज कर सकते हैं जिन्होंने कर्ता से उस आचरण अथवा उन कर्मों को करवाया। किन्तु नैतिक नियम इससे अधिक दूर तक जाते हैं। नैतिक नियम केवल मात्र बाह्य परिणामों पर ही ध्यान नहीं देते वरन् उनके आन्तरिक ध्येय पर ही अधिक ध्यान देते हैं और उन आन्तरिक प्रेरणाओं अथवा प्रेरक (Inward motive) की खोज करते है जिन्होंने कर्ता को वैसा करने के लिए प्रेरणा दी। अतः नैतिक नियम कर्ता के कर्म, उसके फल और कर्ता की आन्तरिक प्रेरणाओं की ओर ध्यान देते हैं। देश-विधि आदि तो इतने से ही सन्तुष्ट हो जायेंगे कि 'दुष्कर्म' न किया जाये किन्तु नैतिक नियमों के अन्तर्गत तो 'दुष्कर्म' का सोचना भी अनुचित है। विधि अथवा देश के कानून द्वारा मनुष्यों को दुष्कर्म करने से तो रोका जा सकता है किन्तु उनका आचरण शुद्ध एवं श्रेयष्कर नहीं बनाया जा सकता है क्योंकि किसी भी देश के नियम एवं विधि उस देश के मनुष्यों को मनसा अपराध करने से नहीं रोक सकते है। आचार-शास्त्र की दृष्टि में मनसा, वाचा, कर्मणा नैतिक होने पर ही कोई व्यक्ति श्रेष्ठ एवं नैतिक दृष्टि से शुद्ध माना जा सकता है। आज भी प्रायः सब ही देशों में चोरी करना, दूसरे के धन का अपहरण करना कानूनी दृष्टि से अपराध है। ऐसा करने पर दण्ड भी भोगना पड़ता है फिर भी देश के सब ही व्यक्ति नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ हों, ऐसा नहीं है। देशों का वातावरण सर्वथा नैतिक एवं शुद्ध हो गया हो ऐसा भी नहीं है अतः यही कहा जा सकता है कि राज-शास्त्र विधि-विधान के माध्यम से मानव के बाह्य आचरण से अपना कार्य आरंभ करता है। ऐसा कर पाने के लिए ही वह सामाजिक सस्थाओं का निर्माण करता है, कानून बनाता है, नागरिकों के अधिकारों एवं कर्तव्यों की विवेचना करता है, जिससे कि ऐसा वातावरण बन सके जिसमें कि व्यक्ति 'उचित' और 'श्रेय' क्या है ? यह जान सके और उस पर कार्य कर सके। आचार-शास्त्र मानव के अन्तर्जगत से अपना कार्य आरम्भ करता है। वह चरम सत्य, चरम शिव और चरम श्रेय की खोज करके उसे आदर्श रूप में, ध्येय रूप मे मानव के सम्मुख रखकर मानव को उनकी अनुभूति करवाना चाहता है जिससे मानव उसे सर्वाङ्गीण रूप से ग्रहण कर सके। 'श्रेय' अथवा उचित की आचरण में अभिव्यक्ति करने के लिए यह तो नितान्त आवश्यक है कि उसे प्रथम अन्तर्मन में

ग्रहण किया जाये अन्यथा उसका बाह्यरूप बन भी कैसे सकेगा। 'श्रेय' और 'उचित' को समझ पाने के लिए भी 'चरम श्रेय' की एक स्पष्ट रूप-रेखा मानव के सम्मुख होनी ही चाहिए अतः यह आवश्यक है कि सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाएँ मानव जीवन के चरम ध्येय, चरम श्रेय का आधार लेकर ही चले। वस्तुतः जो कुछ मानव के लिए करणीय है, उचित है, कर्तव्य है देश-विधि तो उस दिशा में चलने, वढ़ने के लिए प्रथम सोपान है जब कि आचार-शास्त्र उससे ऊपर उठने के सोपान भी देता है। देश-विधि तो उसका न्यूनातिन्यून है। यही राज-शास्त्र और आचार-शास्त्र मे परस्पर सम्वन्ध है।

अर्थ-शास्त्र (Economics)—अर्थ-शास्त्र का भी मानव जीवन से सम्बन्ध है, जीवन बनाये रखने के लिए मानव को वहुत सी ऐसी वस्तुओं की भी आवश्यकता होती है जिनका कि वह उत्पादन करता है। और ऐसा कर पाने के लिए उसे मानव की इच्छाओं, उसकी आवश्यकताओं का अध्ययन करना पड़ता है। और इन्हीं आवश्यकताओं एवं इच्छाओं के आधार पर वस्तुओं का मूल्य निर्धारित किया जाता है। अतः मूल्य (Value) क्या है यही प्रश्न सर्वप्रथम हमारे सम्मुख आता है। वस्तुतः हम उन सब ही वस्तुओं को मूल्यवान कह सकते हैं जो मानव जीवन को बनाये रखने, विकसित करने और मानवेच्छाओं को सन्तुष्ट करने में सहायक हों। किन्तु इस प्रकार की वस्तुओं में से भी कुछ तो ऐसी है जो कि स्वयं अपने आप में मूल्यवान नहीं हैं फिर भी उनका महत्त्व साधन की दृष्टि से अत्यधिक है यद्यपि वह किसी अन्य ध्येय की, लक्ष्य की ओर ले जानेवाली होती है और वह लक्ष्य अथवा ध्येय ही मूल्यवान है। ऐसी वस्तुओं का महत्त्व साधन के रूप में होता है। अतः मूल्य दो प्रकार का हुआ, साधन रूप में और ध्येय रूप में। अर्थ-शास्त्र और आचार-शास्त्र दोनों ही मूल्य से सम्वन्धित है, मूल्यांकन करते है। अर्थ-शास्त्र मानव की आवश्यकताओं, इच्छाओं का अध्ययन करके वह मार्ग खोजता है जिनसे कि उन इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके अर्थात् उत्पादन किया जा सके। तत्पश्चात् वह यह भी देखता है कि उत्पादित वस्तुओं का किस प्रकार ठीक ठीक बँटवारा किया जाये। अर्थात् वैभव (Wealth) अथवा उत्पादित वस्तुओं का ठीक ठीक उपयोग कैसे किया जाये। अर्थशास्त्र के यह सव कुछ करने से पूर्व उसे यह मान ही लेना पड़ता है कि "वैभव" "श्रेय" है। तव ही तो वह

उसकी उत्पत्ति और बँटवारे के विषय में कार्य कर पाता है। इसके अतिरिक्त अर्थ-शास्त्र की विभिन्न विचारधाराएँ भी तो यही मानकर चलती हैं कि उनकी मान्यताएँ "श्रेय" है अन्यथा वह चल ही नहीं सकती हैं। पूँजीवादियों को यह मानना ही पड़ता है कि "पूँजी" "श्रेय" है। इसी प्रकार दूसरी ओर समाजवादियों को यह मानकर चलना पड़ता है कि "पूँजी" "अश्रेय" है। किन्तु दोनों को ही यह तो मानना ही पड़ता है कि "वैभव" "श्रेय" है। इसके अतिरिक्त मानवेच्छाएँ, मानव के अपनी जीविका के उपार्जन की रीति-नीति, वे सामाजिक मान्यताएँ, व्यवस्था तथा वातावरण जिसमें रह कर उन्हें जीविकोपार्जन करना पड़ता है उनके चरित्र निर्माण में अपना हाथ, प्रभाव एवं महत्त्व रखती हैं। अतः यही अर्थ-शास्त्र और आचार-शास्त्र का परस्पर सम्बन्ध है।

तर्कशास्त्र (Logic)—आचार-शास्त्र की ही भाँति तर्कशास्त्र भी प्राकृतिक विज्ञान न होकर विचार-प्रधान-विज्ञान है। तर्कशास्त्र सत्य और उसके स्तर सम्बन्धी अध्ययन करता है। तर्कशास्त्र यह देखता है कि विचार करने का ढंग कहाँ तक उचित है और उस ढंग से विचार करके कहाँ तक सत्य के निकट पहुँचा जा सकता है। यह सत्य तक पहुँचने के माध्यम, विचार प्रणाली का विश्लेषण और मूल्यांकन करके उसका औचित्य देखता है। आचार-शास्त्र उस माध्यम की परीक्षा नहीं करता किन्तु उस सत्य को जो कि उस माध्यम द्वारा प्राप्त किया जा सकता है आचरण में व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। अतः दोनों का परस्पर सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही है। यूँ भी आचार-शास्त्र को विभिन्न सिद्धान्तों और उनके निष्कर्षों का मूल्यांकन करने के लिए तर्कशास्त्र की सहायता की आवश्यकता पड़ती है।

सौंदर्य-शास्त्र (Aesthetics)—आचार-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र दोनों ही विचार प्रधान शास्त्र अथवा विज्ञान हैं। सौन्दर्य-शास्त्र 'सौन्दर्य' का अध्ययन करता है और आचार-शास्त्र श्रेय एवं शिव का। शिव और सुन्दर का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। चरम शिव, चरम श्रेय चरम सुन्दर होगा ही। अतः इन दोनों शास्त्रों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि दोनों ही मानव जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण सत्य, श्रेय एवं सुन्दर का मूल्यांकन करते हैं।

शिक्षा-शास्त्र (Pedagogy)—शिक्षा का उद्देश्य ही है मानव का बौद्धिक एवं चारित्रिक विकास। चरम श्रेय और उचित ज्ञान के बिना

शिक्षा पूर्ण हो ही नहीं सकती ; अतः शिक्षा-शास्त्र को मानव जीवन के ध्येय चरम श्रेय की ओर लक्ष्य करके चलना ही पड़ता है और यहीं आचार-शास्त्र से उसका घनिष्ट सम्बन्ध है।

तत्त्वज्ञान एवं दर्शन (Metaphysics)—तत्त्वज्ञान, तत्त्वशास्त्र अथवा दर्शन उस प्रश्न का उत्तर है जो कि मानव सदा सर्वदा अन्तिम प्रश्न के रूप में अपने से करता रहा है और वह प्रश्न है "चरम सत्य, अनादि अनन्त तत्त्व, चिरन्तन वस्तु क्या है?" विश्व भर की असंख्य परिवर्तन-शील वस्तुओं आदि आदि की पृष्ठ भूमिका, आधार स्वरूप कौन-सा तत्त्व चिरन्तन और अमर है। विचारकों, साधकों ने इसी प्रश्न के उत्तर को विभिन्न प्रकार से विचार का विषय वनाया है और वह उत्तर ही तत्त्वज्ञान है, दर्शन है। आचार-शास्त्र यह विश्वास लेकर चलता है कि नैतिकता में सत्य है, यह श्रेय है, यह उचित है। यदि नैतिकाचार मानव के लिए श्रेय नहीं है तो उसकी चर्चा करना ही व्यर्थ हो जाता है और यदि वह श्रेय है तो चरम श्रेय भी खोजना आवश्यक हो जाता है क्योंकि उसी के आधार पर तो हम अपने आचरण के श्रेयत्व को सिद्ध कर, सकते है। अतः आचार शास्त्र के मुख्याधार श्रेय, उचित एवं नैतिक को ही सत्य सिद्ध करना आवश्यक हो जाता है किन्तु ऐसा करना आचार शास्त्र के क्षेत्र के, विस्तार के बाहर है। आचार श्रेय हो इतना तो आचार शास्त्र के भीतर ही है किन्तु 'श्रेय' चरमसत्य की आधार भित्ति पर खड़ा है अथवा नहीं, यद्यपि इसकी आचार शास्त्र को विश्वास रूप में आवश्यकता पड़ती है किन्तु इसके लिए आचार शास्त्र को तत्त्व शास्त्र और उसके निष्कर्षों पर आश्रित रहना पड़ता है। श्रेय, उचित, नैतिक आदि के अन्तिम, चरम महत्त्व को प्रमाणित करते है तत्त्वशास्त्री और उनका उपयोग करते है आचार शास्त्री। उदारणार्थ यदि मैं यह प्रश्न करूँ कि मैं क्यों लोक सेवा करूँ ? तो साधारणतया उत्तर यही होगा कि पर सेवा, लोक सेवा करना श्रेयस्कर है अतः यही करना चाहिए, ऐसा करना ही उचित है, नैतिक है। अब यदि मै यह कहूँ कि यह श्रेय, उचित और नैतिक क्यों है ? सेवा भी तो शरीर के साथ ही की जाती है। जब एक न एक दिन शरीरपात होना ही है और उसके साथ ही साथ मेरा 'स्व' समाप्त हो जाता है तो फिर मै कष्ट सहकर भी लोक सेवा क्यों करूँ ? वैसा करना क्यों अच्छा है ? इसके उत्तर में हमें कुछ दूर तक सोचना पड़ेगा। सारी सृष्टि और उसके अनन्त चक्र को सम्पूर्ण

रूप से देखे बिना काम नहीं होगा। क्योंकि वैसा किये बिना हमें इन प्रश्नों के उत्तर नही मिलेगे। सृष्टि, विश्व ब्रह्माण्ड पर सम्पूर्ण रूप से विचार करने का ढंग कोई भी हो यदि उसका निष्कर्ष यह निकलता है कि वस्तुत: 'स्व' शरीरपात के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता, मानव का अस्तित्व शरीर मात्र ही नहीं है तो एक कारण मिल जाना है कि मैं क्यों कष्ट पाकर भी 'लोक सेवा' करूँ और संभवत: इसी लिए मुझे लोक-सेवा करना चाहिए। दूसरे निष्कर्ष तक हम 'स्व' और अखिल विश्व के परस्पर सम्बन्धों को लेकर पहुँच सकते हैं। और तीसरा निष्कर्ष इस श्रेय, उचित और नैतिक को अनन्त सत्य, चिरन्तन तत्त्व के साथ रखकर देखने की ओर संकेत कर सकता है। अत: यह आवश्यक है कि आचार-शास्त्र उन निष्कर्षों को लेकर चले जो कि विश्व और विश्व से भी परे को लेकर किये गये विचारों के फलस्वरूप हमारे सम्मुख आते हैं। प्राय: सब ही विज्ञान विश्व के, जीवन के एक पक्ष-विशेष को लेकर खोज, विचार करते हैं। यही कारण है कि उनके निष्कर्ष और उनकी खोजें तथा तत्सम्बन्धी व्याख्या एकांगी होती है, उसी पक्ष-विशेष से सम्बन्धित होती है; चिरन्तन और स्वंयसिद्ध, स्वयंभू नहीं होती है किन्तु कोई भी तो तथ्य अथवा घटना पूर्णतया उस समय तक नहीं समझी जा सकती है जब तक कि अखिल ब्रह्माण्ड के साथ उसका सम्बन्ध देखकर न चला जाय क्योंकि विश्व एक बिखरे हुए टुकड़ों का जोड़ न होकर पूर्ण है और है व्यवस्थित, सम्बन्धित और एक। अत: प्रत्येक विज्ञान एक ऐसे विज्ञान अथवा शास्त्र से सहायता लेकर चल सकता है, जिसका कि खोज का विषय विश्व का कोई एक पक्ष विशेष न होकर सम्पूर्ण विश्व ही हो। और सम्पूर्ण विश्व, उसकी व्यवस्था, उसके तत्त्व और यदि कोई है तो अन्तिम सत्य, एक चिरन्तन तत्त्व की खोज, ये सब तत्त्व-ज्ञान, तत्त्व-शास्त्र अथवा दर्शन-शास्त्र के ही विषय हो सकते हैं। हम अभी देख ही चुके हैं कि आचार-शास्त्र को और सम्भवत: इसी प्रकार अन्य शास्त्रों को भी तत्त्व-शास्त्र के निष्कर्षों की आवश्यकता पड़ती है किन्तु उनके निजी क्षेत्रों में उनके अपने ही निष्कर्ष मान्य होते हैं। यद्यपि उन निष्कर्षों की मान्यता सिद्ध करने के लिए ही तत्त्व-शास्त्र के निष्कर्षों की आवश्यकता पड़ती है। यह सम्बन्ध तत्त्व-शास्त्र और उन सब ही विज्ञानों के बीच स्थापित है जो कि विश्व का पक्ष-विशेष लेकर अध्ययन करते है किन्तु ऐसी अवस्था में भी आचार-शास्त्र की स्थिति तनिक-सी अन्य शास्त्रों एवं विज्ञानों से भिन्न है।

आचार-शास्त्र का सम्बन्ध नैतिक निर्णयों से है और यह निर्णय चरित्र एवं आचरण का यथार्थ मूल्य क्या है इस प्रश्न से सम्बन्धित है। मूल्यांकन की ही दृष्टि लेकर यह निर्णय देखे जाते है यद्यपि वह मूल्य किसी और वस्तु पर आधारित न होकर स्वमहत्त्वशाली होता है क्योंकि उसका महत्त्व यदि अपने आप में न होकर किसी अन्य सत्य अथवा मूल्य अथवा महत्त्व पर आधारित हुआ तो नैतिकता की नींव ही हिल जायेगी। हम चरित्र का मूल्यांकन व्यक्ति के विश्वासों, उसकी मान्यताओं एवं विचारों के आधार पर नहीं करते है वरन् करते है उसे व्यापक रूप देकर और वह तब ही हो सकता है जब कि ऐसे निर्णयों का आधार चिरन्तन हो। किन्तु ऐसा क्यों है? इसी लिए तो कि विश्व भर की पूर्णता, एक रसता, व्यवस्था यह माँग करती है कि हमारे विश्वास, हमारी मान्यताएँ हमारे विचार जो कि हमारे कर्मों को प्रेरणा देते है व्यक्तिगत विचारों और व्यक्ति की परिस्थितियों से ऊपर उठ कर समग्र और सम्पूर्ण को लेकर ही श्रेय एवं उचित की व्याख्या कर सकें। और ऐसा कर सकने के लिए तो हमें तत्त्व-शास्त्र के निष्कर्षों का आश्रय लेना ही पड़ेगा।

मानव और उसका चरित्र एवं आचरण तो इस सम्पूर्ण से पूर्णरूपेण सम्बन्धित है अतः यह सम्भव भी तो नहीं है कि मानव अपने आपको उस सम्पूर्ण से भिन्न रख कर देख सके। अतः उसे 'सम्पूर्ण' के साथ तो चलना ही होगा। अतः आचार-शास्त्र को एक सीमा तक तत्त्व-शास्त्र के निष्कर्षों को मान्यताओं, विश्वासों के रूप में लेकर अपना काम करना पड़ता है। और यही नहीं, तत्त्व-शास्त्र के निष्कर्ष आचार-शास्त्र के निजी विश्वासों और मान्यताओं को ही विशेष प्रभावित करते है। उदाहरणार्थ— वे तत्त्व-शास्त्री जो इस निष्कर्ष तक पहुँचे हैं कि विश्व का अनन्त चिरन्तन सत्य वही है जिसका अनुभव हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा करते हैं, अथवा इस भौतिक जगत् से परे सत्य और अमर कुछ भी नहीं है, यह मान ही नहीं सकते है कि नैतिकता व्यक्तिगत विश्वासों के अतिरिक्त कुछ और भी हो सकती है। अर्थात् तत्त्व-शास्त्रीय भौतिकवाद अपने समर्थकों को नैतिकता के विश्वव्यापी अथवा चिरन्तन स्तर को स्वीकार करने ही नहीं देता है। भौतिकवादी यह भी मानने को तत्पर नहीं होंगे कि नैतिकता अथवा नैतिक निर्णयों का महत्त्व इन्द्रियजन्य अनुभव के अतिरिक्त और भी किसी सत्य पर आधारित हो सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि तत्त्व-शास्त्र के निष्कर्ष आचार-शास्त्र की मान्यताओं, उसके सिद्धान्तों पर प्रभाव डालते है।

आचार-शास्त्र को एक निष्कर्ष तो तत्त्व-शास्त्र से लेना ही पड़ता है और वह है 'स्व' का अस्तित्व और उसका कर्तृत्व। जब तक 'कर्ता' का अस्तित्व न मान लिया जाय तो कर्ता को उसके कर्म के लिए उत्तर-दायी कैसे ठहराया जा सकता है। अतः कर्ता के अस्तित्व को स्वीकार कर पाने के लिए भी तो तत्त्व-शास्त्र की आवश्यकता है ही। इसी प्रकार नैतिक आदर्श का स्वरूप और उसका चरम मौलिक आध्यात्मिक उद्गम भी तत्त्व-शास्त्र की ही सहायता से जाना जा सकता है। अतः आचार-शास्त्र को अपने विषय सम्बन्धी विचार और खोजे कर सकने के लिए तत्त्व-शास्त्र के दार्शनिक निष्कर्षों की आवश्यकता पड़ती है। यही इन दोनों शास्त्रों में परस्पर सम्बन्ध है।

धर्मशास्त्र अथवा धार्मिक मत और विश्वास (Religion)—सभ्यता के युग से पूर्व तथा सभ्यता के युग के आदि-काल में आचार शास्त्र धार्मिक मत और विश्वासों से भिन्न अपना अस्तित्व नहीं रखता था। प्रायः उस समय तक विज्ञानों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना जाता था। मानव में जिज्ञासा तो तब भी रही होगी किन्तु आज की भाँति विश्व के विभिन्न पक्षों में से एक को लेकर खोज करने की प्रवृति तब तक दिखाई नहीं देती थी। उस समय आचार का आधार बहुत कुछ धार्मिक मत और विश्वास ही था। किन्तु धीरे धीरे इस प्रकार के मत और विश्वासों ने आधार खोज लिए और मतों के आधार प्राप्त हुए, तत्त्व-शास्त्रों के खोज किये हुए निष्कर्षों में। वस्तुतः आज किसी भी धार्मिक मत और विश्वास को हम दार्शनिक नींव के बिना नहीं पाते हैं। और कभी कभी वह दार्शनिक पृष्ठ भूमिका जो कि धार्मिक मत को आधार देती है ठीक वैसा ही आधार आचार-शास्त्र को भी देती है अतः इस सम्बन्ध से भी यह दोनों शास्त्र निकट आते है।

यह भी सम्भव है कि कभी किसी युग में मानव ने 'ईश्वर' की कल्पना इसलिए ही की हो कि उसे किसी एक सर्वगुणसम्पन्न आधार की आवश्यकता थी जिसमें वह चरम शिव, चरम श्रेय की कल्पना कर सके तथा जिसे वह नैतिकता का अन्तिम आधार और पूर्ण मापदण्ड (objective standard of morality) मान सके। मानव की श्रद्धा अमूर्त (abstract) नैतिक विधि अथवा नियमों की अपेक्षा मूर्तिमान सर्व गुणागार पूर्ण श्रेय, पूर्ण शिव के प्रति अधिक होना स्वाभाविक ही है अतः ऐसे एक नैतिक मापदण्ड की आचार-शास्त्र को

आवश्यकता होती ही है और उसकी पूर्ति की जाती है धर्म-शास्त्र द्वारा दिये गये "ईश्वर" से। प्रायः सब ही धार्मिक मतों में "ईश्वर" का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है और वह सर्वाङ्ग सुन्दर, पूर्ण शिव, चरम श्रेय ही माना जाता है। उसे ही आदर्श, श्रेयत्व का, शिवत्व का पूर्णादर्श मानकर चलने से आचार-शास्त्र की समस्याओं का किसी एक सीमा तक तो हल हो ही जाता है।

इसके अतिरिक्त साधारणतया जीवन के संघर्षों में जूझता हुआ मानव एक आश्रय, नैतिक आश्रय चाहता है अपने नैतिक विश्वासों पर चल सकने के लिए। नैतिक संघर्षमय जीवन ही तो उसे उच्च जीवन की ओर ले जाता है अतः उसमें से सफलतापूर्वक निकल पाना उसके लिए आवश्यक है। और वैसा कर पाने के लिए उसे "मृत्यु के पश्चात् भी जीवन समाप्त नहीं हो जाता है।" यह कह कर धर्म-शास्त्र आश्वासन देता है, आश्रय देता है। मानव इसी नैतिक आश्रय को लेकर अपने सब ही संघर्षों को उसी भावी जीवन में प्राप्त होनेवाले पुरस्कारों की आशा पर पार कर लेता है। साधारण मानव के लिए यह एक बहुत बड़ा बल प्रदान करता है भले ही नैतिक दृष्टि से उच्च भूमिका में इसकी उतनी अधिक उपयोगिता न हो। वस्तुतः सर्वोच्च धर्म अथवा धार्मिक विश्वास है ईश्वर-प्रेम-भक्ति और सर्वोच्च नैतिक स्तर है मानव मात्र को प्रेम कर पाना। इन दोनों का ही सम्मिलन होता है श्रीकृष्ण, राम अथवा ईसा को प्रेम करने के रूप में। भगवान् श्रीकृष्ण का गीता में दिया गया उपदेश इसी स्थिति को तो उत्पन्न करता है।

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" ॥६६॥ गी० १८।

अर्थात् मुझमें ही अपना मन रख, मेरी ही भक्ति कर, मेरा भजन कर, मेरी वन्दना कर, मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू मुझमें ही आ मिलेगा। सब धर्मों को त्याग कर तू मेरी शरण में आ। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा।

यही आश्वासन मानव को सत्याचरण, उचित आचरण एवं कर्तव्य पालन करने के लिए बल देता है। मानव 'ईश्वर' और 'मनुष्य' को एकत्रित करके मानवमात्र को प्रेम करना सीखता है। इसी प्रकार नैतिक निर्णयों को भी ईश्वरीय आज्ञा मानकर आचरण का लक्ष्य बनाना

कुछ सरल अवश्य हो जाता है। इसी लिए प्राय: सब ही धर्म-शास्त्रों में ईश्वर की आज्ञाएँ वही होती हैं जो कि नैतिक दृष्टि से चरम श्रेय माना जाता है। वस्तुत: यदि आचार-शास्त्र को वह शास्त्र माना जाय जिसमें कि मानव को चरम-सत्य, चरम शिव और अनन्त सौन्दर्य से प्रेम करना, उनका ठीक ठीक मूल्यांकन करना सिखाया जाता है तो धर्म उस ध्येय तक पहुँचने का एक साधन, माध्यम मात्र ही रह जाता है क्योंकि वही मानव जीवन का अन्तिम ध्येय है। उस अवस्था में पूजा उपासना तो साधन मात्र ही होंगे और इसी दृष्टि से उनकी उपयोगिता भी होगी। श्रीयुत हार्टमैन के विचारानुसार तो धार्मिक विश्वास युगकालीन नैतिकता के समर्थक मात्र ही होते हैं। उनका यह भी मत है कि नैतिकता सर्वप्रथम धार्मिक मतों एवं विश्वासों के रूप में ही प्रकट हुई थी। श्रीयुत ऑगस्त कान्त धार्मिक विश्वासों को उच्च नैतिक भूमिका तक मानव के पहुँचने की दिशा में एक आवश्यक पग बढ़ाना समझते हैं।

यह तो सत्य ही है कि नैतिक विश्वासों एवं मान्यताओं को यदि ईश्वर की आज्ञा के रूप में मान लिया जाय तो उनका स्वतन्त्र महत्त्व समाप्त हो जाता है। धर्म और धार्मिक मतों का लक्ष्य भी आचार-शास्त्र के ध्येय से कुछ भिन्न है अत: धर्म-शास्त्र यद्यपि आचार-शास्त्र की मानव की उन्नति की निम्न भूमिकाओं में तो सहायता करता है किन्तु अत्युच्च भूमिका तक पहुँचकर तो सम्भवत: बाह्याचरण भी पीछे ही छुट जाता है। सम्भवत: इसी दृष्टि से वेदान्त और केवलाद्वैतवादियों ने आचार-शास्त्र को व्यवहारिक भूमिका के अन्तर्गत तो स्थान दिया है किन्तु पारमार्थिक भूमिका में स्थान नहीं दिया है। अनन्त सत्य में लीन हो जाने, उसके साथ एकाकार हो जाने के पश्चात् कर्तव्याकर्तव्य का प्रश्न भी तो शेष नहीं रह जाता है। अत: आचार-शास्त्र का उपयोग श्री शंकराचार्य के मतानुसार तो साधन रूप से ही किया जा सकता है। अनन्त सत्य, ब्रह्म अथवा पारमार्थिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए अथवा सर्वोच्च विकास के सोपान अर्थात् पारमार्थिक भूमिका तक पहुँचने के लिए आचार-शास्त्र और तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का क्रियात्मक रूप साधन अथवा निम्न सोपान है। नित्यानित्य वस्तु विवेक, भोग विराग, शमदमादि साधन सम्पत् मानव को इस योग्य बनाते है कि वह चरम सत्य, चरम तत्त्व की उपलब्धि कर सके। अत: यदि धर्म को प्रचलित मत और विश्वासों के ही रूप मे लिया जाय तो वह आचार-शास्त्र की साधारण मानवों के लिए निम्न भूमिका से साधन रूप में सहायता करता है। किन्तु ऐसा कहते हुए हमारी

दृष्टि कर्मकाण्ड की ही ओर है धर्म के दार्शनिक अंग की ओर नहीं है, क्योंकि वह तो तत्त्व ज्ञान से भिन्न रह नहीं जाता है और वहाँ तक पहुँचकर तो पूजा उपासना आदि कर्म भी पीछे रह जाते हैं तथा साधारण कर्तव्याकर्तव्य जिज्ञासा भी छुट ही जाती है।

अतः यही कहा जा सकता है कि धर्म-शास्त्र एवं धार्मिक मत और विश्वास साधारण मानव के लिए श्रेय और उचित की व्याख्या कुछ सरल और ग्राह्य कर देते हैं क्योंकि वह श्रेय को ईश्वर के रूप में और उचित को उसकी आज्ञाओं के रूप मे उपस्थित करते हैं किन्तु आचार-शास्त्र का उद्देश्य इतना ही नहीं है। इससे कुछ आगे बढ़कर श्रेय के मूल्याकन का कार्य भी आचार-शास्त्र को करना पड़ता है और उसके लिए भी वह धर्म-शास्त्र की सहायता ले लेता है।

अध्याय ४

नैतिक निर्णय

नैतिक निर्णय स्वेच्छा से किये गये कर्मों पर ही दिये जाते हैं—जीवन में सदा सर्वदा मनुष्य किसी न किसी रूप में नैतिक निर्णय देता ही रहता है। प्राय: हम कहते हैं कि यह अच्छा है, वह बुरा है, यह ठीक है, यह ठीक नहीं है आदि, आदि। किन्तु प्राय: हम यह निर्णय उन्हीं कर्मों के सम्बन्ध में देते है जिनका कि करना और न करना दोनों ही हमारे हाथ में होता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति रोगी हो जाता है तो हम साधारणतया यह नैतिक निर्णय नहीं देते कि अमुक व्यक्ति ने बुरा काम किया, अनुचित कार्य किया कि वह रोगी हो गया। वरन् यही कहते है वह क्या करता उसके हाथ में थोड़े ही था। अर्थात् नैतिक निर्णय उन्हीं कामों पर दिया जा सकता है जो कि कर्ता के हाथ में हो अथवा जिनका करना अथवा न करना कर्ता की ही इच्छा पर निर्भर हो। इस प्रकार से देखने पर हमें दो प्रकार के कर्म दिखाई देंगे। एक तो वह कर्म जिनका कि करना हमारी इच्छा पर निर्भर करता है अर्थात् स्वेच्छापूर्वक किया गया कर्म और दूसरे वे कर्म जो कि शरीर धर्म है, किये ही जाते है। दूसरे प्रकार के कर्मों मे वह सब ही कर्म आ जाते हैं जो कि शरीर और इन्द्रियों के स्वाभाविक साधारण धर्म होने के नाते किये जाते है जैसे कि पलक झपकना, छींकना, खाँसना और कुछेक जन्मगत संस्कारों के आधार पर किये गये कर्म भी। यद्यपि यह कर्म हमारी इच्छा के विरुद्ध होते हों ऐसी बात नहीं है किन्तु इनका इच्छा और अनिच्छा से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। मनुष्य इन्हे सोच विचार कर चुन कर अपना करने योग्य कर्म नहीं बनाता है वरन् यह हो ही जाते है। ऐसे कर्म नैतिक निर्णय का विषय नहीं होते है। पहले प्रकार के कर्म जो कि स्वेच्छा से चुन कर किये जाते हैं नैतिक निर्णय का विषय होते है क्योंकि उनका करना अथवा न करना कर्ता की इच्छा पर ही निर्भर करता है। अत: हम यह कह सकते है कि नैतिक निर्णय स्वेच्छा से किये गये कर्मों पर ही दिया जा

सकता अब प्रश्न यह होता है कि स्वेच्छा से किये गये कर्म कौन से होते है और कर्ता किस प्रकार स्वेच्छा से कर्म करता है।

स्वेच्छाकृत कर्म और उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन—

किसी भी कर्म को स्वेच्छाकृत कर्म (Voluntary action) उस अवस्था में ही कहा जा सकता है जब कि उसके करने में कर्ता की इच्छा रही हो। अब देखना यह है कि कर्ता किस प्रकार कर्म करने की इच्छा करता है अथवा उसे कर्म करने की प्रेरणा कैसे मिलती है। उदाहरणार्थ—मैंने इस पुस्तक को लिखने का कर्म किया। यह कर्म मेरा स्वेच्छा से किया गया कर्म है किन्तु अचानक ही यह मुझ द्वारा हो गया हो ऐसी बात नहीं है। सर्वप्रथम मुझमे कुछ लिखने की अथवा करने की इच्छा (desire) उत्पन्न हुई। इस इच्छा में मेरी यह चेतना भी निहित थी कि मैं कुछ लिखना चाहती हूँ और यह ज्ञान भी था कि मैं इस उद्देश्य से लिखना चाहती हूँ कि वह लेख पाठकों के लिए उपयोगी हो, पठनीय हो। मुझे यह ज्ञान भी था कि इस प्रकार लिखना श्रेयस्कर है, अच्छा कार्य है और इससे मुझे आत्म सन्तोष की प्राप्ति होगी। इस प्रकार की इच्छा का मेरे मन में उत्पन्न होना कोई एकाकी घटना नहीं है वरन् यह इच्छा मेरे समस्त व्यक्तित्व को, चरित्र को मथकर निकली है, उसमे से उत्पन्न हुई है। किन्तु एक मात्र यही इच्छा मेरे मन में रही हो ऐसी बात भी नहीं है। निसन्देह कई और भी इच्छाएँ रही होंगी। यदि और नहीं तो क्या लिखूँ इस सम्बन्ध में ही मेरे मन में कई इच्छाएँ रही होंगी। हो सकता है यही हों कि उपन्यास लिखूँ, आचार-शास्त्र सम्बन्धी पुस्तक लिखूँ, आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखूँ आदि आदि और यह भी हो सकता है कि लिखने के अतिरिक्त भी इच्छाएँ हों जैसे कुछ पढ़ूँ, चित्रकला की साधना करूँ आदि आदि। अब इन सब इच्छाओं में से मुझे चुनाव करना पड़ा। जो इच्छा इनमें सर्वाधिक सशक्त थी उसे ही मुझे चुनना पड़ा। इस चयन के पश्चात् वह इच्छा कामना (wish) में परिणत हो गई। अब तक यह एक विचार मात्र ही था अब इसे परिस्थितियों के साथ रख कर देखना पड़ा और अब सब कुछ विचार कर मैंने यह निश्चय (will) किया कि मैं इस इच्छा और कामना को क्रियात्मक रूप मे, कार्य मे परिणत करूँ। अतः निश्चय ने कार्य को रूप रेखा दे दी। अब हुआ कार्य। यही है स्वेच्छाकृत कर्म।

इससे यह जान पड़ता है कि स्वेच्छाकृत कर्म का आरम्भ इच्छाओं

से होता है । इच्छा न तो शारीरिक माँग (Want) ही है और न प्राकृतिक माँग (appetite) ही । यह इन दोनों से भिन्न हैं । शारीरिक और प्राकृतिक माँग तो पशु पक्षियों में भी होती है किन्तु इच्छा सम्भवतः मानव में ही होती है । अतः इसे प्रथम दोनों से भिन्न करके देखना आवश्यक हो जाता है ।

शारीरिक माँग (Want)—यह शरीर की वह माँग है जो कि न तो व्यक्ति स्वयं सोच-विचार कर ही अपने सम्मुख उपस्थित करता है और न उसके ध्येय के ही विषय में कुछ ज्ञान रखता है । कर्ता स्वयं तो इसके उत्पन्न करने में सहायक भी नहीं होता । यह शरीर की एक अचेतन माँग मात्र है जो कि एक विशेष प्रकार के अभाव की पूर्ति मात्र करती है । यह अनुभूति भी नहीं है । नन्हें बालक का रोना उसकी किसी माँग का सूचक है जिसका कि उसे स्वयं भी ज्ञान नहीं होता है ।

प्राकृतिक माँग (appetite)—यह शारीरिक माँग तनिक सी भिन्न होती है । यह वह माँग है जिसके विषय में यद्यपि कर्ता सोच-समझ कर कुछ निर्णय तो नहीं करता है किन्तु इसमें एक विशेष ध्येय तक पहुँचने की चाह अवश्य होती है और उसके साथ अनुभूति (feeling) भी होती है । यह ज्ञान भी होता है कि किस प्रकार की वस्तु को प्राप्त करने से यह प्राकृतिक माँग पूरी हो सकेगी । इस प्रकार की माँग के साथ ही साथ सुख और दुःख की अनुभूति भी होती है और कर्ता इस प्रकार की अनुभूति का ज्ञान भी रखता है । क्षुधा लगने पर मुझे यह अनुभूति होती ही है कि भोजन मिल जाने से यह शान्त हो जायगी । और इससे सुख-चैन भी प्राप्त होगा । यह हुई शारीरिक माँग ।

इच्छा (desire)—इच्छा इन दोनों से भिन्न होती है । इच्छा न तो शरीर की ऐसी माँग ही होती है जिसका कि ज्ञान मात्र भी इच्छा करने वाले व्यक्ति को न हो और न वह प्राकृतिक माँग ही होती है जिसके अस्तित्व का ज्ञान मात्र और उसे पूरा करने की वस्तु का ज्ञान मात्र ही इच्छा करने वाले व्यक्ति को हो, वरन् इच्छा वह चेतन माँग है जिसके न केवल अस्तित्व का ज्ञान ही इच्छुक व्यक्ति को होता है वरन् वह चेतनावस्था में बुद्धि और विचार के अन्तर्गत ही उस माँग की उपस्थिति का ज्ञान प्राप्त करता है । वह किस प्रकार की, कैसी माँग है इसका भी ज्ञान रखता है और यह भी ज्ञान रखता है वह माँग मेरी ही माँग है तथा चेतनावस्था में चाही हुई ही वस्तु है । इच्छा करनेवाला यह भी जानता

है कि वह किस वस्तु की प्राप्ति अथवा ध्येय की पूर्ति के लिए इच्छा कर रहा है और उस ध्येय अथवा वस्तु की प्राप्ति द्वारा इस इच्छा को पूर्ण किया जा सकता है तथा ऐसा करना ठीक है, उचित है, श्रेय है। वह यह भी जानता है कि उस इच्छा की पूर्ति पर इच्छुक सन्तुष्ट होगा और उसे सुख की प्राप्ति होगी इसका ज्ञान भी उसे है। सुख अथवा दुःख की अनुभूति (feeling) का इच्छा अथवा इच्छित कर्म मे होना आवश्यक है। कर्ता यह भी जानता है कि इच्छित वस्तु अथवा कर्म श्रेय है और इच्छा करने योग्य (desirable) है अतः उसकी प्राप्ति से मुझे सन्तुष्ट एवं सुखी होने की आशा है। कोई भी इच्छा अपने ढंग की एक ही हो ऐसी वात नहीं है। वस्तुतः इच्छाएँ भी मन के भीतर अपना एक विश्व रखती हैं और प्रत्येक इच्छा उस इच्छाओं के समूह (Universe of desires) से ही आती है। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रत्येक इच्छा अकेली नहीं होती वरन् किसी भी इच्छा रखने का यह अर्थ हुआ कि इच्छुक व्यक्ति का एक ढंग-विशेष का दृष्टिकोण है और वह उसी प्रकार की इच्छाएँ रखता है। उसका एक निजी नैतिक स्तर है, नैतिकता का एक मापदण्ड है और वह उसी के अनुरूप इच्छाएँ कर सकता है। साधारणतया एक न्यायप्रिय, अच्छा नैतिक प्रवृत्तिवान् व्यक्ति किसी को हानि पहुँचाने की इच्छा नहीं करेगा। उसी प्रकार साधारणतया दुष्ट प्रकृति व्यक्ति किसी साधारण नागरिक के हित के लिए अपने को विपत्ति मे डालने की इच्छा नहीं करेगा। अतः कोई भी इच्छा मानव की समस्त इच्छाओं के समूह का अथवा व्यक्ति के सम्पूर्ण मानसिक, नैतिक व्यक्तित्व का अथवा चरित्र का प्रतीक होती है और उसमें से उत्पन्न होकर आती तो है ही। यही नहीं कि इच्छा चरित्र से जन्म लेती हो वरन् एक वार उत्पन्न होकर वह इच्छा भी उस चरित्र की वृद्धि करती है, उसी समूह का अंग बनकर उसके निर्माण में योग देती है। अतः चरित्र इच्छाओं की उत्पत्ति के लिए आधार है और इच्छाएँ चरित्र-निर्माण मे योगदान करती है। यहीं नहीं, कभी-कभी एक ही व्यक्ति के भीतर उसके एक इच्छा-समूह का दूसरे इच्छा-समूह से द्वन्द्व भी हो जाता है। वस्तुतः यही समय कर्म-जिज्ञासा का होता है। ऐसे ही अन्तर्द्वन्द्व मे पड़कर अर्जुन ने कर्म-जिज्ञासा की थी। मानव के इस प्रकार के सब ही इच्छा-समूहों का पूर्णयोग (totality of the universes of desires) चरित्र कहलाता है। इसी चरित्र से उत्पन्न कर्म आचार अथवा आचरण कहलाते हैं। सदा-सर्वदा प्रत्येक कर्म एक नवीन इच्छा के रूप

में उत्पन्न होकर, कामना और फिर निश्चय के रूप में विकसित होकर ही होता हो यह भी नहीं है। बार बार दोहराई गई इच्छाएँ और तज्जन्य कर्म स्वभाव अथवा स्वाभाविक कर्म (habitual actions) भी बन जाते हैं और हम इन स्वभाव बने हुए कर्मों के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि यह प्राय: अपने आप ही हमसे होने लगते हैं किन्तु फिर भी इन्हे उन कर्मों की श्रेणी मे नहीं रखा जा सकता है जिन्हें हम स्वेच्छा से नहीं करते है और यदि इन्हे उन्हीं कर्मों की अर्थात् स्वच्छेतर कर्मों (involuntary actions) की श्रेणी में यदि रख भी दिया जाय तो भी इस प्रकार के कर्म नैतिक निर्णय से नहीं बच सकते हैं क्योंकि दूर परे कहीं इनके मूल में कर्ता की इच्छा तो है ही। अत: कुछेक ऐसे कर्म भी नैतिक निर्णय का विषय हो सकते हैं।

इच्छा और कर्म—इच्छाओं का इच्छुक अथवा 'स्व' (Self) से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। क्योंकि उनका मूल्य तो 'स्व' के मूल्यांकन पर ही आश्रित होता है। इच्छा का सम्बन्ध सदैव वस्तु और उसकी प्राप्ति अथवा घटनाओं के एक विशेष क्रम से होने आदि से ही होता है और वस्तुओं तथा इस प्रकार की घटनाओं तथा उनके क्रमादि का महत्त्व तो मानव से सम्बन्धित ही होता है। अत: मानव न तो एकबारगी अपनी वर्तमान इच्छा का पूर्णरूपेण स्वामी ही होता है क्योंकि वह इच्छा उसके चरित्र अथवा इच्छा-समूह, इच्छा-जगत् का ही एक अंग है और उसे उस पूर्ण जगत् अथवा समूह से सर्वदा भिन्न बनाकर लाया नहीं जा सकता था, और न दास ही क्योंकि उसमें यह शक्ति अवश्य है कि वह अपने चरित्र को उन्नत कर सके। यदि उसमें यह शक्ति न होती तो वह नैतिक प्राणी न होकर पशु मात्र ही रह जाता। अत: इच्छाएँ चरित्र निर्माण में सहयोग देती है और चरित्र द्वारा ही उत्पन्न भी होती हैं।

इच्छाएँ तो अनेक होती हैं और कर्ता को उनमें से कर्म तक पहुँच पाने के लिए किसी एक इच्छा का चुनाव (choice) करना पड़ता है। वस्तुत: कर्ता उसी इच्छा को चुनता है जिसके साथ अपने आप को तदात्म्य करने से उसे यह आभास होता है कि वह सुख और सन्तोष की प्राप्ति कर सकेगा। वह उसी इच्छा को चुनता है जो कि यह आवश्यक नहीं है कि अन्य इच्छाओं से अधिक सशक्त हो, वरन् कर्ता के 'स्व' के अधिक निकट हो।

कामना (wish)—इस प्रकार की इच्छा को चुन कर कर्ता

उसे 'कामना' (wish) का स्थान देता है। अभी तक इच्छा कर्म का रूप नहीं ग्रहण कर सकी है। अब तक भी उसका स्थान मन के भीतर ही है किन्तु अब कर्ता उस इच्छा की पूर्ति के साधन, परिस्थितियों आदि की खोज करता है। यद्यपि यह क्रिया भी मानसिक ही होती है। इच्छा अथवा परिस्थितियों सहित इच्छा जिसे कामना कहा जा सकता है मानव को निश्चय की ओर ले जाती है।

निश्चय (will)—सब ओर से सोच विचार लेने पर ही कर्ता कामना को निश्चय (will) में परिवर्तित कर लेता है। यह हुआ क्रिया से पूर्व का अन्तिम मानसिक कर्म। इच्छाओं में से सब ही तो चुनी नहीं जा सकती है अतः दबाई हुई अथवा अस्वीकृत इच्छाऍ भी मानव मन मे पड़ी रह जाती है, नष्ट नहीं होती हैं। ये अस्वीकृत एवं दबी हुई इच्छाऍ कभी कभी बहुत अधिक उत्पात भी करने लगती हे और उसका परिणाम मानव कर्ता के लिए भयंकर भी हो सकता है। किन्तु दबी हुई इच्छाएँ यहाँ हमारा विषय नहीं है।

यह भी समझना भूल है कि इच्छा कोई पृथक् वस्तु है जिस पर 'स्व' (Self) का अधिकार होता है। वस्तुतः इच्छाएँ ही 'स्व' हैं। इच्छाओं के समूहों से, इच्छा-जगत् से ही 'स्व' बनता है।

इच्छाएँ दो प्रकार की होती है—व्यक्तिगत (individual) और समष्टिगत (Social or group desires) व्यक्तिगत इच्छाओं में से चयन करते समय कर्ता कुछ अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण एवं गम्भीर ढंग से कार्य करता है। समष्टिगत इच्छाओं में से चयन करते समय ठीक ऐसी ही बात हो, ऐसा नहीं होता है।

चरित्र (Character)—वह सब ही इच्छाऍ जो कि बहुत बार उत्पन्न होकर एवं दोहराई जाकर एक प्रकार की व्यापक-इच्छा (general will) का रुप धारण कर लेती है चरित्र का ही एक अंग वन जाती है। व्यापक इच्छा के अतिरिक्त वे इच्छासमूह अथवा इच्छा जगत् जिनमें यह इच्छाएं उत्पन्न हुईं और पनपीं, चरित्र के ही अंग बने रहते हैं। जो भी कुछ हो चरित्र का लक्ष्य सदा एक ध्येय होता है और इस प्रकार के सब कर्म जिनका सम्बन्ध चरित्र से जोड़ा जा सकता है सदैव किसी उद्देश्य की ओर संकेत करते हैं। किसी व्यक्ति के किसी खोटे कर्म को देखकर साधारणतया कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति बुरा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह व्यक्ति इसलिए बुरा है कि वह उस बुरे

कार्य का कर्ता है वरन् इसलिए बुरा है कि वह बुरा कार्य उसके चरित्र को और चरित्र में सम्मिलित इच्छा-समूह को दर्शाता है जो कि बुरे ही होंगे तब ही तो वहाँ उस इच्छा का जन्म हो सका जो कि इस कर्म के मूल में रही होगी। यद्यपि सदैव ऐसा ही होता हो ऐसी बात नहीं है किन्तु साधारणतया ऐसा ही माना जाता है। इच्छाओं, प्रवृत्तियों को एक विशेष ध्येय की ओर विशेष किन्तु स्वाभाविक ढंग से ले जाना ही चरित्र है। चरित्र इच्छाओं का स्वामी नहीं है वरन् वह सहज स्वभाव है जो कि एक प्रकार-विशेष की इच्छाओं को ग्रहण करता, उत्पन्न करता और कार्य करने के लिए क्षेत्र देता है। और यह सहज स्वभाव उन इच्छाओं से ही बनता है जिन्हें यह गति देता है। इसी को चरित्र कहते है।

आचरण (Conduct)—कार्य तो चरित्र की ही अभिव्यक्ति है। जो कुछ किया जाता है वही आचरण है और वही किया जाता है जो कि कर्ता का चरित्र उससे करवाता है। अतः आचरण तो चरित्र की बाह्य रूपरेखा मात्र है, वास्तविक प्रेरणा तो कर्म करने के लिए अन्तर से ही प्राप्त होती है। अतः प्रश्न यह होता है कि हम अपना नैतिक निर्णय किस पर देते हैं कर्म पर अथवा चरित्र पर अथवा आचरण पर अथवा कर्म के परिणाम को देखकर।

नैतिक निर्णय किस पर ?

कर्म-फल पर नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता है—कर्म के परिणाम को देखकर तो नैतिक निर्णय दिया ही नहीं जा सकता है क्योंकि यह तो आवश्यक है नहीं कि शिव, श्रेयकर्म का फल श्रेय ही हो। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति किसी न्यूमोनिया के रोगी की सेवा कर रहा है। रोगी की अवस्था चिन्ताजनक है और परिचारिका को उसे तीन तीन घण्टे पश्चात् औषधि देना होता है तथा बीच बीच में एक अन्य औषधि से मालिश भी करनी पड़ती है। परिचारिका जो कि उस व्यक्ति की पत्नी ही है लगातार दस दिन से दिन-रात जागकर सेवा कर रही है। ठीक समय पर दोनों औषधियाँ प्रयोग में लाई जा सकें इसी भाव से उसने दोनों औषधियाँ रोगी के प्रकोष्ठ में अपने पास ही रख ली है। रात्रि में भूल से वह पीने की औषधि के स्थान पर मलने की औषधि रोगी को दे देती है। फलस्वरूप रोगी की मृत्यु हो जाती है क्योंकि मलनेवाली औषधि विषयुक्त थी। अब प्रश्न यह है कि क्या वह स्त्री हत्यारिणी है ? क्या उसका कर्म दुष्कर्म है ? यदि केवल मात्र

परिणाम की ओर ही देखा जाय तो ऐसा मानना ही चाहिए कि वह स्त्री दोषी है और उसका कर्म दुष्कर्म है किन्तु ऐसा तो उस स्त्री की इच्छा के विरुद्ध ही हुआ है अतः इसे स्वेच्छा से किया गया कर्म तो कहा भी नहीं जा सकता है अतः फल को लेकर तो नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता है। यही नहीं, यह तो एक अत्यन्त स्पष्ट घटना थी कभी कभी तो फल कर्ता की इच्छा से सर्वथा विरुद्ध तो होता ही है कर्ता के कर्म और उसकी क्रिया द्वारा हुआ है यह कहना भी कठिन हो जाता है। अतः कर्मफल तो किसी प्रकार भी कर्ता के अधीन नहीं है। वह किसके अधीन है? यह इस समय हमारी खोज का विषय नहीं है किन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि फल को लेकर कर्म पर नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता है।[१] कर्म किस प्रकार हुआ अथवा हो रहा था इसे लेकर भी नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता है क्योंकि नैतिक निर्णय का सम्बन्ध स्थान, काल में घटित घटना न होकर उसका कर्ता के साथ आचरण रूप मे सम्बन्ध होने से है अतः वह कर्ता का आचरण है इसे लेकर नैतिक निर्णय की चर्चा की जा सकती है। किन्तु वहाँ भी कर्म का पूर्ण उत्तरदायित्व कर्म के होने पर तो है नही, वह है कर्म के उद्गम पर—जहाँ से उसे करने के लिए प्रेरणा मिलती है।

नैतिक निर्णय आचरण पर भी नहीं, वह दिया जाता है आन्तरिक कारणों पर—प्रत्यक्ष एवं प्रेरक—न तो कर्म का फल ही नैतिक निर्णय के विषय है और न वह आचरण ही। वस्तुतः नैतिक निर्णय का विषय वह आन्तरिक कारण है, प्रेरणाएँ हैं, जिनसे कार्य उत्पन्न हुआ। यह आन्तरिक कारण भी दो प्रकार के होते है। एक तो होता है प्रत्यक्ष कारण और दूसरा प्रेरक कारण। उदाहरणार्थ—एक धनी व्यक्ति के घर में आग लग गई। घर जल रहा है किन्तु एक नन्हा बालक घर मे सोता ही

---

[१] यहाँ पर यह भी देख लेना अच्छा रहेगा कि कर्मफल एक विशेष प्रकार का होने के लिए भी तो कौन उत्तरदायी है यह कहना कठिन है क्योंकि अकेला कर्ता ही तो गीता के अनुसार उत्तरदायी नही होता है। कर्म के तो पाँच कारण है और कर्ता उनमें से एक है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

गीता० १८. १४।

किन्तु यह एक भिन्न विपय है। यहाँ इसका उल्लेख-मात्र ही पर्याप्त होगा।

रह गया है। सब लोग घबरा रहे हैं। उसी समय दो व्यक्ति जलते हुए घर में बालक की प्राण-रक्षा के लिए चले जाते हैं। दोनों ही अपने प्राणों का भय किये बिना जलते हुए घर के भीतर जाते हैं। घर के भीतर जाने के कर्म का दोनों व्यक्तियों के लिए एक ही कारण है, प्रत्यक्ष कारण 'बालक की प्राणरक्षा करना' किन्तु प्रेरक कारण दोनों के लिए भिन्न भिन्न हैं। एक व्यक्ति तो बालक के पिता के व्यवसाय में नियुक्त एक कर्मचारी है। उसके लिए प्रेरक कारण था अपने स्वामी के बालक की प्राणरक्षा करके उनकी कृपा-दृष्टि प्राप्त करना जिससे शीघ्र ही निकट भविष्य में उसकी आर्थिक उन्नति हो सके। दूसरे व्यक्ति के लिए प्रेरक कारण था एक बालक की प्राणरक्षा करना क्योंकि यह मानव धर्म है। कार्य एक ही है और दो भिन्न कर्ताओं के लिए उस कार्य के प्रत्यक्ष कारण (intention) भी एक ही हैं किन्तु प्रेरक कारण (motives) में भारी भेद है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि कर्म है आग से जलते हुए घर में एक नन्हें बालक की प्राणरक्षा करने के लिए कूद पड़ना। बालक की प्राणरक्षा करने में कर्ता सफल होता है अथवा असफल यह देखना नैतिक निर्णय का विषय नहीं है। कर्ता का अग्निलिप्त घर में कूदने के कर्म करने में प्रत्यक्ष कारण भी एक ही है बालक की प्राणरक्षा किन्तु उससे भी कर्ता के चरित्र का आभास नहीं मिलता है। उससे भी यह नहीं जान पड़ता कि वस्तुतः उसे ऐसा करने की प्रेरणा देनेवाले कारण किस इच्छा समूह से उत्पन्न हुए है। अतः उसके लिए प्रेरक कारण की खोज करनी पड़ती है और ये ही चरित्र का आभास दे सकते है। वस्तुतः कर्म की नैतिकता का सम्पूर्ण भार एवं उत्तरदायित्व जिस प्रकार उसकी सफलता एवं असफलता पर नहीं डाला जा सकता है उसी प्रकार कर्म के प्रत्यक्ष कारण पर भी नहीं लादा जा सकता है क्योंकि प्रत्यक्ष कारण चरित्र की गहराइयों से उतना अधिक सम्बन्धित नहीं होता है जितता कि प्रेरक कारण। अतः नैतिक निर्णय प्रेरक कारण पर ही दिया जा सकता है। इसी पक्ष के समर्थन में श्रीयुत बटलर और श्रीयुत कान्ट अपना मत देते है। श्रीयुत बटलर तो इतना ही कहते है कि कर्म की नैतिकता का आधार उसके प्रेरक कारण का श्रेय अथवा अश्रेय होना है किन्तु कान्ट महोदय तो यहाँ तक कहते है कि कर्म का शुभ एवं शिव परिणाम उसकी नैतिकता सिद्ध नहीं करता है और इसका यह तात्पर्य होता है कि साधनों का और कर्म की प्रेरक इच्छाओं, कारणों का भी श्रेयस्कर होना ही किसी कर्म को नैतिक अथवा श्रेयस्कर बनाता है। सम्भवतः इसी भावना से, इसी सिद्धान्त के आधार पर

महाभारत के शान्ति पर्व में सनत्कुमार के आधार पर नारदजी शुक्र जी से कहते हैं :—

सत्यस्यवचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् ।
यद्भूत हितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम ॥
(३२६. १३; २८७. १६)

"सत्य भाषण करना श्रेय है किन्तु सत्य भाषण से भी अधिक श्रेयस्कर है ऐसा भाषण जिससे कि सब प्राणियों का हित हो। क्योंकि जिससे सब प्राणियों का अत्यधिक हित होता है, वह हमारे मत से सत्य है।"

अतः सत्य बोलने अथवा मिथ्या बोलने की क्रिया को न तो श्रेय ही कहा जाता है और न अश्रेय ही। उसका फल भी जो होता है वह भी तो कर्ता के अधीन नहीं है, अतः असत्य अथवा असत्य भाषण के श्रेयत्व अथवा अश्रेयत्व का निर्णय उस प्रेरक कारण अथवा भावना को देखकर ही किया जा सकता है जिससे कि कार्य किया जाता है। यदि उस बोलने के पीछे 'सर्वभूत हित' करने की भावना रही हो तब तो वह 'सत्य' अर्थात् नैतिक गुण अथवा श्रेय होगा अन्यथा नहीं। किन्तु श्रीयुत बैनथम, श्रीयुत मिल आदि कुछ विचारक इस पक्ष का भी समर्थन करते हैं कि कार्य की नैतिकता का निर्णय उसके परिणाम की जाँच करके ही दिया जा सकता है। श्रीयुत बैनथम के मतानुसार हम किसी भी कार्य को बुरा इसी लिए तो कहते हैं कि उसका परिणाम बुरा होता है। अतः परिणाम पर ही तो नैतिक निर्णय दिया जाना चाहिए अन्यथा निर्णय का और आधार हो ही क्या सकता है। मिल का भी विश्वास ऐसा ही है कि प्रेरक कारणों का कर्म की नैतिकता से अधिक सम्बन्ध नहीं जोडना चाहिए। सम्भवतः इसी दृष्टि से लेस्ली इस्टीफन यही निष्कर्ष निकालते हैं कि किसी कार्य के परिणाम को देखकर उसकी नैतिकता निश्चित की जा सकती है। और सम्भवतः इसी दृष्टि से महाभारत में भी कहा गया है :—

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीपुराजन्न विवाहकाले।
प्राणात्मये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुर पातकानि ॥
(म. भा. आ. ८२. १६; शा.१०६ मनु; ८. ११०)

"हास्य में, महिलाओं के साथ, विवाह-काल में, जब प्राण जाने की सम्भावना हो और सम्पत्ति की रक्षा के लिए झूठ बोलना पाप नहीं है।" अर्थात् फल की ओर दृष्टि रखकर ही पाप की व्याख्या की गई है।

इससे पूर्व ही हम देख चुके हैं कि किसी भी तरह परिणाम सर्वथा

मानव के, कर्ता के अधीन नहीं है और फल को कर्म का लक्ष्य भी नहीं बनाया सकता है अतः यह कहना कि परिणाम को दृष्टि मे ही रख कर किसी कर्म पर नैतिक निर्णय दिया जाय, सदैव के लिए नियम नहीं बनाया जा सकता। और यह भी सम्भावना रहती ही है कि अच्छी भावना और प्रेरणा से किया गया कर्म भी अच्छा फल न दे सके। अतः जब परिणाम का उत्तरदायित्व कर्म पर अथवा कर्म के कर्ता पर किसी भी प्रकार नहीं डाला जा सकता है तब वह कर्म नैतिकता का आधार कैसे हो सकता है। किन्तु प्रेरककारण को ही नैतिक निर्णय का विषय मान लेने से पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि प्रेरक कारण क्या है और उसमें तथा प्रत्यक्ष कारण में कहाँ भिन्नता है।

प्रेरक कारण—किसी भी कर्म के करने से पूर्व मन में तत्सम्बन्धी भावनाएँ उत्पन्न होती है और मनुष्य किसी न किसी रूप में उन्हें अपनी अनुभूति (feeling) से सम्बन्धित पाता ही है। कृपण व्यक्ति धन-संग्रह की भावना में सुखानुभूति प्राप्त करता है तब ही तो धन-संग्रह करता है। परोपकारी व्यक्ति दूसरे के उपकार की भावना में सुखानुभूति पाता है तब ही तो दूसरों का उपकार करता है। अतः प्रत्येक कर्ता कर्म करने से पूर्व उस कर्म के विचार में सुखानुभूति प्राप्त करता है किन्तु वह अनुभूति-मात्र ही उसे कर्म करने की प्रेरणा नहीं दे पाती है। उस सुखा-नुभूति को किसी ध्येय के साथ रख कर ही कर्म करने की प्रेरणा मिल सकती है अतः प्रेरक कारण में ध्येय की भावना, ध्येय अथवा उद्देश्य का विचार रहना अत्यन्त आवश्यक है। प्रेरक कारण वह विचार हो सकता है जो कि किसी ध्येय की ओर लक्ष्य रखता हो और इसी दृष्टि से वह इच्छा, कामना और तत्पश्चात् निश्चय बनकर कर्ता को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है।

प्रेरक और प्रत्यक्ष कारण, उनमें भेद—प्रेरक और प्रत्यक्ष कारण एक दूसरे से इतने अधिक सम्बन्धित हैं कि एक को दूसरे से सर्वथा पृथक् करके नहीं देखा जा सकता है। वस्तुतः यदि अत्यधिक उदार दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रेरक भी प्रत्यक्ष कारण में ही सम्मिलित दिखाई देगा। अध्यापक अथवा गुरुजन अपराध करने पर शिष्य को दण्ड देते है। दण्ड देते समय दण्ड देने के कारण अथवा कर्ता की भावना यह तो होती ही है कि जिस व्यक्ति को दण्ड दिया जाय उसे यह अनुभव हो कि उसे दण्ड दिया जा रहा है अथवा उसे कष्ट मिले

किन्तु ऐसा करने में मुख्य भावना अथवा प्रेरणा यही होती है कि बालक का सुधार हो। वस्तुतः प्रत्यक्ष कारण मे ही अर्थात् दण्ड द्वारा कष्ट पहुँचाने में ही सुधारने की भावना भी निहित है किन्तु प्रेरक कारण में प्रत्यक्ष कारण निहित नहीं होता है। प्रेरक कारण तो वह भावना अथवा प्रेरणा होती है जो कि हमसे वह कार्य करवाती है अथवा उस कार्य के करने का निश्चय करवाती है और प्रत्यक्ष कारण वह भावना होती है जो कि हम करना चाहते हैं या जिस फल की प्राप्ति चाहते हैं उसे दिखाती है। गुरुजन जब बालक को थप्पड़ मारते हे तो वह प्रत्यक्ष रूप से तो बालक को कष्ट पहुँचाने के लिए थप्पड़ मारते है किन्तु उस कष्ट पहुँचाने के कार्य के लिए अर्थात् प्रत्यक्ष कारण तक पहुँचने के लिए भी तो किसी प्रेरक की आवश्यकता है और वह है बालक के सुधार की भावना। उदार दृष्टि से देखने पर प्रत्यक्ष कारण मे ही किसी प्रकार प्रेरक कारण का समावेश किया जा सकता है किन्तु प्रेरक अथवा प्रेरक कारण प्रत्यक्ष कारण की अपेक्षा कहीं अधिक गहन, गम्भीर और कर्ता के चरित्र का अनिवार्य अंश सा ही होता है। प्रत्यक्ष कारण उसकी अपेक्षा कम गम्भीर होता है और प्रायः साधन रूप मे लक्षित एवं स्वीकृत कर्म से सम्बन्धित होते हैं। "बालक के सुधार की भावना" गुरुजनों के लिए अधिक महत्त्व की भावना है, वही उनका ध्येय है। किन्तु 'दण्ड' देना' उसके लिए एक साधन-मात्र है। इसके अतिरिक्त भी कोई अन्य साधन प्रयोग मे लाया जा सकता है। प्रेरक-कारण वही रहेगा किन्तु प्रत्यक्ष कारण कर्म में परिवर्तन भी ला सकता है। सुधार की भावना तो वैसी ही बनी रहेगी किन्तु साधन, यदि बालक को पीड़ा देकर अपराध के प्रति सचेत करना साधन न माना जाय वरन् इसके स्थान पर अधिक स्नेह अथवा कोई और साधनस्वरूप मान लिया जाय; तो कर्म का रूप "दण्ड" न होकर कुछ और भी हो सकता है। अतः प्रत्यक्ष कारण कर्म के अधिक निकट होता है जब कि प्रेरक-कारण कर्ता के चरित्र के, उसके ध्येय के अधिक निकट होता है। वस्तुतः कर्म के दोनों ही कारण हैं। प्रत्यक्ष कारण को बाह्य कारण कहा जा सकता है जब कि प्रेरक कारण आन्तरिक कारण है। जैसा कि स्पष्ट ही है प्रत्यक्ष कारण कर्म देखने से ही प्रत्यक्ष हो जाता है जब कि प्रेरक कारण तनिक सा परोक्ष ही रह जाता है। प्रत्यक्ष कारण कर्म के निकटतम लक्ष्य पर ही ध्यान रखता है जब कि प्रेरक कारण दूर स्थित ध्येय की ओर ही ध्यान देता है। प्रेरक कारण जिस ध्येय की पूर्ति को लक्ष्य लेकर चलता है प्रत्यक्ष कारण उसी उद्देश्य को कर्ता के निश्चय का लक्ष्य बनाता है।

और प्रेरक कारण जिस ध्येय को लेकर चलता है उसे श्रेय तथा इच्छा करने योग्य मान कर चलता है। प्रायः प्रेरक कारण ही प्रत्यक्ष कारण की उत्पत्ति का कारण होता है। प्रायः प्रेरक कारण 'सुख' सुख का विचार अथवा सुख की भावना सहित होता है किन्तु सदा ही ऐसा होता हो ऐसा नहीं है। कभी कभी प्रेरक-कारण सुख अथवा सुख विचार न होकर वह विचार होता है जिसमें सुख प्राप्त किया जाता है अर्थात् कर्तव्य। कर्तव्य की भावना से, विचार से ही कर्ता सुख की प्राप्ति करता है भले ही वह कर्तव्य अपने आप में सुख की भावना और सुख का विचार मात्र ही न हो। दूसरी ओर यह भी आवश्यक नहीं है कि सदा सर्वदा प्रेरक कारण कर्तव्य विचार ही हो। यह तो तब ही सम्भव हो सकता है जब कि कर्ता का इच्छा समूह कर्तव्य ज्ञान एवं कर्तव्य विचार से ही ओत-प्रोत हो। अतः यदि चरित्र कर्तव्य विचार प्रधान होगा तो कर्ता का कर्म प्रेरक कारण कर्तव्य रूप होगा और यदि कर्ता की चरित्र सुख प्राप्ति की भावना से ओत-प्रोत होगा तो उसके कर्म का प्रेरक कारण भी सुख प्राप्ति ही होगा। प्रेरक-कारण तो हमारे चरित्र अथवा इच्छा समूह का वह अनिवार्य अंश है जो कि उसे ध्येय की ओर ले जाने के लिए कर्म करने की प्रेरणा देता है, उधर ले जाता है। इस प्रकार प्रेरक-कारण चरित्र और आचरण के बीच में रहता है। वह चरित्र को आचरण तक ले जाने में सहायक होता है, गति देनेवाला होता है। यदि प्रेरक सशक्त एवं सबल न हो तो विचार, इच्छा, कामना और निश्चिय मन तक ही सीमित रह जाए कार्यरूप में परिणत न हो सकें। प्रेरक उन्हे कर्म की, कार्य की ओर ले जाता है। यही उसका महत्त्व भी है। तब क्या श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार 'निष्काम कर्म' का अर्थ यही है कि फल की इच्छा एक बारगी कर्त्ता के मन में हो ही नहीं। सम्भवतः बात ठीक ठीक ऐसी नहीं है। देखना यह है कि 'फल' से हम क्या तत्पर्य लेते है। यदि फल का अर्थ उस कल्पना से हो जो कि कर्ता ने कर्म करने से पूर्व निश्चय करते हुए की थी तो अवस्था भिन्न हो जाती है। यदि हम कर्मफल से वह अर्थ लें जो कि सम्भवतः श्रीयुत मिल ने लिया था और जिस दृष्टि से उन्होंने प्रत्यक्ष कारण को कर्म की नैतिकता का उत्तरदायित्व दिया था तब तो हमें यह मानना पड़ेगा कि कर्म-फल का सम्बन्ध नैतिकता से है क्योंकि उस अवस्था में हम कर्म-फल का वह रूप नहीं लेते है जो कि क्रिया के पश्चात् दिखाई देता है वरन् वह रूप लेते है जिसे उपस्थित करना कर्ता का निश्चय था और उसने वैसा निश्चय यह सोचकर, मान

कर ही किया होगा कि वह श्रेय है। यदि ऐसा न होता तो वह उस कर्म के करने का अथवा उस कर्म-फल को उत्पन्न करने का निश्चय ही न करता। अतः ऐसी अवस्था में कर्म-फल का घटना रूप में ही नहीं वरन् कर्ता के विचार रूप में भी अस्तित्व स्वीकार किया जाता है और उसी अवस्था में ही उसकी नैतिकता अथवा अनैतिकता को स्वीकार किया जाता है क्योंकि सम्भव है कि जो कर्म-फल वास्तव में उत्पन्न हुआ है उसकी कल्पना भी कर्ता को न रही हो अतः उसके लिए कर्ता को निश्चय ही उत्तरदायित्व नहीं बनाया जा सकता है। यह तो मनोवैज्ञानिक सत्य है कि कर्ता फल का विचार करता ही है अतः यह कहना तो कठिन है कि वह फल की कल्पना, फल की इच्छा ही न करे क्योंकि कर्म तो वह इसीलिए करता है कि वह एक विशेष प्रकार का परिणाम उपस्थित करना चाहता है किन्तु यह विचारणीय है कि फलेच्छा ही प्रेरक कारण हो अथवा प्रेरक कारण कुछ और ही हो। सम्भवतः गीता के उपदेश का तात्पर्य यही है कि हम फल प्राप्ति की अथवा एक विशेष प्रकार की फल-प्राप्ति की इच्छा अथवा आशा-मात्र से प्रेरणा लेकर कार्य करने का निश्चय न करें क्यों वस्तुतः फल प्राप्ति हमारे अपने अधिकार में है ही नहीं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्व कर्मणि॥

गी० २.४७.

कर्म करने भर ही का तेरा अधिकार है। फलप्राप्ति तेरे अधिकार में नहीं है। इसलिए मेरे कर्म का अमुक ही फल मिले यह कारण मन में रख कर काम करनेवाला मत बन और न कर्म न करने का ही निश्चय कर। अतः गीता के मतानुसार भी कर्म का घटना रूप में फल न तो प्रेरक ही होना चाहिए और न नैतिकता का आधार। जब कि वह प्रेरक अथवा कर्म करने का निश्चय करने का आधार ही नहीं हो सकता है तो फिर उसके आधार पर कर्म की नैतिकता का निश्चय करना एवं कर्ता के चरित्र पर नैतिक निर्णय देना उचित नहीं है। अतः कर्मफल केवल मात्र कर्ता के विचारों में लक्ष्य अथवा ध्येय रूप से ही कर्म की नैतिकता से सम्बन्धित हो सकता है अन्यथा नहीं और उस रूप में वह ठीक ठीक कर्मफल न होकर होता है केवल मात्र निश्चय का लक्ष्य-मात्र।

चरित्र एवं आचरण—हम देख ही चुके है कि किसी भी व्यक्ति का समस्त व्यक्तित्व उसके सब ही इच्छा-समूह, विचारादि के सहित

उसका 'स्व' (Self) अथवा चरित्र होता है। वस्तुतः उसके समस्त विचार एवं आदर्श परस्पर सम्बन्धित एवं गुथे हुए होते है और उन सब का सम्मिलित एक अन्तर्जगत् बन जाता है। वही अन्तर्जगत् अपनी व्यवस्था रीति-नीतिसहित व्यक्ति की इच्छाएँ बनाने में उत्तरदायित्व लेता है और वही उसका चरित्र होता है। मानव की मनोवृत्तियों को उसका चरित्र कह सकते हैं। किन्तु इसमें उसकी चेतन, जानी-बूझी, विचार का विषय बनी हुई इच्छाएँ, स्वभाव, निश्चय आदि सम्मिलित होते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः किसी भी व्यक्ति के जो कुछ अन्तर में है वही उसका चरित्र है। आचरण इसी चरित्र की कार्यों द्वारा अभिव्यक्ति होती है। आचरण में उन्हीं कामों की गणना हो सकती है जो कि चेतन विचार का विषय है और जिन्हे चुन, समझ कर एक ध्येय की ओर जाने के लिए किया जाता है। ऐसा करते हुए वह ध्येय भी कर्ता की दृष्टि में स्पष्ट रहता है तथा उसका कर्ता स्वयं ही चयन करता है।

परिस्थितियाँ—चरित्र और आचरण के बीच एक और विचारनीय विषय है परिस्थितियों का प्रभाव। चरित्र है आन्तरिक और आचरण है बाह्य। चरित्र से आचरण तक पहुँच पाना कर्ता की ही शक्ति पर, इच्छा पर निर्भर रहता हो, सो बात नहीं है। चरित्र को आचरण तक ले जाने में अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों का प्रभाव भी रहता ही है। अतः परिस्थितियों का समझ लेना भी आवश्यक है। परिस्थिति उन बाह्य अवस्थाओं को कहते है जो कि आन्तरिक जीवन तक पहुँचती है और उस पर प्रभाव डालती है। यह भी देखना आवश्यक है कि उन बाह्य अवस्थाओं को कर्ता किस भाव से ग्रहण करता है। परिस्थितियाँ मानव के चरित्र पर भी प्रभाव डालती है और उसके निश्चयों के निर्धारित करने में भी किसी सीमा तक अपना हाथ रखती ही है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति देश की स्वाधीनता के युद्ध में सक्रिय भाग लेने का निश्चय करता है। वह गृहत्याग कर स्वतंत्रता-संग्राम के लिए जाने का निश्चय कर चुका है किन्तु जिस दिन उसे जाना होता है उसी दिन उसकी प्रिय पत्नी कोठे से गिर पड़ती है और कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो कि उनकी सेवा कर सके अतः उसे रुक जाना पड़ता है। व्यक्ति का निश्चय पूर्ण था किन्तु परिस्थितियों ने उसे कार्यान्वित न होने दिया। परिस्थितियों का मानव के निश्चय को पूर्ण करने मे कितना हाथ है यह प्रश्न दूसरा हो जाता

है किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि परिस्थितियाँ कर्म के किए जाने में अपना स्थान और प्रभाव रखती हैं।

नैतिक गुण—वस्तुतः यथार्थ ज्ञान, विवेक ही नैतिक गुण है। सुकरात का तो यहाँ तक विश्वास था कि कोई भी व्यक्ति सज्ञानावस्था में, निश्चय करके शिवेतर, अश्रेय कार्य नहीं करता है। वरन् वह यदि अश्रेय भी करता है तो श्रेय के ज्ञान से विहीन होने के ही कारण, अतः अज्ञानता ही उसके अश्रेय कर्म करने का कारण होती है। अतः यथार्थ ज्ञान ही नैतिक गुण है। अरस्तु का मत था कि नैतिक जीवन वह है जिसमें कि कर्ता स्वभाव से ही श्रेयस्कर कर्म करे। वस्तुतः नैतिक गुण का अर्थ तो है श्रेय की, उचित की, शिव की ओर ही स्वाभाविक रीति से मनोवृत्तियों का झुकना, और ऐसी मनोवृत्ति भी तो तब ही उत्पन्न होती है जब कि कर्ता को यह विवेक हो, ज्ञान हो कि क्या उचित है, श्रेय है और फिर बुद्धि विवेक के द्वारा सोच समझ कर श्रेय को ही स्वाभाविक ढंग से चुन पाना, उसकी ओर ही वृत्ति, स्वाभाविक झुकाव होना ही नैतिक गुण है। अतः नैतिक गुण उचित और श्रेय की ठीक ठीक पहचान होने को कहते है। किन्तु यह पहचान स्वाभाविक और सहज ही होनी चाहिए और फिर श्रेय को चुनकर, श्रेय का ही निश्चय करना इसी गुण का एक अंग है। इस प्रकार श्रेय की ओर स्वाभाविक झुकाव होना और श्रेयस्कर कर्म करने में ही सुख की प्राप्ति करना तथा स्वभाव से ही उचित और श्रेय को चुनना नैतिक गुण ही है। कर्ता इस प्रकार के चुनाव में जो कि उसका स्वभाव ही बन गया है सुख की भी प्राप्ति करता है। वही उसे सहज एवं सरल मार्ग जान पड़ता है। 'संयम' नैतिक गुण है। संयमी वही व्यक्ति कहला सकता है जिसका कि संयम स्वभाव ही बन गया हो जिसे संयम करने के लिए हर बार अन्तर्द्वंद्व का सामना न करना पड़ता हो, जो हर बार संयम का अवसर आने पर अपने आपसे बहुत अधिक संघर्ष करके ही संयम न कर पाता हो वरन् उसके लिए तो संयम करना ही न करने से अधिक सहज और सरल होता हो। तब ही उसे हम संयमी कह सकेंगे।

अध्याय ५

नैतिक निर्णय के प्रकार

(१) नैतिक निर्णय के प्रकार—स्वनिर्णय, पर-निर्णय— यह तो हम देख ही चुके हैं कि नैतिक निर्णय का विषय आचरण अथवा स्वेच्छाकृत कर्म होता है। इस प्रकार के कर्म का आधार चरित्र होता है और चरित्र का आधार अथवा केन्द्र 'स्व' अथवा कर्ता होता है अतः श्रीयुत एडम स्मिथ के शब्दों में नैतिक निर्णय मानव के, कर्ता के अन्तर और बाह्य स्वरूप पर किया जाता है। अर्थात् नैतिक निर्णय का विषय कर्ता का अन्तर (उसका चरित्र और चरित्र से तात्पर्य है उस कर्म के प्रेरक एवं प्रत्यक्ष कारणों तथा उनकी पृष्ठभूमिका से) भी है और उसका बाह्य भी (उसका आचरण) है। कर्ता के आचरण के लिए निर्णायक उसका अन्तर अर्थात् भीतरी निष्पक्ष साक्षी भी होता है। इसी प्रकार के निर्णय को स्वनिर्णय भी कह सकते हैं। मानव के भीतर ही उसका 'उच्चस्व' (higher self) भी तो रहता है जिसके निर्णय स्वयं अपने कार्यों पर भी उच्च भूमिका से खड़े होकर दिये जाते हैं। इस प्रकार नैतिक निर्णय के दो ढंग होते हैं एक तो स्व अपने कार्यों पर विचार करके नैतिक निर्णय देना अर्थात् स्वनिर्णय (self judgement) और दूसरा पर-निर्णय (judgement on others) अर्थात् दूसरों के कार्यों पर नैतिक निर्णय देना। मनुष्य स्वयं भी तो भी कभी कभी कहता है कि मैंने यह बुरा किया। यह आवश्यक नहीं है कि कार्य का चुनाव करते समय वह यह ज्ञान रखता हो कि यह कर्म बुरा है। यदि ऐसा होता तो वह उस कर्म का चयन ही न करता किन्तु निर्णय करते समय उसका 'उच्चस्व' निर्णायक के रूप में ऐसा निर्णय दे सकता है। दूसरों के कार्यों पर तो हम सही नैतिक निर्णय दिया ही करते है। इस प्रकार के निर्णय के भी दो भाग होते है। एक भाग में तो नैतिक निर्णय दिया जाता है अथवा नैतिक तथ्य (actual morals—ethical facts) दिये जाते हैं और दूसरे भाग में वह मापदण्ड अथवा सिद्धान्त होते हैं

जिनके आधार पर वह निर्णय दिया जाता है। यह दोनों भाग परस्पर इतने अधिक घुले-मिले होते हैं कि एक को दूसरे से प्रायः स्पष्ट रूप से पृथक् नहीं किया जा सकता है। नैतिक निर्णय नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर नैतिक मापदण्ड के अनुसार स्वेच्छाकृत उन्हीं कर्मों पर जो कि नैतिक माने जा सकते हैं, दिया जाता है। अब इनमें भी नैतिक निर्णय किसी एक कर्म-विशेष पर भी दिया जा सकता है और कर्म-श्रेणी पर भी। कर्म-श्रेणी पर दिये गये नैतिक निर्णय देना अपेक्षाकृत अधिक सरल होता है।

(२) वर्णनात्मक, प्रशंसात्मक—नैतिक निर्णय दो प्रकार के होते हैं वर्णनात्मक और प्रशंसात्मक अथवा मतदायक। आचार-शास्त्र का सम्बन्ध मतदायक अथवा प्रशंसात्मक निर्णयों से ही होता है। इन निर्णयों का आधार परम्पराएँ, विश्वास एवं सिद्धान्त होते हैं और इनकी मान्यताएँ भी दो प्रकार की होती हैं। एक तरह की मान्यता वह होती है जिसमे सिद्धान्त को परिस्थितियों के साथ विचार का विषय बना कर कर्म पर निर्णय दिया जाता है। ऐसी अवस्था में किन्हीं विशेष परिस्थतियों में सिद्धान्तविशेष का उल्लंघन अश्रेय नहीं भी माना जा सकता है। सिद्धान्त की पूरी मान्यता स्वीकार करते हुए भी अपवादों के लिए स्थान रख ही लिया जाता है। दूसरी तरह की विचारधारा में सिद्धान्तों का सदा-सर्वदा मान्य होना ही सर्वोपरि रहता है। अर्थात् किसी भी अवस्था में अपवाद स्वीकार नहीं किया जाता है। उदाहरणार्थ—

महाभारत में ही एक स्थान पर कहा गया है—

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
न मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः॥

(म. भा. अनु० १४४. १९)

जो व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए, परार्थ के लिए, हास्य में भी झूठ नहीं बोलते उन्हीं को स्वर्ग मिलता है।

और दूसरे स्थान पर कहा गया है:—

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु...आदि

अर्थात् हास्यादि में झूठ बोलना पाप नहीं है।

सम्भवतः यह प्रश्न आज भी विवादास्पद है कि कर्म पर विचार परिस्थितियों को छोड़ कर करना चाहिए अथवा परिस्थितियों को ध्यान मे रख कर ही नैतिक निर्णय देना चाहिए। यदि हम 'श्रेय' या 'उचित' का

मूल्याङ्कन उनके चिरन्तन सत्य होने की दृष्टि से करते हैं तब तो परिस्थितियों का विचार छोड़ना ही पड़ेगा। यदि वह सिद्धान्त किसी अन्य मूल्य (Value) से सम्बन्धित न होकर अमर, चिरन्तन और स्वयंभू रूप से सत्य है, मूल्यवान् हैं, यदि उन्हे मूल्यवान् होने के लिए किसी अन्य सत्य पर आश्रित नहीं रहना पड़ता है, यदि उनका ध्येय-मूल्य (end-in-themselves) है, यदि उनका स्वमहत्त्व है, निजी मूल्य (Intrinsic Value) है, और यदि श्रेय तथा उचित मानव के लिए भी ध्येय-मूल्य, निजी-मूल्य रखते हैं तब तो अपवादों को स्थान देना ठीक नहीं होगा, किन्तु यदि इन सब का मूल्य साधन रूप से ही हो तो 'अपवाद' का विषय भी विचारणीय होगा। अतः यह भी तो निश्चित करना है कि जीवन में कुछ ऐसे सत्य हैं भी जिनका कि निजी अथवा ध्येय रूप में मूल्य हो। ऐसा हो जाने पर यह भी जानना कुछ सरल हो जायेगा कि मानव जाति रीत्याचार से विवेकाचार के स्तर तक कैसे पहुँची है। रीत्याचार का सम्बन्ध तो सम्बन्धित मूल्य अथवा साधन-मूल्य (Relative Value, Instrumental Value) से है जब कि विवेकाचार का सम्बन्ध ध्येय-मूल्य अथवा निजी मूल्य से होता है। अतः व्यक्ति की भाँति ही जातियाँ भी रीत्याचार का पालन करते हुए जब सांस्कृतिक उन्नति की ओर बढ़ने लगती हैं तब ही उन्हें नवीन मूल्यांकन स्तरों का आभास मिलता है और नवीन मूल्य उन्हें विचार करने को विवश करते हैं। परम्पराएँ, प्रथाएँ और पुरातन विश्वास उन्हें एक ओर ले लाना चाहते है और नवीन मूल्य तथा तत्सम्बन्धी प्रेरणाएँ उन्हे दूसरी ओर खींचना चाहती है और इसी से जातियों के विचारों में भी अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होता है जो कि नैतिक उन्नति का सूचक होता है। यह जातियों को विचार करने को प्रेरित करता है और फलस्वरूप नवीन मूल्यांकन होने लगते हैं तथा जातियाँ विवेकाचार की ओर अग्रसर होती हैं। नैतिक उन्नति के लिए यह अवस्था आवश्यक है। इसी को पार करके सत्य के अनश्वर चिरन्तन स्वरूप तक पहुँचा जा सकता है। और यही नैतिक उन्नति का ध्येय है। अनन्त सत्य की खोज ही तो नैतिकाचार का अन्तिम लक्ष्य है। अतः नैतिक निर्णय एक तो स्वयं अपने आप अपने ही कर्मों पर दिये जाते हैं और दूसरे अपने द्वारा दूसरों के कर्मों पर। इन निर्णयों का आधार होते हैं परम्पराएँ, तर्क और बुद्धि। किन्तु इन दोनों के अतिरिक्त कुछ निर्णय स्वतःसिद्ध (self evident) भी होते हैं।

स्वतःसिद्ध—अधिकतर नैतिक निर्णय 'श्रेय' और 'अश्रेय,' 'उचित'

और 'अनुचित के ही रूप में दिये जाते हे। ये ही दो प्रकार के निर्णाय विभिन्न मापदण्डों का आधार लेकर विभिन्न रूपों में विभिन्न व्याख्यांसहित दिखाई देते है। सर्वप्रथम इन दोनों को ही समझ लेना अच्छा होगा। यह इसलिए भी आवश्यक है कि आचार-शास्त्र व्यक्तिगत भावनाओं का, रुचि अरुचि का आधार लेकर तो चल ही नहीं सकता है उसे तो सर्वस्वीकृत स्वतःसिद्ध सत्य का आधार लेना पड़ता है। एक व्यक्ति की रुचि दूसरे से भिन्न हो सकती है किन्तु नैतिक निर्णाय में व्यक्तिगत रुचि-अरुचि को स्थान एवं महत्त्व नहीं दिया जाता है। यदि ऐसा न होना तो नैतिक शास्त्र सर्वजनसम्मत शास्त्र ही न हो पाता। हो सकता है कि मानव जिस समय रीत्याचार तक ही पहुँच पाया था उसके 'श्रेय' और 'उचित' का मापदण्ड देश, काल, जाति आदि की रीति, प्रथाएँ, विश्वास आदि हों किन्तु वह तो नैतिक उन्नति की प्रारम्भिक भूमिका-मात्र हीथी। विवेकाचार का आधार उससे कुछ ऊँचा है, और है व्यक्ति की, जाति की, मनुष्यविशेष, जाति-विशेष, आदि सब ही प्रकार की रुचि-अरुचि से परे। उसे इस प्रकार के वन्धन सीमित नहीं कर पाते हे। उसका आधार, उसका प्रमाण 'स्वतः प्रमाण सत्य' होना ही है। अतः यह जान लेना आवश्यक है कि इस प्रकार के 'श्रेय' 'उचित' का क्या स्वरुप होना चाहिए। पहले हम 'श्रेय' को ही समझने का प्रयत्न करेगे। सम्भवतः 'श्रेय' अपेक्षाकृत अधिक पुरातन भी है।

'श्रेयत्व' अमूर्त है—प्रायः दैनिक जीवन में 'श्रेय' अथवा 'अश्रेय' अच्छे अथवा वुरे का प्रयोग किया जाता है। किसी वस्तु की अथवा कर्म की यदि कोई व्यक्ति प्रशंसा करे और हम उससे सहमत न हों तो तुरन्त कह उठते है "क्यों भई उसमें अच्छाई क्या है?" अर्थात् कोई वस्तु अथवा कर्म प्रशंसनीय तव ही हो सकता है जव कि उसमें कुछ अच्छाई है अथवा वह अच्छा है, किन्तु देखना यह है कि यह 'अच्छा', 'श्रेय' क्या है। प्रायः इतना तो स्पष्ट ही है कि 'अच्छा', 'श्रेय' वह है जिसका मूल्य हो अथवा जिसका मूल्यांकन हो सके। यह हम देख ही चुके हैं कि मूल्य दो प्रकार का होता है। एक है निजी मूल्य (Intrinsic value) अर्थात् जिसका मूल्य प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य ध्येय आदि की ओर संकेत न करना पड़े, जिसका मूल्य स्वतःसिद्ध हो, जो अपने आप में ही मूल्यवान् हो। और दूसरा साधन-मूल्य (insttumental value) अर्थात् जो अपने आप

में मूल्यवान् न होकर किसी अन्य ध्येय तक पहुँचने के साधन के रूप में मूल्य रखता हो। यदि आपको छत तक पहुंचना है तो सोपान केवल मात्र साधन रूप में ही मूल्यवान् है। आपका लक्ष्य है छत पर पहुँचना, कुछ सोपान नहीं। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि मनुष्य का ध्येय··· अन्तिम लक्ष्य सर्वाधिक, सर्वोत्तम श्रेय (Summum Bonum) है तो उसका निजी मूल्य होना चाहिए। यदि उस तक पहुंचना मानव का कर्त्तव्य है तो यह मान लेना ही उचित है कि वह ध्येय रूप में निजी मूल्य रखता है। दूसरी बात यह भी है कि अन्य सब ही वस्तुओं का, कर्मों का मूल्यांकन हम उनके 'श्रेयत्व' के आधार पर ही तो करते हैं। अतः श्रेय, विशेषतया सर्वोच्च श्रेय का मूल्य तो किसी और आधार से सम्बन्धित नहीं होना चाहिए अन्यथा वह सर्वोच्च ही नहीं होगा। अतः सर्वोच्च श्रेय को निजी रूप से मूल्यवान् मान लेना पड़ता है। हमने अन्य वस्तुओं एवं कर्मों के मूल्य को उनके श्रेयत्व के आधार पर ठहराना चाहा है। अब प्रश्न यह हो सकता है कि यदि श्रेयत्व मूल्याधार हो सकता है तो क्या वह माप-तौल का विषय भी हो सकता है। यदि हमें यह कहना हो कि यह कर्म उसकी अपेक्षा अधिक अच्छा है, श्रेयस्कर है तो क्या इसका और उसका श्रेयत्व मापा जा सकता है? प्रश्न तनिक विचित्र सा होते हुए भी अत्यावश्यक है। वस्तुतः कर्मों का चयन करते समय तो हम उनके श्रेयत्व की माप करते ही है। हम यह कहते ही हैं कि मैं यह कर्म इसलिए चुन रहा हूँ कि यह उसकी अपेक्षा अधिक अच्छा है किन्तु यह अवस्था केवल चयन करने के ही लिए हो सकती है क्योंकि यद्यपि पर-सेवा श्रेयस्कर है और पुत्र का परीक्षोत्तीर्ण हो जाना भी श्रेयस्कर है। पहला कर्म दूसरे की अपेक्षा अधिक श्रेय है किन्तु पिछले ढंग के दो कर्मों को मिला कर पहले एक के बराबर नहीं किया जा सकता है। अर्थात् निम्नतर श्रेय किसी भी संख्या में क्यों न हों उच्चतर श्रेय का स्थान नहीं ले सकते हैं अतः श्रेयत्व यद्यपि चयन काल में मापा जाता है किन्तु वह माप आदि की वस्तु नहीं है। तब फिर यही कहा जा सकता है कि श्रेय अमूर्त (abstract) है।

जीवनादर्श में श्रेय का स्थान—जीवनादर्श (Ideal of life) सम्पूर्ण वस्तु है जिसमें प्रत्येक श्रेय अपना स्पष्ट स्थान रखता है। अर्थात् जीवनादर्श तक पहुँच पाने के लिए कई प्रकार के श्रेय कर्मों को लिए दिये ही चलना पड़ता है यद्यपि उन में से कोई भी एक दूसरे का स्थानापन्न

नहीं हो सकता है वरन् सब ही अपना अपना स्थान रखते हैं किन्तु अभी तक हम अपने मौलिक प्रश्न का उत्तर नहीं पा सके कि 'श्रेय' क्या है। साधारणतया हम यह कह सकते हैं कि श्रेय वह है जिसका कुछ नैतिक मूल्य हो, जिसे नैतिक दृष्टि से मूल्यवान् कह सकें तथा श्रेय वह है जो कि सब ही नैतिक निर्णयों में व्याप्त है। इतना तो हुआ किन्तु हमारी वास्तविक कठिनाई तो तब दिखाई देती है जब कि हम 'श्रेय' की परिभाषा देना चाहते हैं और डा० मूर के मतानुसार तब हम बड़ी भारी प्राकृतिक सी भूल (Naturalistic fallacy) कर जाते हैं। वस्तुत: हमारा उद्देश्य तो होता है श्रेय की परिभाषा देना किन्तु हम श्रेय की परिभाषा न देकर किसी अन्य ही वस्तु की परिभाषा कर जाते हैं जो कि श्रेय होती है और इस प्रकार की भूल करने का कारण यह है कि हम श्रेय तथा किसी अन्य ही वस्तु को एकाकार करके देखने लगते हैं। जब भी कभी हम 'श्रेय' का लक्षण करने का प्रयत्न करते हैं तब अधिकतर तो हम उसे अधिक शब्दों द्वारा व्याख्या करके समझाना ही चाहते हैं अथवा उसका उपयोग, विषय आदि बताने लगते हैं। श्रेय के विश्लेषण करने का प्रयत्न करके भी हम वैसा कर नहीं पाते हैं क्योंकि 'श्रेय' विश्लेषण का विषय ही नहीं है अत: केवलमात्र उसकी अथवा किसी श्रेय वस्तु की व्याख्या मात्र ही कर पाते हैं। 'श्रेय' मिश्रित गुण तो है ही नहीं जिसके अंगों को पृथक् करके उसका विश्लेषण किया जा सके।

श्रेय अद्वितीय, अत्यधिक सरल विचार—अत: डा० मूर के विचारानुसार 'श्रेय' एक अद्वितीय, अत्यधिक सरल विचार (Unique simple notion) है। इसके भाग नहीं है अत: इसकी परिभाषा नहीं की जा सकती है। जिस प्रकार 'पीली पेनसिल' कहकर पेनसिल में पीले रंग की स्थापना तो बताई जा सकती है किन्तु इससे पीले रंग की परिभाषा नहीं दी जा सकती है, उसी प्रकार अच्छा कर्म कहकर वह कर्म तो दिखाया जा सकता है जो कि अच्छा है किन्तु वह अच्छे के अतिरिक्त कुछ और भी है। श्रेयत्व तो उसका गुण है। उसे विशेषण होने के नाते अपने विशेष्य के साथ एकाकार नहीं किया जा सकता है। अत: इस प्रकार की परिभाषा जिसमे कि विशेषण को विशेष्य के साथ मिला दिया हो, ठीक नहीं होगी। इस प्रकार से श्रेय वस्तु तो दिखाई जा सकेगी किन्तु 'श्रेय' अथवा 'श्रेयत्व' नहीं बताया जा सकेगा। यही कारण है कि 'श्रेय' की विभिन्न परिभाषाओं की अलोचना करके उन्हे अशुद्ध ठहराना भी ठीक

नहीं है क्योंकि श्रेय की बहुत सी विशेषताएँ आदि हो सकती हैं अतः उनमें से किसी को भी अशुद्ध नहीं कहा जा सकता है यद्यपि कोई भी एक 'श्रेय' की परिभाषा भी नहीं हो सकती है।

हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि श्रेयत्व गुण है, द्रव्य नहीं क्योंकि द्रव्य के और भी गुण हो सकते है। एक व्यक्ति श्रेय व्यक्ति होते हुए पिता भी हो सकता है, लम्बा भी हो सकता है, चित्रकार भी हो सकता है आदि आदि। पुस्तक अच्छी होने के अतिरिक्त लाल भी हो सकती है आदि आदि। अतः श्रेयत्व गुण ही हुआ। सिजविक (Sidgwick) ने बेनथम (Bentham) की इस भूल की ओर संकेत भी किया है। बेनथम ने श्रेय की परिभाषा उसे व्यापकानन्द (general happiness) कहकर करना चाहा है किन्तु व्यापकानन्द श्रेय हो सकता है फिर भी श्रेय व्यापकानन्द में ही सीमित नहीं भी हो सकता है अतः वह श्रेय की परिभाषा नहीं हो सकती है। वस्तुओं का, द्रव्यों का आन्तरिक अथवा निजी गुण (intrinsic quality) होने के कारण श्रेय का लक्षण देना कठिन हो जाता है।

श्रेयत्व का अंश इच्छित वस्तु और इच्छुक दोनों में ही रहता है—प्रोफेसर फील्ड के मतानुसार जब हम किसी वस्तु की इच्छा करते हैं तो उसको ध्येय मान लेते हैं, अतः श्रेयत्व का अंश इच्छित वस्तु और इच्छुक दोनों में ही रहता है तब ही तो वह वस्तु अपने श्रेयत्व की अपील इच्छुक व्यक्ति से कर पाती है क्योंकि इच्छुक व्यक्ति केवल मात्र उस वस्तु से अज्ञ ही नहीं होता है वरन् प्रभावित भी होता है। श्रेय वस्तु इच्छित वस्तु भी बन जाती है। अतः श्रेय एक ऐसा अद्वितीय गुण है जिसकी परिभाषा भी नहीं की जा सकती है और जिसे विश्लेषण का विषय भी नहीं बनाया जा सकता है। यह तो वस्तुओं का निजी गुण है और हम यद्यपि इसे पहचान पाते है अन्तर से ग्रहण कर पाते हैं किन्तु शब्दों द्वारा परिभाषा रूप में व्यक्त नहीं कर पाते है। हमने अभी देखा था कि श्रेय वस्तु इच्छा का भी विषय बन जाती है किन्तु इसका कारण श्रेयत्व का इच्छा से सम्बन्ध होना नहीं है वरन् हमारी आवश्यकता से सम्बन्धित होना है। आवश्यकता का सम्बन्ध बाह्य जगत् से है किसी बाह्य जगत् से सम्बन्धित प्रवृत्ति का सन्तुष्ट किया जाना ही सम्भवतः आवश्यकता का उद्देश्य है। अतः 'श्रेय' और 'इच्छित' यह दोनों न तो पर्यायवाची शब्द ही है और न एकाकार ही। तब यह तो साधारणतया माना जा

सकता है कि श्रेय परिभाषा का विषय नही है किन्तु वह वस्तुओं के साथ जिन सम्बन्धों में प्रकट होता है वह सम्बन्ध परिभापा के विषय हो सकते हैं। हम उनके कुछेक रूपों की परिभाषा तो दे ही सकते हैं। श्रेय ही मूल्यांकन का आधार है और मूल्यांकन द्वारा ही नैतिक निर्णय दिया जाता है। अत: श्रेय नैतिक निर्णय का एक प्रकार अवश्य है। डा० मूर के मतानुसार मूल्य भी यद्यपि मेरी सृष्टि नहीं है, मेरे अधिकार में भी नहीं है फिर भी वह मेरे दिये गये नैतिक निर्णय से सम्बन्धित है। अत: वह मुझसे सम्बन्धित तो है ही और जिस मूल्य से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है उसका अस्तित्व मेरे लिए नहीं के ही बराबर है।

सर्वोत्तम श्रेय सर्वोच्च मूल्य के कारण मूल्यवान्—अब यदि हम अपने प्रारम्भिक प्रश्न पर आ जाएँ अर्थात् यह देखें कि सर्वोत्तम श्रेय (Summum Bonum) क्या है तो सम्भवत: हमे कहना पड़ेगा कि सर्वोच्च श्रेय वह है जो कि निश्चित रूप से उस सर्वोच्च मूल्य के कारण मूल्यवान् है जो कि मानव के लिए अग्राह्य नहीं है। अत: वही सर्वोच्च श्रेय हो सकता है जिसका मूल्य मानव के लिए ग्राह्य हो सके।

यद्यपि डा० मूर ने श्रेय के विषय में अनेक अमूल्य विचारों पर प्रकाश डाला है फिर भी उनके मत से सब ही विचारक सहमत हों ऐसी बात नहीं है। मेकञ्जी के ही मतानुसार सम्भवत: डा० मूर ने यह भूल की कि उन्होंने यह मानना चाहा कि हम 'श्रेय' को एकाकी एकान्त रूप से बिना उन वस्तुओं से सम्बन्धित किये जो कि श्रेय हैं समझ जायेंगे। किन्तु डा० मूर ने तो कहीं ऐसा दावा किया नहीं है अत: हो सकता है कि यह उनकी भूल न भी हो। उन्होंने तो केवल इसी मत का प्रतिपादन करने की चेष्टा की है कि 'श्रेय' को परिभाषा में बाँधा नहीं जा सकता है। यह हो सकता है कि डा० मूर केवल ध्येयस्वरुप अथवा निजी मूल्यवान् श्रेय (intrinsic good) की ही ओर ध्यान दे रहे हों जब कि मेकञ्जी का ध्यान साधन श्रेय (instumental good) की ओर हो और साधन श्रेय को उन्होंने सम्भवत: इसी दृष्टि से परिभाषा भी दी है। उनकी दृष्टि में श्रेय, सम्भवत: साधन श्रेय वह है जो कि किसी ध्येय अथवा उद्देश्य की पूर्ति में उपयोगी हो।

नैतिक श्रेय—नैतिक श्रेय का सम्बन्ध नैतिक मूल्य से ही हो सकता है और इस प्रकार का मूल्य वही हो सकता है जो कि कर्ता को वस्तुओं के ध्येय रुप मे मूल्य तक पहुँचाने में सहायक हो। किसी भी कार्य

को नैतिक दृष्टि से श्रेयस्कर तब ही कहा जा सकता है जब कि वह किसी न किसी रूप में सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम् अथवा सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की ओर ले जानेवाला हो। इसका तो यही तात्पर्य हुआ कि नैतिक श्रेय अनन्त शिव, चरम श्रेय की ओर ले जानेवाला होता है। यह ध्येय भी है और साधन भी। श्रेयस्कर कर्म साधन के रूप में चरम श्रेय की ओर ले जानेवाले होते हैं जो कि ध्येय है। इसी दृष्टि से भारतीय दर्शनकारों ने नैतिक जीवन को ब्रह्मज्ञान के लिए आवश्यक माना है। चरम सत्य की प्राप्ति के लिए सत्य-शिव मार्ग ही तो ग्रहण करना होगा। श्रीयुत मेकञ्जी के मतानुसार भी श्रेय वही है जिसे बौद्धिक दृष्टि से मानव अपना उद्देश्य, लक्ष्य बना सके अथवा बनाता हो।

डा० मूर के कथन में इतना सत्य तो है ही कि श्रेय हृदयांगम (intuited) तो किया जा सकता है किन्तु उसकी परिभाषा नहीं की जा सकती है। ऐसा होते हुए भी वह व्यक्तिगत रुचि-अरुचि का विषय तो हो ही नहीं सकता है। ऐसी अवस्था मे 'श्रेय' व्यक्ति के चुनाव पर आश्रित न होकर पूर्णतया निजी महत्त्व रखता है और यह आवश्यक भी है। वह, जो कि नैतिक मापदण्ड से सम्बन्धित हो, जो कि कर्तव्य निर्धारित करने में अपना हाथ रखता हो, व्यक्तिगत बन्धनों से पूर्णतया स्वाधीन और निजी महत्त्व रखनेवाला तो होना ही चाहिए। आश्रित अस्तित्व लेकर तो उसे कर्तव्याधार बनाया जा सकेगा ही नहीं।

सर्वाधिक श्रेय—सर्वाधिक श्रेय (highest good) वह ही हो सकता है जो कि मानव को पूर्णतया सन्तुष्ट कर सके। मेकञ्जी के मतानुसार सर्वाधिक श्रेय एक ऐसी पूर्ण और संगठित व्यवस्था है जिसे कि मानव बुद्धि और तर्क द्वारा ग्रहण करके चुनता है किन्तु सर्वाधिक श्रेय इस चुनाव पर आश्रित नहीं है। उसकी अपनी स्थिति, अपना अस्तित्व चुनाव के अतिरिक्त भी है। वस्तुतः मानव का श्रेय तो पूर्ण श्रेय ही है, उसके शुभ कर्म तो केवलमात्र नैतिक दृष्टि से श्रेयस्कर हैं। चुनने योग्य होना तो पूर्ण श्रेय का एक पक्ष मात्र ही है और उस दिशा में प्रयत्न करना उसका एक आवश्यक भाग है। यद्यपि चुनाव और प्रयत्न दोनों ही 'श्रेय' में अपना स्थान रखते हैं फिर भी वे ही श्रेय हों, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः कर्ता उसी को चुनता है जिसे कि वह श्रेयस्कर समझता है। बुरा जानते और मानते हुए किसी वस्तु की इच्छा नहीं की जाती है। कम से कम जिस समय हम किसी वस्तु का, कर्म का चयन करते हैं उस समय तो

हम उसे श्रेय समझकर ही चुनते है और उसी दिशा मे प्रयत्नशील भी होते हैं किन्तु फिर भी चुनाव और प्रयत्न ही हमें 'श्रेय' का ज्ञान करा सकते हों यह सम्भव नही है। पूर्ण श्रेय में नैतिक श्रेय निहित तो रहता ही है। अतः कर्म तो कर पाना कर्ता का ध्येय होता है और उस कर्म को कर्ता इसलिए उचित मानता है कि वह श्रेयस्कर होता है। सम्भवतः उसके इस प्रकार मानने का आधार होता है सौन्दर्य...सुन्दरम्। यह तो निश्चित ही है कि पूर्ण श्रेय पूर्ण सुन्दर होगा ही। इसी रूप मे वह किसी भी व्यक्ति, व्यक्तिसमूह अथवा समष्टि की भी रुचि अरुचि मे ऊपर होगा, स्वतन्त्र होगा। यही तो उसका महत्त्व है।

उचित—जो सम्भव श्रेयतम का उत्पादन कर सके— हमने नैतिक निर्णय के दो रूप देखे थे। 'श्रेय अथवा अश्रेय' एक, और दूसरा उचित अथवा अनुचित। श्रेय के विषय में हमने विभिन्न मतों का अध्ययन किया। अब प्रश्न यह आता है कि उचित क्या है? भले ही मूल में एक ही भावना हो, किन्तु सदा सर्वदा साधारण जीवन मे हम 'श्रेय' एवं 'उचित' को एकबारगी मिला देते हों, ऐसी बात नहीं है। विभिन्न विचारकों ने 'उचित' के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत प्रकट किये है। कुछ विद्वानों ने तो उचित की परिभाषा श्रेय के ही आधार पर की है। उनके मतानुसार जो सम्भव श्रेयतम का उत्पादन (Productive of the greatest possible amount of good) कर सके वही उचित है किन्तु यह तो परिभाषा नहीं हुई। इसे उचित की परिभाषा कहने की अपेक्षा उसकी परीक्षा की कसौटी कहना ही अधिक ठीक जान पड़ता है।

विभिन्न कसौटियाँ—कुछ अन्य विचारकों ने भी अन्य प्रकार से इसी तरह की उचित की कसौटियाँ उपस्थित की है। 'सुखोत्पादन' (conduciveness to pleasure) 'जीवन-प्रेरणा अथवा विकास अथवा इस दिशामें उन्नति' (promotion of life), 'समाज द्वारा स्वीकृति' (approval of community) आदि इसी प्रकार की कसौटियाँ मानी जा सकती है किन्तु इन्हे परिभाषा तो कहा नहीं जा सकता है। श्रीयुत रॉस के मतानुसार 'उचित' नैतिक माँग एवं कर्तव्य (obligation that which is obligatory-duty) के अधिक निकट है। इस मत को पूर्णतया स्वीकार करके भी हम उचित की परिभाषा के अधिक निकट नहीं पहुँच पाते है क्योंकि बहुत से कार्य उचित तो हो सकते हैं किन्तु मेरी नैतिक माँग, मेरा कर्तव्य तो उनमें से एक ही होगा और इसका यह भी अर्थ नहीं होगा कि अन्य सब कार्य

उचित से परे हो जायेंगे। अतः 'नैतिक माँग' को भी उचित की परिभाषा का एक मात्र आधार नहीं माना जा सकता है।

उचित की परिभाषा संकीर्ण दृष्टिकोण से इस प्रकार की जा सकती है कि वह कार्य जो किये जाने चाहिए अथवा वे कार्य जिन्हें कि यदि इच्छा करता तो कर्ता कर सकता था उचित है। उदार दृष्टिकोण से 'चाहिए' मात्र ही किसी भी कर्म को उचित ठहराने के लिए पर्याप्त हो सकता है किन्तु कठिनाई तो यह है कि इस प्रकार की परिभाषा मान लेने से पूर्व हमें यह समझ लेना होगा कि हम 'चाहिए' का कौन सा अर्थ लगाते हैं। एक अर्थ तो 'चाहिए' का यह हो सकता है कि हमें विशेष प्रकार की परिस्थितियों में किन्हीं विशेष कर्मों को करना चाहिए और ऐसा करते हुए परिणाम की ओर हमारा ध्यान नहीं होना चाहिए। एक दूसरा अर्थ यह भी हो सकता कि बाह्य कारणों का ध्यान रखे बिना ही प्रत्येक व्यक्ति को कुछेक ध्येय-विशेष के लिए कर्म करना चाहिए।

और तीसरा 'चाहिए' का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि किसी अथवा किन्हीं ध्येय विशेष को चिरन्तन मान लेना और उनके प्रतिकूल किसी कर्म को न करना वरन् उस ध्येय के अनुकूल कर्म ही करना।

सम्भवतः हमें 'चाहिए' की आवश्यकता ही ऐसी अवस्था में पड़ती है जबकि किसी कर्म-विशेष के विरुद्ध भी प्रेरक (motives) हों। विरुद्ध प्रेरक यदि न भी हों तो भी अन्य उतने ही महत्त्वपूर्ण अन्य प्रेरक तो हो ही सकते हैं।

यदि यह कहा जाये कि उचित वह कर्म है जो कि किसी विशेष परिस्थिति अथवा किसी एक परिस्थिति के लिए अपने ही ढंग से पूर्णतया ठीक हो। किन्तु इससे भी उचित की परिभाषा स्पष्ट रुप से नहीं हो पाती है क्योंकि किसी भी कर्म को यदि 'उचित' माने जाने के लिए परिस्थितियों के अनुरुप ठीक होना पड़ेगा तो वह उचित होने के गुण को अक्षुण्ण नहीं रख पायेगा। ऐसी अवस्था में तो उसकी नैतिकना में भी सन्देह होना सम्भव हो सकता है। तथा परिस्थिति का भी अर्थ समझना पड़ेगा।

प्रोफेसर रीड तो उचित कर्म उस कर्म को कहते है जो कि सर्वोत्तम प्रेरक के प्रभाव द्वारा किया गया हो। किन्तु वह प्रेरक और उसका प्रभाव कहाँ से आता है तथा सर्वोत्तम प्रेरक किसे कहा जा सकता है यह भी तो समस्या रूप में हमारे सम्मुख आन उपस्थित होते है। श्रीयुत जोसफ तो यह भी मानते है कि कुछ कर्मों का अच्छा अथवा उचित होना उनके

प्रेरक कारणों के उचित अथवा अनुचित होने पर ही आश्रित होता है किन्तु किसी भी कर्म का उचित अथवा कर्तव्य होना उसके किये जाने मात्र से तो हो ही नहीं जाता, उसका आधार तो उस भावना में विचार में होता है जो कि उस कर्म को कर्ता के समक्ष कर्तव्य रूप में रखता है और केवल मात्र प्रेरक कारण ही यह नहीं करता वरन् उसके अतिरिक्त भी कुछ अन्य तत्त्व इस कार्य में अपना स्थान एवं प्रमुख हाथ रखते हैं। यूँ भी केवल प्रेरक कारण ही किसी कर्म को उचित नहीं बना पाता है।

यह प्रश्न भी यहाँ विचारणीय हो सकता है कि उचित का सम्बन्ध कर्म से है अथवा कर्ता के चरित्र एवं आचार से। इस प्रसंग मे हम इस प्रश्न पर अधिक विचार नहीं करेंगे किन्तु यदि हम कर्म का औचित्य घटनाक्रम के साथ उसकी योग्यता को देखते हुए निर्धारित करेंगे तो हमें यह भी देखना पड़ेगा कि बाह्य वातावरण में कौन सा कर्म सर्वाधिक योग्य अथवा ठीक रहेगा। यह भी विचारा जा सकता है कि कर्ता की मानसिक अवस्था और उसकी परिस्थितियों के विषय में विचार देखकर कर्म का घटनाक्रम के अनुकूल होना देखा जाये। किन्तु किसी भी अवस्था में कर्म के औचित्य का निर्णय कर्ता की निजी परिस्थितियों की अनुकूलता एवं कर्म की तत्सम्बन्धी योग्यता सम्बन्धी विचारों पर ही नहीं छोड़ा जा सकता है। किन्तु कर्म का औचित्य यदि उसके बाह्य रूप के द्वारा ही निर्धारित किया गया तो फिर औचित्य का श्रेयत्व के साथ कोई भी सम्बन्ध रखना कठिन हो जायेगा और दूसरी ओर यदि औचित्य का भी सम्बन्ध कर्म के आन्तरिक रुप से रखा जायगा तो फिर प्रेरक कारणों पर भी ध्यान देना ही पड़ेगा जो कि सम्भवतः कर्तव्य-ज्ञान (sense of duty) और श्रेयोत्पत्ति की इच्छा (desire to bring some good) ही होंगे।

उचित और श्रेय का दृष्टिकोण भिन्न है—वस्तुतः उचित और श्रेय दोनों का ही सम्बन्ध मानवाचार से है किन्तु दोनों का दृष्टि-कोण भिन्न है। उचित नैतिक निर्णय तो है किन्तु वह वैसा निर्णय है जैसा कि किसी न्यायाधीश अथवा निर्णायक के सम्मुख दिया जाता है। इस प्रकार का निर्णय दे पाने के लिए विधि की आवश्यकता होती है और उचित का सम्बन्ध नैतिक-विधि से है। किसी भी कर्म को एक विशेष माप दण्ड से, नैतिक विधि को दृष्टि मे रखते हुए जाँचा जाता है और फिर 'उचित' अथवा 'अनुचित' निर्णय दिये जाते हैं। इस प्रकार के निर्णय

के पीछे उत्तरदायित्व की भावना निहित होती है तथा अधिकार के प्रति आदर की भावना भी होती है। कुछ ऐसा सा रूप होता है कि ऐसा करना उचित है क्योंकि वह नैतिक विधि के अनुकूल (according to the rule—moral law) है। इन विधि अथवा नैतिक नियमों का पालन करना मेरा कर्तव्य है अतः अन्य सब ही भावनाओं आदि को नियन्त्रित करके इस कर्तव्य को करना चाहिए। 'उचित' स्पष्ट और विश्वसनीय होता है क्योंकि वह नियमानुकूल होता है किन्तु यह सब होते हुए भी उचित स्वयं अपना ध्येय, अपना लक्ष्य नहीं बन पाता है वरन् यह सब श्रेयोत्पत्ति (to bring about what is good) के लिए ही किया जाता है अतः ध्येय तो 'श्रेय' ही हुआ मनोवृत्ति (Attitude) 'उचित' हुआ।

व्यक्तिगत दृष्टिकोण से तो वही उचित होता है जिसे कि कर्ता नैतिक नियमानुकूल माने किन्तु नैतिक दृष्टिकोण से उचित तो वह कर्म होना चाहिए जिसका लक्ष्य श्रेय की प्राप्ति हो। कर्ता जिन परिणामों को लक्ष्य, ध्येय मान के कर्म करता है उन्हीं के श्रेयत्व पर कर्म का श्रेयत्व निर्भर होता है। व्यक्तिगत उचित सदासर्वदा ही नैतिक उचित हो, ऐसी बात नहीं है। कठिनाई तो यह है कि हमारे सब ही कर्म व्यक्तिगत दृष्टि से तो उचित ही होते है किन्तु सब ही लोग हमारे दृष्टिकोण को जैसा का तैसा मान ले प्रायः ऐसा कभी नहीं हो पाता है अतः उन कर्मों को नैतिक दृष्टि से उचित कहा जा सकता है जो कि अश्रेय की अपेक्षा अधिक श्रेय की उत्पत्ति को लक्ष्य लेकर चलते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उचित की परिभाषा नैतिक शब्दों द्वारा ही की जा सकती हैं अतः उचित श्रेयोत्पत्ति अथवा श्रेयोत्पादन (Productivity of what is good) को ही कहना होगा। किन्तु इस प्रकार का उत्पादन भी तो तब ही हो सकता है जब कि कर्म श्रेयप्रेरक कारणों से उत्पन्न हुआ हो और नैतिक माँग भी तो कोई कर्म तब ही बन सकेगा जब कि वह इस योग्य होगा कि कर्ता उसे चुन सके। अतः रॉस के मतानुसार किसी भी कर्म के औचित्य का आधार उस कर्म का एक भाग अर्थात् मेरी इच्छा मात्र ही नहीं होता वरन् वह सम्पूर्ण होता है जिसकी प्राप्ति के लिए मैं प्रयत्नशील होता हूँ। जो भी कुछ कहा जाये उचित का नैतिक नियमानुकूल होना आवश्यक है। यह भी आवश्यक है कि उसका ध्येय श्रेयोत्पादन हो। यह तो हम देख ही चुके है कि श्रेय का ध्यान अधिकतर ध्येय की ओर होता है विधि की ओर नहीं। 'श्रेय' अधिकतर कर्म के मूल्य (value) पर ध्यान

देता है। 'उचित' की व्याख्या का रहस्य निहित होता है उसके नियमानुकूल होने में और 'श्रेय' को यह ध्यान रखते हुए ही समझा जा सकता है कि वह किसी ध्येय तक ले जानेवाला है। मान लीजिए कि मेरा ध्येय एक विज्ञान-विशेष का अध्ययन करना, तत्सम्बन्धी ज्ञान प्रप्त करना है। मैं एक विद्यालय में उस विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने का ध्येय लेकर अपना प्रवेश करा लेती हूँ। विद्यालय का नियम है कि प्रतिदिन उस विज्ञान की कक्षा में उपस्थित होना चाहिए। मैं एक दिन कक्षा में अनुपस्थित होती हूँ किन्तु इसलिए उपस्थित नहीं हो सकी हूँ कि मुझे उसी विषय के किसी एक विद्वान् से कुछ ज्ञान प्राप्त करना है और वह नगर में उसी दिन है। ऐसी अवस्था में मेरा कक्षा से अनुपस्थित हो जाना नियमानुकूल तो नहीं है किन्तु मुझे अपने ध्येय की ओर ले जानेवाला अवश्य है। मानवजीवन मे श्रेय उसी को माना जा सकता है जो कि मानव को उसके अन्तिम पूर्ण ध्येय की ओर ले जानेवाला हो और यह तब ही हो सकता है जब कि कर्ता उन सब ही कर्मों में से जो कि उसके सम्मुख चयन के लिए हों, उस कर्म को चुने जो कि उसे ध्येय तक पहुँचाने में अन्य सब कर्मों की अपेक्षा अधिक सहायक सिद्ध हो सकता हो। ऐसा कर पाने के लिए ही तो नियम, आदि की सृष्टि की जाती है। अतः किसी सीमा तक यह माना जा सकता है कि श्रेय की प्राप्ति, अन्तिम पूर्ण श्रेय की प्राप्ति तो मानव का ध्येय, लक्ष्य होता है और उसकी प्राप्ति के मार्ग पर चलते हुए कर्म का 'औचित्य' कर्ता की मनोवृत्ति, उसका दृष्टिकोण होता है। श्रेय मे मधुरता, सौन्दर्य एवं कोमलता रहती है जब कि उचित में व्यवस्था, दृढ़ता एवं तनिक सी कठोरता रहती है। जो हो, उचित की परिभाषा नैतिक शब्दों के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के शब्दों का प्रयोग करके नहीं की जा सकती है। नैतिक शब्द के प्रयोग का क्रियात्मक रूप होगा यह कहना कि उचित वही है जिससे कि श्रेय की प्राप्ति की जा सके अथवा जो 'उस' की उत्पत्ति करे जो कि श्रेय है। किसी भी दशा में उचित का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से 'श्रेय' से रहेगा ही। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उचित का क्या उपयोग है किन्तु यह भी तो उचित की परिभाषा नहीं हुई। नैतिक औचित्य वही तो है जो कि नैतिक दृष्टि से उचित हो यह कहना तो परिभाषा को स्पष्ट करने की अपेक्षा और अधिक उलझा देना भर ही है। अतः सम्भवतः यह कहना अधिक ठीक होगा कि उचित वह है जो कि श्रेयस्कर प्रेरक कारणों द्वारा प्रेरित कर्म होने के कारण नैतिक

दृष्टि से ध्येय की प्राप्ति में सहायक हो और जो इस प्रकार का कर्म होगा वह कर्ता के सम्मुख नैतिक माँग के रूप में तो उपस्थित होगा ही।

नैतिक मापदण्ड—'श्रेय' और 'उचित' के अर्थ समझ लेने के पश्चात् प्रश्न यह उठता है कि नैतिक निर्णय के ये दो रूप किन मापदण्डों (Standards) को लेकर चलते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन दोनों का ही प्रयोग विभिन्न नैतिक मापदण्डों को लेकर किया जाता है। हमने देखा कि 'उचित' का प्रयोग नियमानुकूल का भाव लेते हुए किया जाता है। इससे सम्बन्धित एक और शब्द है 'कर्तव्य' (duty) अर्थात् वह कर्म जो कि मुझे करना चाहिए, जिसका करना मुझसे अपेक्षित है अथवा जो करना मेरे लिए उचित है। अतः कर्तव्य वह कर्म है जो कि मुझे करना ही चाहिए। इसका तो यही तात्पर्य हुआ कि उस कर्म का मेरे द्वारा होना मेरे लिए एक ऐसी 'नैतिक माँग' (Obligation) है जिसे मुझे पूरा करना ही चाहिए। और जैसे ही 'हम नैतिक माँग' और 'चाहिए' (obligation and ought) की चर्चा करते हैं एक प्रकार का उत्तरदायित्व का भाव मन मे आ ही जाता है। ऐसा जान पड़ने लगता है कि अमुक कर्म के करने का उत्तरदायित्व मुझ पर है और उसे पूरा न करने पर मुझे प्रश्नोत्तर का सामना करना पड़ेगा। अतः नैतिक उत्तरदायित्व (Moral responsibility) सम्मुख आ ही जाता है। साधारण सा उदाहरण है—मुझे वृद्धावस्था में अपने माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। मेरे लिए ऐसा करना उचित है क्योंकि यह एक नैतिक नियम है कि मैं मातृ-ऋण, पितृ-ऋण चुकाऊँ। क्योंकि ऐसा नियम है और इस नियम के अनुसार मुझे माता-पिता की सेवा करनी ही चाहिए, यही मेरे लिए उचित है। और यह मेरे लिए एक नैतिक माँग है जिसे पूरा करना मेरे लिए आवश्यक हो गया है। यह नैतिक माँग है इसीलिए इसे पूरा करना चाहिए और क्योंकि ऐसा करना चाहिए इसके करने का उत्तरदायित्व मुझ पर आ पड़ा है। अतः मैं नैतिक दृष्टि से अपने माता-पिता की वृद्धावस्था में सेवा करने के लिए उत्तरदायी हूँ और ऐसा न कर पाने पर मुझे ही उत्तर देना पड़ेगा। यह तो हुआ उचित से सम्बन्धित नैतिक निर्णय के विभिन्न अंगों का रूप।

इनका महत्त्व—यह हम देख ही चुके हैं कि जिस प्रकार उचित का सम्बन्ध नियम से है उसी प्रकार श्रेय का सम्बन्ध नैतिक ध्येय अथवा लक्ष्य से है। जो कार्य जितना ही अधिक ध्येय के

निकट सम्पर्क में होगा वह उतना ही श्रेयस्कर होगा। इस प्रकार की कर्म सम्बन्धित मनोवृत्ति जब कर्ता के लिए स्वभाव का ही अंग बन जायेगी तब वह हो जायेगा उसका नैतिक गुण (Virtue) अतः 'श्रेय' का सम्बन्ध नैतिक गुण से है। उदाहरणार्थ—मेरा ध्येय है अनन्त सुन्दर की प्राप्ति और यदि मानव मात्र की सेवा मुझे उस ध्येय की ओर ले जाती है तो वह एक श्रेयस्कर कर्म होगा किन्तु यह कर्म, इस ओर प्रवृति जब मेरे लिए सहज-सरल होकर मेरे स्वभाव का ही एक अंग बन जायेगी तब वह हो जायेगा मेरा नैतिक गुण। जिस प्रकार कर्तव्य, नैतिक माँग, नैतिक उत्तर-दायित्त्व आदि शब्दों का 'उचित' से अधिक सम्बन्ध है उसी प्रकार नैतिक गुण, मूल्यांकन आदि का 'श्रेय' से निकट सम्बन्ध है। इन दो नैतिक निर्णय के प्रकारों ने इतना तो स्पष्ट कर ही दिया कि इन दोनों के पीछे दो पृष्ठ भूमिकाएँ हैं और वह है नैतिक विधि (Moral law) और नैतिक ध्येय (Moral end)। अब प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों में से अधिक महत्त्वपूर्ण कौन है और सम्भवतः इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हम यह भी पूछने लगते हैं कि मानव ने इन दोनों मे से किसको प्रथम जाना। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि जिससे प्रथम परिचय हुआ हो वही अधिक महत्त्वपूर्ण हो फिर भी यह खोज लेना तो आवश्यक ही है कि मानव-समाज का किससे प्रथम परिचय हुआ। यह कहा जा सकता है कि सभ्यता के उषा काल में मानव ने सर्वप्रथम नैतिकता से नियम अथवा किसी प्रकार के संयम द्वारा ही परिचय प्राप्त किया होगा। आदि काल के पश्चात् और सभ्यता के युग से पूर्व सम्भवतः मानव अपनी प्राकृतिक मनोवृत्तियों पर शासन करना, उन्हें संयमित करना नहीं जानता था। तत्पश्चात् उसने उन प्राकृतिक मनोवृत्तियों को, उनके आवेगों को, उनसे सम्बन्धित उत्तेजनाओं को संयमित करना सीखा और इस प्रकार संयमित करने को ही ठीक समझा, 'चाहिए' से सम्बन्धित कर दिया। इस प्रकार के संयमित करने का मूल कुछ, किसी प्रकार के नियमों में निहित रहा होगा। और यह संयम करना ही नैतिकता का आदि रूप रहा होगा। अतः यह कहना कठिन नहीं है कि नैतिकता का आरम्भ 'नियम' में ही हुआ क्योंकि किन्हीं नियमों को लेकर ही मानव ने इस प्रकार अपनी मूल प्रवृत्तियों को संयमित करना आरम्भ किया होगा। इस दृष्टिकोण से देखने पर तो 'नियम' का स्थान 'ध्येय' से पूर्व ही जान पड़ता है किन्तु यहाँ यह भी तो कहा जा सकता है कि उस युग में भी उन नियमों की सृष्टि करने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी। उसका भी तो कोई

कारण रहा होगा, उद्देश्य (Purpose) रहा होगा और उसका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार के ध्येय से रहना ही चाहिए क्योंकि उद्देश्य तो सदा ध्येय की ओर संकेत करता ही है। अतः इसका यह तात्पर्य हुआ कि नियम भी ध्येय से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित होते है। 'ऐसा करना चाहिए' इस प्रश्न को जन्म देता है कि ऐसा क्यों करना चाहिए। यदि इस अन्तिम प्रश्न का यह भी उत्तर हो कि ऐसा करना चाहिए क्योंकि यह नियमानुकूल है तो फिर हमें यह प्रश्न करना पड़ेगा कि नियम की उत्पत्ति क्यों हुई। इस प्रश्न के उत्तर में हमें ध्येय की ओर संकेत करना ही होगा। आचार-व्यवहार सम्बन्धी नियम विधि भी तो किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए, किसी ध्येय की ओर ले जाने के लिए ही तो बनते हैं। यदि अन्य कुछ नहीं तो 'हित भावना' तो नियम बनाने में प्रधान कारण रही होगी भले ही वह सामाजिक हित की भावना ही रही हो। व्यक्तिगत हित की भावना तो सदा सर्वदा से कर्म प्रेरक रही ही होगी।

बाह्य नियम—हो सकता है कि आदि कालीन मानव के निकट परम्पराओं, प्रथाओं और सामाजिक नियमों ने इसलिए महत्त्व पा लिया हो कि वह सामाजिक हित की दृष्टि से आवश्यक थीं। समाज के सब ही सदस्य उन्हें मानते रहे, उनके अनुसार कार्य करते रहे और अधिकतर यह विश्वास भी करते रहे कि इन नियमों की सृष्टि किसी मानवेतर शक्ति ने मानवों के लिए उनके ही हित की दृष्टि से की है। जो हो नियम तो थे ही और उनका पालन करना ठीक भी समझा जाता रहा होगा। अतः नैतिकता का आरम्भ तो हो ही गया था। नियमों के पालन किये जाने का औचित्य तो स्पष्ट ही था किन्तु वे नियम कर्ता पर लागू किये गये थे, स्वयं उनके अन्तर की पुकार नहीं थे। कहीं कहीं तो उन्हें ईश्वरीय आज्ञाओं का रूप भी दिया गया था किन्तु ज्यों-ज्यों मानवीय सभ्यता का विकास होता गया इस प्रकार की स्थिति मानव को असह्य होती गई। उसने बाह्य आज्ञाओं, नियमों के पालन करने में कठिनाई का अनुभव किया। फलस्वरुप वह सोच-विचारकर अन्तर की पुकार को ही नियमों के रूप में स्वीकार करने की बात सोचने लगा। सम्भवतः उसके पश्चात् मानव ने बाह्य आज्ञा और अन्तर की पुकार दोनों को ही एक प्रकार से प्रतिष्ठित और मान्य रूप देने के लिए ध्येय से सम्बन्धित कर दिया। जो हो ध्येय और विधि दोनों की ही भावना मानव के मन में आदि काल से ही किसी न किसी रूप में रही ही। कर्म सम्बन्धी

जिज्ञासा ने सम्भवतः समाज की स्थापना होने के काल से ही मानव को नियमों की खोज के लिए प्रेरित किया और उन नियमों को जब वह बहुत काल तक मानवेतर शक्ति की आज्ञाओं के रूप में न रख सका तो उसने उन्हें विभिन्न प्रकार के ध्येय से सम्बन्धित करने की चेष्टा की अतः विधि को लेकर उसे ध्येय की ओर चलना ही पड़ा। यह दूसरी बात है कि वह समय समय पर विधि, निर्माण और ध्येय की खोज के लिए बाहर और अन्दर दोनों ही ओर झाँकता रहा और फिर उसने इन दोनों ही पक्षों को छोड़कर खोज की निष्पक्ष, चिरन्तन, अनादि, अनन्त, अमर सत्य, शिव और सुन्दर की, जो कि उसका, उसके नैतिक पथ का अन्तिम ध्येय होकर खड़ा हो सका। अन्तिम ध्येय कुछ भी हो अभी तक यह नहीं कहा जा सकता है कि नियम न मानव के अधिक निकट है, और मानव मन में प्रथम यह उदित हुआ था अथवा ध्येय की भावना। भले ही मानव का आज का और युगों पूर्व का कर्म किसी न किसी उद्देश्य को लिये दिये ही होता रहा हो और उस उद्देश्य का इंगित किसी ध्येय, किसी लक्ष्य की ओर रहा हो किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि वह कर्म किसी न किसी प्रथा के अन्तर्गत नियम रूप मे आता ही होगा। अतः मानव के नैतिक जीवन मे विधि और ध्येय दोनों का ही स्थान होता है। अब प्रश्न केवल इतना रह जाता है कि कितना और कैसा स्थान होता है। इसी समस्या के विभिन्न हल आचार शास्त्र की विभिन्न विचार-धाराओं की सृष्टि करते हैं। इन धाराओं की चर्चा हम यथा स्थान करेंगे। भले ही आज जब हम नैतिक निर्णय पर विचार करते हैं तो हमें नैतिकता की दृष्टि से बाह्याचार, नियमादिक के पालन का उतना उच्चस्थान न जान पड़ता हो किन्तु एक समय मानव ने नैतिकता केवल मात्र नियम पालन को ही समझा और माना था। उदाहरण साधारण-सा ही है। हमारे देश और हमारे समाज मे ही एक समय और किसी सीमा तक आज भी 'श्रेय' और 'उचित' का मापदण्ड सामाजिक नियम, प्रथाएँ, परम्पराएँ आदि थीं, और है। किसी भी कर्म को जो कि इनके विरुद्ध होता था 'अनुचित' की संज्ञा दी जाती थी। अतः यह तो मानना ही पड़ेगा कि जब हम नैतिक निर्णय के मापदण्ड के प्रश्न पर विचार करते हैं तो हमे उन नियमों की भी नैतिक मापदण्ड के नाते चर्चा करनी पड़ती है जो कि किसी भी कर्ता के लिए केवल मात्र बाह्य नियम है। वे नियम हैं जो कि कभी किसी काल मे किसी ने बनाये होंगे किन्तु आज कर्ता के, मानव के लिए मान्य है, जिनकी मान्यता के आधार के सम्बन्ध में प्रश्न करने

का अधिकार कर्ता को नहीं है। उसे केवल उन्हें मान्य रूप में स्वीकृत करना पड़ता है। जिस प्रकार मानव का प्रारम्भिक नैतिक जीवन सम्भवतः नियमों के पालन करने से ही आरम्भ हुआ था और सम्भवतः यही नैतिक उन्नति का पहला पग भी है, उसी प्रकार यह भी अनिवार्य ही है कि मानव ज्यों ज्यों उन नियमों के विस्तारों, विभिन्न अंगों और अंशों पर विचार करें त्यों त्यों उसे अधिकाधिक उनकी तर्कबुद्धि द्वारा परीक्षा करने, समझने की इच्छा हो और यदि उनकी सामाजिक मान्यता, उनका महत्त्व उसे ऐसा नहीं करने देता है तो उसमें भीतरी विद्रोह की भावना का होना स्वाभाविक ही होता है। यदि वह कभी और किसी भी काल में उन प्रथाओं, नियमों को तर्क की कसौटी पर कसना चाहता ही नहीं है तो उसे उन्नतिशील मानव कहना ही कठिन हो जायगा क्योंकि नैतिकता का अर्थ केवल मात्र "महाजनः येन गतः स पन्थः" मात्र ही नहीं है। जो मानव केवल मात्र बने-बनाये मार्ग पर युग-युगान्तर तक आँख मूँदे चलता ही चला जाता है वह और भले ही कुछ हो नैतिक दृष्टि से उन्नतिशील मानव नहीं कहा जा सकता है। नैतिकता की नींव मानव कर्ता के चुनाव करने ही में तो है। बने वनाये पथ पर चलते जाना नैतिक उन्नति का लक्षण नहीं है। अतः व्यक्ति और समाज दोनों के ही जीवन में एक समय ऐसा अवश्य आता है जब कि वह सधी बधी पंक्तियों से हटकर कुछ सोचने-विचारने लगता है और यही उसकी नैतिक उन्नति का उषाकाल होता है। बाल्यकाल में हम नियमों का पालन करने के लिए बाध्य किये जाते है। उनका मानना ही ठीक, उचित समझते हैं। उस समय तक तर्क एवं बुद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता है। किन्तु कुछ बड़े होकर हमारे भीतर की स्वतंत्र प्रवृत्ति हमें उनकी मान्यता चुपचाप स्वीकार नहीं करने देती और हम उनके औचित्य के, श्रेयत्व के विषय में गम्भीरतापूर्वक सोचने लगते है। ऐसा करने से हमारी श्रद्धा उन नियमों की मान्यता पर तनिक न्यून हो जाती है किन्तु वे है तो मान्य ही, अतः सृष्टि होती है भीतरी द्वन्द्व की। अब कठिनाई यह होती है कि इस प्रकार के नियम बिलकुल सरल एवं स्पष्ट हों, ऐसी बात तो होती ही नहीं है और उनके सब ही अंग यद्यपि महत्त्व में तो एक ही से होते है किन्तु नैतिक दृष्टि से विचारक को उनमें से सब ही एक ही ढंग से सन्तुष्ट नहीं कर पाते हैं। हम प्रथा के, नियम के बाह्य रूप को, अथवा कम महत्त्वपूर्ण अंगों को अनावश्यक समझने लगते है जिसका कि तात्पर्य यह हुआ कि हम नियमों की बाह्य सत्ता की अपेक्षा तर्क को, बुद्धि को अथवा

तज्जन्य विचारों को अधिक महत्त्व देने लगते हैं। हिन्दू विवाह-पद्धति में धार्मिक, नैतिक एवं विधि सम्बन्धी तत्त्व मिले रहते हैं। अग्नि को साक्षी मानकर वर-वधू एक दूसरे के प्रति सदैव सच्चे रहने की प्रतिज्ञाएँ करते हैं। अग्नि देव को साक्षी मानकर प्रतिज्ञा करना धार्मिक विश्वास का अंग है किन्तु प्रतिज्ञा करना अपने आप में नैतिकता लिये रहता है और इस सम्पूर्ण कृत्य का देश विधि की दृष्टि से भी महत्त्व है क्योंकि यह विधि द्वारा स्वीकृत है। किन्हीं भी दो स्त्री-पुरुषों में यदि प्रेम हो और वे पति-पत्नी के रूप मे रहना चाहे तो उन्हे इस कृत्य को करना चाहिए। यह एक वाह्य नियम है जिसकी सृष्टि आज के स्त्री-पुरुषों ने नहीं की वरन् उनके लिए यह प्रथा रूप, मे परम्परा रूप में, नियम के रूप मे मान्य है। यदि कोई स्त्री अथवा पुरुष आज इस प्रथा पर विचार करते हैं तो उन्हे नैतिक दृष्टि से इनके कई अंग, विस्तार अनावश्यक जान पड़ेंगे किन्तु जहाँ आवश्यक और अनावश्यक अंगों में भेद करना आरम्भ किया वहीं इस कृत्य की मान्यता पर की जानेवाली अगाध श्रद्धा की नींव हिलने लगी। और यहीं से वाह्य नियमों की नैतिक सत्ता कम हो गई तथा तर्क और बुद्धि का साम्राज्य आरम्भ हो गया।

वाह्य के अतिरिक्त आन्तरिक नियम भी हैं जो कि नैतिकता के लिए आवश्यक हैं—किन्तु यही नहीं, इससे पूर्व हम देख ही चुके हैं कि आडम्बर के अतिरिक्त भी, नैतिक नियमों को लेकर भी मानव के मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है और वहुत वार तो अत्यन्त निर्दोष एवं सर्वमान्य नैतिक नियमों को लेकर भी सन्देह उठने लगते हैं। अर्जुन को इसी प्रकार की जिज्ञासा ने, अन्तर्द्वन्द्व ने मोहाच्छन्न कर दिया था। युद्ध करना क्षत्रीय का धर्म है, उसके लिए उचित है, ऐसा ही नैतिक नियम था किन्तु दूसरी ओर

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।

तथा, (गी० १.३७)

कथं न श्रेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥

॥ गी०१.३९ ॥

अर्थात् स्वजनों को मारकर हमें सुख नहीं मिल सकता और कुलक्षय करना पातक है, अनुचित है, अनैतिक है ऐसा विचार अर्जुन के मन में आया। फलस्वरूप अन्तर्द्वन्द्व और तत्पश्चात् उसी के कारण मोह ने हृदय को

जड़ कर दिया। अतः बाह्य नियमादि काल-विशेष के ही लिए उपयोगी हो सकते हैं। परिवर्तित परिस्थितियों में वह उस ढंग से टिक भी तो नहीं पाते हैं। इन्हीं परिवर्तित परिस्थितियों के कारण मानव विचार बुद्धि एवं तर्क की सहायता से नियम रूपी नैतिक मापदण्ड को सर्वकालीन मानकर स्वीकार नही कर पाता है। रीति, प्रथा, परम्परा आदि के रूप मे बाह्य नैतिक नियम (External moral laws) तो है ही किन्तु वह परिस्थितियाँ जिनमें कि इन नियमों का जन्म हुआ था, परिवर्तित हो चुकी हैं और आज की परिस्थितियों में ये नियम ठीक नहीं उतर पाते हैं। ऐसी अवस्था में केवल दो ही मार्ग मानव के लिए रह जाते है। एक तो यह कि वह उन नियमों से खींचातानी करके उन्हें इस प्रकार से समझने, समझाने, उनका भाष्य करने का प्रयत्न करे जिससे कि वह वर्तमान युग की परिस्थितियों के अनुरूप हो सकें। प्रायः हमें प्राचीन का मोह कुछ इतना अधिक हो जाता है और पुरातन का हम पर अधिकार भी कुछ इतना अधिक हो जाता है कि उसे सहज ही हम त्यागना नहीं चाहते हैं अतः हमारे लिए यही उपाय रह जाता है कि हम उन्हीं सनातन नियमों को स्थायी सा बनाये रखते हुए उनके अर्थ, विस्तार-क्षेत्र आदि को इस प्रकार से उदार और विस्तृत बना लें कि वह नवीन परिस्थितियों का अपने विस्तार-क्षेत्र में भी ध्यान रख सकें। प्रायः संसार के सबही सुधारक मानव को सनातन के चंगुल से छुटकारा दिलाकर बुद्धि एवं तर्क की मान्यता तक ले जाने का प्रयत्न करते रहे हैं। उनके ऐसा करने का कारण यह भी हो सकता है कि बाह्य नैतिक नियम अथवा विधि कभी भी चिरन्तन सत्य अथवा सर्वकालीन नियम नहीं हो पाते हैं। इसका कारण यह है कि कोई भी नियम ऐसा नहीं बनाया जा सकता है जो कि सदा-सर्वदा सब ही देश-काल और परिस्थितियों में ठीक ठीक लागू हो सके और यदि किसी प्रकार से कभी कोई ऐसी आचार-सूची बना भी सके जो कि सदासर्वदा सब ही परिस्थितियों में सामान्य रुप से मान्य हो सके तो नैतिकता का तो प्रायः अन्त हो जायेगा। सूर्य प्रतिदिन पूर्व से उदय होता है और पश्चिम में निश्चित रूप से अस्त हो जाता है। किन्तु उसके इस प्रकार उदय होने और अस्त होने के कार्य की प्रशंसा अथवा निन्दा करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि सूर्य तो ऐसा प्राकृतिक नियम के अनुसार ही करता है कुछ स्वयं सोच-विचार कर नहीं करता और न उसमें ऐसा न करने की शक्ति ही विद्यमान है किन्तु वह अध्यापक जो प्रतिदिन समय पर पाठ-शाला पहुँचकर अपने छात्रों को पढ़ाता है प्रशंसा का पात्र है, उसका कार्य

उचित, श्रेय कहलाता है क्योंकि उसमें वैसा न करने की भी शक्ति है फिर भी वह निर्णय करके सोच-विचार कर उचित का, श्रेय का ही चयन करता है। यदि मनुष्य में चयन करने की शक्ति, अश्रेय, अनुचित को त्यागकर श्रेय और उचित को चुनने की शक्ति ही न रह जाये तो फिर वह नैतिक ही क्योंकर रह जायेगा। अतः एक तो सर्वकालीन सिद्ध नियम बन ही नहीं सकते है और यदि किसी प्रकार बन भी जायें तो कर्ता के लिए सदा-सर्वदा उन्हे ध्यान में रखकर ठीक वैसा ही करते जाना असम्भव ही हो जाता है। वैसा कर पाने का अर्थ तो हो जायगा यन्त्र की भाँति मानव का चलते जाना अथवा दूसरे की आज्ञाओं का पालन करते जाना जो कि नैतिकता से कहीं दूर हो जायेगा।

दूसरा उपाय यह भी हो सकता है कि इन नियमों और कर्ता के मन में, मन के भीतर बुद्धि और तर्क जन्य आदेश में अन्तर हो, जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो गया हो जो किसी तीसरी सत्ता की आज्ञा को प्रधान कर्तव्य मानकर पाला जाय। बहुत से नियमादि तो समाज द्वारा निर्मित होते हैं और उनकी मान्यना सहज ही अस्वीकृत की जा सकती है किन्तु इन सबके अतिरिक्त ईश्वर अथवा किसी अन्य प्रधान सत्ता की आज्ञा की मान्यता स्वीकार करके भी कर्ता इस अन्तर्द्वन्द्व से मुक्ति पा सकता है किन्तु यह उपाय भी तो वाह्य ही है। इससे भी तो कर्ता की नैतिकता, नैतिक आधारशिला ही नष्ट हो जाती है। अन्तर्ज्ञान (intuition) की बात अभी छोड़ दीजिए। साधारण ईश्वरीय आदेश तो प्रायः वैसे ही होते हैं जैसे कि अन्य साधारण मानव-समाज के नियमादि। उनके अथवा किसी अन्य सत्ता के आदेशों का मूक, मौन पालन का अर्थ तो यही होगा कि कर्ता आज्ञाकारी, शान्त आदि और भले ही कुछ भी हो नैतिक चारित्रवान व्यक्ति कदापि नहीं हो पायेगा। इसके अतिरिक्त नैतिकता का अर्थ केवल मात्र श्रेय अथवा उचित कर्म करना मात्र ही नहीं है वरन् यह सोचकर, जानकर और विश्वास करके करना है कि वह श्रेयस्कर कर्म है, उचित कर्म है। अनजाने में ही किया गया श्रेयस्कर एवं उचित कर्म कर्ता को नैतिक नहीं बना पाता है। यदि हम श्रेय कर्म ईश्वरीय आज्ञा अथवा किसी अन्य सत्ता के आदेश समझकर करते हैं तो हमारे लिए श्रेय कर्म एक ही रह जाता है और वह है आज्ञा पालन करना मात्र जो कि सम्भवतः हमें सत्य, शिव और सुन्दर के उस ध्येय तक नहीं ले जा पाता है जो कि मानव-जीवन का आदर्श है और न ही कर्ता श्रेय एंव उचित समझकर उन कर्मों को कर ही पाता है अतः ऐसी दशा में कर्ता के

नैतिक गुणों की चर्चा ही नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त बाह्य नियमों का पालन करने के साथ 'चाहिए' की अपेक्षा 'करो ही' की भावना अधिक भर जाती है क्योंकि वैसा न कर पाने पर दण्ड और करने पर पुरस्कार की बात भी तो आ जाती है जो कि नैतिकता से दूर ले जाती है। कर्ता को तो अपने उसी कर्म के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी ठहराया जा सकता है जो कि उसने श्रेय अथवा उचित समझकर चुना हो और फिर उसके साथ तादात्म्य स्थापित करके उसे ही किया हो। किन्तु जहाँ कर्ता ने कर्म केवल पुरस्कार के लोभ से किया हो अथवा दण्ड के भय से न किया हो वहाँ कर्ता को उस कर्म के लिए नैतिक दृष्टि से श्रेयत्व अथवा अश्रेयत्व कैसे दिया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त किसी भी कारण से और किसी भी रूप में बाह्य नियमों की मान्यता स्वीकार करके कर्ता, मानव अपना कर्तव्य का महत्त्व खो बैठता है। केवल आज्ञा मानकर कोई भी कर्म करना कर्तृत्व नहीं दर्शाता है। अतः बाह्य नियमों की नैतिक मान्यता किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं की जा सकती है। संक्षेप में इसका यह तात्पर्य हुआ कि बाह्य नियमों को नैतिक निर्णय का मापदण्ड नहीं माना जा सकता है।

अन्तरात्मा अथवा अन्तर्वृत्ति—यह तो हम देख ही चुके हैं कि बाह्य नियम चिरन्तन सत्य के स्वरूप नहीं होते हैं क्योंकि उनका मूल कारण देश, काल एवं सामाजिक परिस्थितियों प्रभावादि में निहित रहता है। अतः उन्हे नैतिकता का मापदण्ड स्वीकार नहीं किया जा सकता है। तब फिर वह मापदण्ड कौन सा हो सकता है। मानव जब इन नियमादि के विरुद्ध खड़ा होता है तो उसके पास आधार होता है आन्तरिक वृत्ति। वस्तुतः बाह्य नियमों का तो स्वतन्त्र अस्तित्व ही सन्देहास्पद है। कभी किसी युग में उन बाह्य नियमों का आधार किसी मानव की आन्तरिक स्वीकृति अथवा मान्यता रही होगी तब ही तो वह नियम बनाये जा सके। यदि कभी किसी भी मानव ने उन्हे अन्तर से श्रेयस्कर एवं उचित न माना होता तो वे किसी प्रकार भी नियम के रूप में स्वीकृत नहीं हो सकते थे। यह दूसरी बात है कि देश, काल एवं परिस्थितियों के परिवर्तनों के साथ साथ उनका वह महत्त्व भी न्यून हो गया हो अथवा समाप्त ही हो गया हो। जो हो, उन नियमों को भी किसी न किसी मानव के अन्तर द्वारा कभी स्वीकृत होना ही पड़ा होगा और तब ही तो वह नियम बनाये जा सके। अतः मानव के अन्तर का निर्णय इन नियमों की अपेक्षा अधिक मान्य होना ही चाहिए। इन आन्तरिक नियमों अथवा

निधि (Internal laws) को कहाँ तक नैतिक मापदण्ड के रूप में स्वीकार किया जा सकता है यह विचारणीय विषय है। इन आन्तरिक नियमों के आधार को हम यहाँ जान-बूझ कर अन्तरात्मा की अपेक्षा अन्तर्वृत्ति (Conscience) कहना अधिक ठीक समझते हैं क्योंकि आत्मा शब्द का यहाँ प्रयोग करना भ्रमात्मक भी हो सकता है। अतः हम अन्तर्वृत्ति शब्द का ही प्रयोग करेंगे। ऐसा जान पड़ता है कि मानवान्तर में श्रेयत्व की, औचित्य की अनुभूति है अतः मानव तर्क और बुद्धि का अधिक आश्रय लिए बिना भी किसी न किसी रूप में किसी कर्म का अनुभव होते ही अथवा उसकी कल्पना-मात्र से ही श्रेय, उचित अथवा अश्रेय, अनुचित का ध्यान करने लगता है। सम्भवतः यह इसीलिए होता है कि मानव स्वभाव से ही इस प्रकार के ज्ञान का अधिकारी है। जो हो, इतना तो सत्य ही है कि मानव प्रत्येक नैतिक कर्म के साथ किसी न किसी प्रशंसात्मक अथवा निन्दात्मक नैतिक निर्णय का सम्बन्ध जोड़ ही देता है। और इस प्रकार के निर्णय आन्तरिक होते हैं। मानव को कुछ इस प्रकार के निर्णय देने की शिक्षा दी जाती हो और तब ही वह इस प्रकार के निर्णय दे पाते हों, सो बात नहीं है वरन् इस प्रकार के निर्णय स्वाभाविक रूप से ही मानवान्तर में उदित होते हैं। जिस प्रकार इनका सम्बन्ध तर्क और बुद्धि से उतना अधिक नहीं होता है उसी प्रकार सुख-दुःखानुभूति से भी नहीं होता है। कुछ यह भी आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार की अन्तर्वृत्ति किसी जाति-विशेष अथवा देश-विशेष अथवा काल-विशेष के ही व्यक्तियों में पाई जाती हो। इसका क्षेत्र तो मानव मात्र तक विस्तृत है। और यों अन्तर्वृत्ति अत्यन्त सरल और स्पष्ट तो है ही। हम अन्तर्वृत्ति और उसके नैतिक महत्त्व की चर्चा तो यथास्थान करेंगे किन्तु यहाँ पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि अन्तर्वृत्ति के द्वारा दिये जाने वाले नैतिक निर्णय नैतिक दृष्टि से न्यायधीश के द्वारा घोषित निर्णय का ही कार्य करते हैं। अर्न्तवृत्ति किसी भी कर्म की अच्छाई एवं बुराई, श्रेयत्व एवं अश्रेत्व, औचित्य एवं अनौचित्य के विषय में निर्णय देती है। वह न केवल इस प्रकार का निर्णय ही देती है वरन् उस निर्णय का आधार भी उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं होता है अतः अन्तर्वृत्ति निर्णय का आधार एवं निर्णायक दोनों का ही कार्य करती है। यहाँ तक कि कुछ आचार-शास्त्र विशेषज्ञ तो उसे अन्तर्वृत्ति भी मानने को तत्पर हो जाते हैं और इसी दृष्टि से कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक मान लिया है कि मानव के भीतर ही अन्य इन्द्रियों के अतिरिक्त एक नैतिक निर्णायक इन्द्रिय भी है जो कि

सब ही नैतिक निर्णय देती है। इससे इतना तो जान पड़ता है कि मानव नैतिक ज्ञान स्वभाव से ही रखता है और श्रेय एवं अश्रेय, उचित एवं अनुचित की पहिचान भी उसे होती है तथा वह इस प्रकार के निर्णय भी दे सकता है जिनका कि नैतिक दृष्टि से महत्त्व हो। मानव की जो वृत्ति इस प्रकार के कर्म करती है उसे अन्तर्वृत्ति कहा जा सकता है। यह मनुष्य के लिए सर्वथा स्वाभाविक है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या इस अन्तर्वृत्ति को नैतिक मापदण्ड के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यदि अन्तर्वृत्ति और सामाजिक प्रथाओं के बीच द्वन्द्व खड़ा हो जाये तब तो यह सरल है कि कर्ता अन्तर्वृत्ति के निर्णय की ओर अधिक झुक जाय और इसका कारण भी वह यह दे सकता है कि जिस युग में, जिन परिस्थितियों आदि में वह नियम बने थे वह अब परिवर्तित हो चुकी हैं, किन्तु सदा ऐसी ही अवस्था तो होती नहीं है। कभी कभी मानव स्वयं तर्क और बुद्धि का आश्रय लेकर अपने लिए एक कर्म चुनता है और अन्तर्वृत्ति उसे दूसरे कर्म की ओर ढकेलती है। ऐसी अवस्था में कर्ता के लिए कौन सा मार्ग चुनना श्रेयस्कर है यह भी एक विकट प्रश्न है। यदि वह एक मार्ग चुनता है तो किस आधार पर कौन से मापदण्ड की ओर संकेत करके वह ऐसा करता है? आदि आदि प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। अतः इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि अन्तर्वृत्ति भी अपने आप मे पूर्ण मापदण्ड नैतिक दृष्टि से नहीं हो पाई। इसके अतिरिक्त यह कहना भी कठिन ही है कि अन्तर्वृत्ति हमारे सामाजिक विश्वासों, संस्कारों आदि से प्रभावित होकर ही नहीं बननी है। प्रायः अन्तर्वृत्ति श्रेय और उचित की उन्हीं मान्य व्याख्याओं, मान्यताओं को लेकर चलती हे जिन्हें साधारणतया माना ही जाता है। उनसे पृथक, समाजादि के प्रभाव से अछूते रूप में भी अन्तर्वृत्ति का अस्तित्व है यह कहना कठिन सा है। अतः अन्तर्वृत्ति के माने हुए श्रेय और उचित के अर्थों को, व्याख्याओं एवं मान्यताओं को नैतिक मापदण्ड मान लेना सर्वथा उचित नहीं जान पडता है। यदि मानवान्तर अन्तर्वृत्ति की सहायता से श्रेय और उचित का अन्तर्ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उसी चिरन्तन सत्य के आधार पर नैतिक निर्णय दे पाता है तो उस चिरन्तन सत्य का रूप भी तो हमारे निकट स्पष्ट होना चाहिए। यदि अन्तर्वृत्ति यह रूप हमारे निकट स्पष्ट कर पाती है तो ठीक है किन्तु वैसा करने के लिए तो उसे भी किसी ध्येय की ओर इंगित करना पड़ेगा और ध्येय की ओर इंगित करने

का अर्थ होगा उस ध्येय को ही नैतिक मापदण्ड मानकर चलना। अतः अन्तर्वृत्ति को उस अवस्था में नैतिक मापदण्ड मानना कठिन हो जायगा।

एक कठिनाई और भी है। हमने कभी यह माना था कि नैतिकता का मूलाधार है कर्ता का कर्तृत्व। यदि कर्ता किसी बाह्य नियम आदि का पालन मात्र ही करता रहता है तो उसे अपने कार्य के लिए श्रेय नहीं दिया जा सकता है। वस्तुतः उस अवस्था में कार्य का नैतिक महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। अतः कर्म का नैतिक महत्त्व तो तब ही तक है जब तक कि कर्ता स्वयं सोच-विचार कर उसे चुने, जो कि श्रेय है, उचित है और फिर अपने स्वं को उसी के साथ तादात्म्य करके उस कर्म को करे। यदि अन्तर्वृत्ति और कर्ता का 'स्वं' एक ही हैं, अभेद हैं तब तो कर्ता और निर्णायक तथा नैतिक मापदण्ड मिलकर एकाकार हो जायेंगे और ऐसी अवस्था में नैतिक निर्णय का महत्त्व ही क्या रह जायेगा। तब तो नैतिक निर्णय कर्ता का ही निर्णय मात्र रह जायेगा जो कि अधिक से अधिक 'स्वं' की 'स्वकर्म' की आलोचना मात्र ही हो सकता है। दूसरी ओर यदि अन्तर्वृत्ति को कर्ता के 'स्वं' से पृथक् रखा जाये तथा यह माना जाये कि अन्तर्वृत्ति स्वयं निष्पक्ष रहकर तथा कर्म में भाग न लेकर निर्णायक का कार्य ही करता है तो फिर अन्तर्वृत्ति के दिये गये नैतिक निर्णय भी तो बाह्य नियमों के आधार पर ही दिये जायँगे क्योंकि उन नियमों का आधार भी तो अन्तर्वृत्ति के अतिरिक्त और हो ही क्या सकेगा। अतः यदि अन्तर्वृत्ति को नैतिक मापदण्ड स्वीकार किया जाता है तो फिर वही कठिनाई सम्मुख आयेगी जो कि बाह्य नियमों को नैतिक मापदण्ड स्वीकार कर लेने पर मानव को सम्मुख दिखाई देती है। अतः अन्तर्वृत्ति को भी नैतिक मापदण्ड मानना कठिन जान पड़ता है।

ध्येय—यदि नैतिक विधि को ही नैतिक मापदण्ड माना जाय तो फिर प्रश्न आता है कि वह कौन से नियम हों और उनका आधार क्या हो ? विधि तो वे नियम ही होते है जिन्हे मानना चाहिए किन्तु वे नियम मानव पर इतना अधिकार कहाँ से पाते हैं जिससे कि मानव उन्हे मान्यता दे ही। यह बल तो उन्हें उस ध्येय की ओर संकेत करके ही प्राप्त हो सकता है जिसे कि मानव अपना ध्येय, मानव जीवन का अन्तिम ध्येय मान कर चलता है। विधि का महत्त्व तो उस ध्येय की ओर ले जाने से ही होता है अन्यथा उनका निजी महत्त्व विवादास्पद प्रश्न हो जाता है। कर्म करने का उद्देश्य उस अनन्त सत्य की, अन्तिम ध्येय की प्राप्ति ही

तो होता है। तब क्या वह ध्येय नैतिक मापदण्ड होना चाहिए? क्या मानव अपने भीतर ही उस उच्चस्व (higher self) को भी पालता रहता है जो कि उसे बौद्धिक दृष्टि से सत्य शिव और सुन्दर को ग्रहण करने की ओर ले जाना चाहता है और उसी को ध्येय मान कर मानव चलने लगता है? ध्येय कुछ भी हो यह यहाँ हमारी चर्चा का विषय नहीं है किन्तु प्रश्न यह तो है ही कि मानव के सम्मुख एक ऐसा नैतिक नियम तो रहता है जो कि उस पर अपना सम्पूर्ण अधिकार, नैतिक दबाव रखता है, जो कि सर्वोपरि है और जिसे मानना मानव के लिए आवश्यक हो जाता है किन्तु क्या वह नैतिक विधि नैतिक मापदण्ड हो सकता है? क्या उसी को लेकर मानव अपने नैतिक निर्णय दे पाता है? ऐसा नहीं हो पाता क्योंकि यद्यपि वह नैतिक विधि सर्वोपरि है, नैतिक अधिकार प्राप्त है किन्तु स्वप्रकाशस्वरूप नहीं है। उसका महत्त्व, उसका नैतिक अधिकार इसलिए नहीं है कि वह विधि है अथवा नैतिक विधि है वरन् इसलिए है कि वह एक महान् सत्य की ओर इंगित करता है, उससे सम्बन्धित है। उसका महत्त्व ही यही है कि वह मानव को एक ऐसे अन्तिम ध्येय की ओर पहुँचने में सहायक होता है जिसकी प्राप्ति मानव का लक्ष्य है, उद्देश्य है। अतः ऐसा जान पड़ता है कि न तो बाह्य नियमादि ही नैतिक मापदण्ड हो सकते हैं और न अन्तर्वृत्ति ही और न नैतिक विधि ही। वस्तुतः नैतिक मापदण्ड मानव के अन्तिम ध्येय से ही सम्बन्धित हो सकता है क्योंकि हम किसी भी कृत्य का श्रेयत्व और औचित्य उस ध्येय को लक्ष्य में रखकर ही तो जाँच सकते हैं जिस तक कर्ता पहुँचना चाहता है। वह ध्येय क्या है? इस प्रश्न का उत्तर ही विभिन्न नैतिक विचारक देने का प्रयत्न करते है। मानव के कर्म का क्या उद्देश्य है और उसका क्या लक्ष्य है, ध्येय है प्रायः इन समस्याओं का हल ही आचार-शास्त्र के अधिकांश सिद्धान्तों को जन्म देता है।

उद्देश्य—मानव जीवन से लेकर उसके प्रत्येक कर्म में कुछ न कुछ उद्देश्य रहता है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ कर्म करती है, उनके कार्य नियमानुकूल होते है किन्तु उनमें उन नियमों के भीतर निहित उद्देश्यों का ज्ञान नहीं रहता है। पशु भी प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलते तो है किन्तु उन्हे उन नियमों के पीछे निहित उद्देश्य का ज्ञान तो होता नहीं है। किन्तु मानव में प्राकृतिक शक्तियों और पशुओं दोनों से ही यह विशेषता है कि वह अपने प्रत्येक कर्म के, नियमादि के उद्देश्यों को जानता है, समझता है। यह उद्देश्य-ज्ञान ही तो उसकी विशेषता है।

उसके जीवन का भी उद्देश्य होता है। यहाँ तक कि जिन नैतिक निर्बन्धों को वह मानकर चलता है उनके भी विचार, ध्येय एवं उद्देश्यों को समझ कर ही वह उन्हें मान पाता है।

आहार, निद्रा, भय आदि जन्मगत संस्कार (Instincts) तो प्रायः मनुष्य और पशु में एक से ही होते हैं। पशुओं का सम्पूर्ण व्यवहार इन्हीं जन्मगत संस्कारों के आधार पर होता है। ये संस्कार प्रेरणा देते हैं अथवा शरीर से उसकी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए उन सब कर्मों को करवा लेते हैं जिनसे कि वैसा होता है। मानव में भी ये संस्कार होते हैं। उसकी भी शारीरिक आवश्यकताएँ होती हैं और वह भी उनकी पूर्ति करता है किन्तु वह केवल मात्र शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति भर ही करता है ऐसी बात नहीं है। वह पशुओं की भाँति केवल वर्तमान में ही नहीं रहता है। वह केवल मात्र वर्तमान शारीरिक धर्म और आवश्यकताओं से ही परिचय रखता हो ऐसी भी बात नहीं है। वह तो अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य को लेकर जीवन की एक सम्पूर्ण कल्पना कर पाता है और फिर उस सम्पूर्ण जीवन का एक रेखाचित्र, एक मानचित्र अपने सम्मुख रखकर अपने समस्त कर्मों को उसी की छाया में देखना चाहता है। पशु को क्षुधा लगती है और वह भोजन की खोज में निकलता है, भोजन प्राप्त करता है और खा-पीकर सन्तुष्ट हो जाता है। मानव को भी तो क्षुधा सताती है किन्तु वह केवल निजी क्षणिक क्षुधा की शान्ति के लिए ही कर्म नहीं करता वरन् कभी कभी तो अपने जीवन के सम्पूर्ण रूप को देखते हुए क्षणिक क्षुधा के कष्ट को सहन ही करता रहता है और उसकी शान्ति भी नहीं करता केवल इसलिए कि उसकी क्षुधा शान्ति का साधन उसके जीवन के पूर्ण चित्र के विरुद्ध है। मानव न केवल जीवन का एक सम्पूर्ण चित्र ही सम्मुख रखता है जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य सब ही का स्थान होता है वरन् उस चित्र को यथार्थ बना सकने के लिए समस्त सम्भव साधनों की खोज भी करता है। उन साधनों को परिस्थितियों के साथ रख कर जाँचता है और फिर सम्पूर्ण के सम्बन्ध में उन्हें सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। यही है मानव जीवन की उद्देश्य की ओर ध्यान रख कर चलनेवाली गति। वह अपनी प्राकृतिक, शारीरिक माँगों का नियन्त्रण भी करता है और यह भी जानता है कि वह ऐसा जान-बूझकर अपने सम्पूर्ण जीवन की सफलता के लिए कर रहा है। यह जीवन-चित्र किसी न किसी ऐसे ही आदर्श चित्र के आधार पर बने होते हैं और वही मानव के लिए आदर्श (Ideal) बन जाते हैं। ये आदर्श मानव को

प्रेरणाएँ देते है, गति देते हैं। मानव यह जानता और समझता है कि ये आदर्श उसे किसी ध्येय की प्राप्ति की ओर ले जाते है जब कि साधारण शारीरिक माँगें स्वयं अपनी तृप्ति तक ही सन्तुष्ट रहती है और उससे अधिक दूर तक चल पाती ही नहीं है अतः मानव इन शारीरिक माँगों और उनकी पूर्ति को इन आदर्शों से निम्न स्थान देता है और इन आदर्शों की सहायता से ही शारीरिक माँगों और उनकी पूर्ति को नियन्त्रित करता रहता है। यही उसका नैतिक बल है। यही वह शक्ति है जो कि उसे पशुओं से उच्चकोटि में रखाती है किन्तु जहाँ

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्य मेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

के अनुसार हम 'धर्म' को कर्तव्य ज्ञान अथवा नैतिक शक्ति को मनुष्य का आवश्यक गुण बताते है, जहाँ केवल इसी एक मात्र गुण के आधार पर हम उसे पशुओं की श्रेणी से पृथक् करते हैं और इसके अभाव में पशु ही मान लेते है, वहीं इस गुण के दुरुपयोग करने पर जो भयंकर परिणाम हो सकता है उस ओर भी हमारा ध्यान रहना ही चाहिए। जहाँ कि मनुष्य में यह शक्ति है कि वह अपनी प्राकृतिक शारीरिक माँगों का नियन्त्रण कर सके; जहाँ वह श्रेय का चुनाव कर सकता है, उसमें इस प्रकार का चुनाव करने की शक्ति है, वहीं वह उस चुनाव का दुरुपयोग करके अपने आपको अश्रेय की ओर भी ले जा सकता है। पशुओं के जीवन में जहाँ नैतिकता का स्थान नहीं है वही अनैतिक हो सकने का भय भी तो नहीं है। जीवन एक रस चलता तो जाता है किन्तु मानव जीवन मे तो अनैतिक होने का भी पूरा पूरा भय रहता ही है और अनैतिक होकर मानव किसी भी सीमा तक पतन के गर्त मे गिर सकता है। यहाँ तक कि वह पशुओं की कोटि से भी निम्न स्तर तक पहुँच सकता है। अतः इस दशा से बचने के लिए उसे स्वयं अपने लिए पथ का निर्माण करना पड़ता है। यह पथ की खोज, पथ का निर्माण और स्वनिर्मित उस पथ पर चलना जिसे कि वह श्रेयस्कर समझता है तथा उसी पथ पर चलते हुए अपनी स्वाभाविक शारीरिक माँगों को बुद्धिपूर्वक उचित एवं श्रेय के आधीन करना ही तो मानव की नैतिक कुशलता है। इसी को लिये दिये मानव का चरित्र निर्माण होता है और यही मानव-जीवन का किसी सीमा तक उद्देश्य भी तो होता है। इसी उद्देश्य को लेकर हमारे सारे दैनिक व्यवहार चलते है। प्रायः सब ही व्यवहारों मे जीवन के उद्देश्य की छाप रहती ही है। हमारी अन्त-र्वृत्ति भी तो इसी उद्देश्य की नीव पर भवन बना कर खड़ी होती है। यूँ तो

प्राय: हमारे जीवन के सब ही छोटे मोटे व्यवहारों में, आचरण में कोई न कोई उद्देश्य निहित रहता ही है और इस प्रकार के उद्देश्य का जीवन के साधारण उद्देश्य से कुछ न कुछ सम्बन्ध भी रहता ही है फिर भी मानव अपने सम्पूर्ण जीवन का भी एक विशेष उद्देश्य रखता है और उसी उद्देश्य के पीछे हमें उसका ध्येय दिखाई देता है। यह ध्येय ही उसके समस्त जीवन को गति देता रहता है। इसी ध्येय को लेकर वह अपने नैतिक कर्म अर्थात् पथ की खोज आदि करता है। यही ध्येय उसे श्रेष्ठनैतिक आचारवान व्यक्ति बनाने में सहायक भी सिद्ध होता है। उसका सारा ज्ञान, सारी बुद्धि, सारा व्यक्तित्व, सम्पूर्ण अन्तर्वृत्ति इसी ध्येय की ओर देखती है। अत: नैतिकता के मुख्य आधार''ध्येय अथवा अन्तिम नैतिक ध्येय को लेकर ही नैतिकता के मापदण्ड की चर्चा की जा सकती है। अत: प्रश्न यह होता है कि यह ध्येय क्या है? कैसा है? विभिन्न ध्येयों के आधार पर ही विभिन्न आचार-शास्त्र सम्बन्धी विचारधाराओं का निर्माण किया जा सकता है और विभिन्न ध्येयों की परीक्षा करके ही तो हम यह जान पायेंगे कि नैतिक दृष्टि से कौन सा ध्येय अधिक सिद्ध है, अत: पूर्ण है। सुखानुभूति, बौद्धिक शक्ति, आत्मानुभूति (Self-realisation) आदि इसी प्रकार के ध्येय है जिनकी चर्चा विभिन्न आचार-शास्त्र के विद्वानों ने समय समय पर की है और मानव अपने निजी जीवन में भी उनका अनुभव समय समय पर करता रहता है। इन्हीं सब ध्येयों की चर्चा हम यथास्थान करेंगे। किन्तु इतना तो यहाँ भी जान लेना आवश्यक है कि मानव का वही कर्म नैतिक कर्म माना जा सकता है जो कि सोद्देश्य हो, जिसका सम्बन्ध किसी ध्येय से हो और जिसका चयन मानव उस ध्येय को लक्ष्य में रख कर ही करता हो। अत: मानव के नैतिक जीवन में ध्येय का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि ध्येय को लक्ष्य में रख कर ही मानव के कर्मों की नैतिकता को आँका जा सकता है। अत: अब हम उन ध्येयों की चर्चा करेंगे जिन्हें कि विभिन्न विचारकों ने मानव के नैतिक जीवन का अन्तिम ध्येय माना है और यह मानकर ही उसके नैतिक जीवन का ढाँचा तैयार किया है।

अध्याय ६

सुखवाद

नैतिक निर्णय की कसौटी, ध्येय : सुख—सुख और दुःख यह दो ऐसी अनुभूतियाँ है जो कि सम्भवतः सृष्टि के आदिकाल से ही मानव के जीवन से, मानसिक जगत् से सम्बद्ध हैं। महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है :—

दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्। १३६.६१।

अर्थात् दुःख से सब ही मानव भागते है और सुख की सब ही इच्छा करते हैं। साधारण जीवन का अनुभव भी हमें यही बताता है कि प्रायः हम सुख की खोज में ही लगे रहते हैं। कोई भी मनुष्य दुःख पाने की इच्छा नहीं करता, दुःख पाने की इच्छा से कोई कर्म भी नहीं करता। सदा सर्वदा हम यही चाहते हैं कि हमें सुख की प्राप्ति हो। अतः प्रत्येक कर्म के पीछे कर्ता का उद्देश्य यही रहता है कि वह सुख की प्राप्ति करे अतः कर्म तो केवल साधन है, माध्यम है। वस्तुतः कर्ता की दृष्टि कर्म की ओर न रह कर रहती है सुख की ओर। अतः सुख को ही नैतिक निर्णय की कसौटी मान लेना चाहिए क्योंकि इसके अतिरिक्त और कोई उपाय भी तो नहीं रह जाता है। विविध प्रकार के आध्यात्मिक तत्त्वों के विश्लेषण में पड़कर भी तो हमें अन्त में मानव के ध्येय तक ही पहुँचना पड़ेगा अतः उसी ध्येय को लेकर क्यों न चला जाए जो कि मानव जीवन के साथ अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है। और यह है एक चिरन्तन सत्य तथ्य कि मनुष्य सब ही कर्म आवश्यक रूप से सुख प्राप्ति के लिए और दुःख निवारणार्थ ही करता है क्योंकि ऐसा करने के अतिरिक्त और उसके लिए कोई मार्ग है भी नहीं अतः उसे सुख को ही अपना ध्येय मानकर कर्म करना चाहिये। इस सिद्धान्त को सुखवाद कहा जा सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि सब ही देशों और सब ही काल के आचार-शास्त्रियों का ध्यान 'सुख' को ध्येय मान लेने की ओर गया ही है। प्रायः बहुत से आचार-शास्त्रियों ने मूलतः इस सिद्धान्त को मानकर ही चलने का प्रयत्न किया है कि सुखेच्छा

मानव का ध्येय होता है और होना भी चाहिये। अब प्रश्न यह तो होता ही है कि उस 'सुख' की व्याख्या क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? जिसकी इच्छा मानव करता है और उसे करना चाहिए।

सुखवाद की विचारधाराएँ—मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक, स्वार्थ सुखवाद एवं परार्थ सुखवाद—इस प्रश्न के उत्तर में अनेको विचारकों ने अपने अपने मतों का प्रतिपादन किया है। प्राय: वे सब यह तो मानते ही है कि 'सुख' ही मानव जीवन का अन्तिम ध्येय है। उनमें से कुछ विचारकों का ऐसा विश्वास है कि मानव सुख के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की इच्छा करता ही नहीं है अथवा मानव केवल 'सुख' की ही इच्छा करता है और अनिवार्य रूप से करता है, वही उसके लिए एक मात्र इच्छा करने योग्य (desirable) वस्तु है अत: उसे उसकी ही इच्छा करना चाहिए। इस प्रकार के मत का समर्थन करनेवाले विचारकों की विचारधारा को मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological-Hedonism) कहा जा सकता है। कुछ एक अन्य विचारक ऐसा विश्वास करते है कि प्रश्न यह नहीं है कि मानव सुख की ही इच्छा करता है इस लिए उसे सुख की इच्छा करना चाहिए वरन् सुख ही वास्तव में मानव का ध्येय होना चाहिए। इन्हे नैतिक सुखवादी (ethical Hedonist) कहा जा सकता है। इस विचार-धारा के समर्थकों के भी दो वर्ग है। एक तो वे विचारक है जो स्वार्थ (egoistic) को प्रधानता देते है और दूसरे परार्थ (Altruistic) को। इन दोनों ही वर्गों के विचारकों में विचारों की सूक्ष्मता की दृष्टि से उपवर्ग भी मिलते है जिनकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे किन्तु यह भी तो देखना आवश्यक है कि जब हम यह कहते है कि सुख मानव ध्येय है अथवा होना चाहिए तो हम उससे क्या समझते है। सुख को यदि हम अनिवार्य रूप से एक मात्र मानव ध्येय मानते है तब तो परिस्थिति कुछ भिन्न हो जाती है। उसका तो यह अर्थ होता है कि 'सुख' ही एक मात्र प्रेरक (motive) है और मानव केवल मात्र सुख द्वारा प्रेरित होकर ही कर्म करता है। ऐसी अवस्था में प्रेरक कौन न सा होना चाहिए यह तो प्रश्न रह ही नहीं जाता है क्योंकि प्रेरक तो एक ही है और वह है 'सुख' अत: 'प्रेरक' को लेकर तो किसी प्रकार का चुनाव करना कर्ता की शक्ति से बाहर है। ऐसी अवस्था मे उस पर तो कोई नैतिक निर्णय दिया ही नहीं जा सकता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि आचार का मूल्यांकन यह देखते हुए ही किया जा सकता है कि वह कितने सुख की उत्पत्ति कराता है, क्योंकि

इच्छा का अन्तिम लक्ष्य, उद्देश्य सुख प्राप्ति ही तो है, उसी से प्रेरित होकर तो कर्ता कर्म क्षेत्र में अवतरित होता है। एक आचारण का दूसरे आचरण से अधिक महत्त्व तब ही हो सकता है जब कि वह दूसरे आचरण की अपेक्षा सम्भावित से अधिक सुख उत्पन्न करने में अधिक सफल एवं उपयोगी सिद्ध हो सके किन्तु यह सुख वर्तमान क्षण का ही सुख होगा। दूसरा तात्पर्य यह भी हो सकता है कि प्रेरक तो एक मात्र 'सुख' अथवा सुखेच्छा ही है किन्तु उस सुखेच्छा के पीछे केवल मात्र वर्तमान क्षण की ही भावना नहीं है वरन् अतीत को ध्यान में रखते हुए भविष्य सुख पर भी दृष्टि है रोगी बालक यदि इस समय माँ की चोरी से मिठाई खा भी लेता है अर्थात क्षणिक सुखेच्छा से प्रेरित होकर कर्म करता है तो वह क्षणिक सुख भविष्य के माँ की मार और पेट की पीड़ा के दु:ख की अपेक्षा कहीं न्यून रह जाता है अत: सब मिलाकर उसके भाग में दु:ख-सुख की अपेक्षा कही अधिक आता है जो कि उसका ध्येय नही था, जिसकी प्राप्ति उसका उद्देश्य नही था वरन् जिसे निवारण कर पाना ही उसके ध्येय की प्राप्ति मे सहायक हो सकता है। अत: वह कुल मिलाकर अधिक सुख प्राप्ति हेतु किए गए कर्म को ही उचित मानता है। उसे वही कर्म करना चाहिए जो कि उसे कुल मिलाकर दु:ख की अपेक्षा सुख ही अधिक दे। इन्हीं दोनों विचारधाराओं का प्रतिपादन प्राचीन यूनान में क्रमश: वर्तमान स्वार्थ सुखवाद और बुद्धि जन्य स्वार्थ सुखवाद के समर्थकों ने किया था। प्रथम विचारधारा का प्रतिपादन प्राचीन भारत में चार्वाक ने लोकायत मत के अन्तर्गत किया था और सम्भवत: प्राचीन भारत में आधिभौतिक जगत् को ही चिरन्तन तत्व माननेवाला यही एक मात्र मत था।

प्राचीन मत—लोकायत, स्वार्थ सुखवाद, बुद्धिजन्य स्वार्थ सुखवाद—कुछ एक सुखवादी आचार-शास्त्रियों का यह मत है कि आचार सम्बन्धी नैतिक निर्णयादि का आधार आध्यात्मिक अथवा आधिभौतिक तत्त्वों से परे हो ही नही सकता है और होना चाहिए भी नही। इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि वस्तुत: 'स्वार्थ' ही विश्व मे एकमात्र सत्य है और उसी को आधारशिला मानकर मानव को आचार व्यवहार के नैतिक पक्ष को समझने मानने का प्रयत्न करना चाहिए। 'लोकायत' दर्शन के प्रणेता श्रीयुत चार्वाक का तो मत था कि शरीर ही एकमात्र अन्तिम सत्य है। "भस्मी भूतस्य देहस्य

पुनरागमनः कुतः" पुनर्जन्म, आत्मा आदि के चिरस्थायी अस्तित्व को अस्वीकार करके वह सहज ही कह पाये थे "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" अर्थात् पञ्चमहाभूत निर्मित यह देह ही सत्य है और इसके नष्ट हो जाने पर कुछ भी शेष नहीं रह जाता है अतः ऋण लेकर भी यदि इस देह को सुख पहुँचाया जा सके तो वही करना उचित है, श्रेय है। इस सिद्धान्त को मानकर हम इस निष्कर्ष तक तो सहज ही पहुँच सकते हैं कि मानव के कर्म का एकमात्र नैतिक निर्णय सम्बन्धी आधार व्यक्तिगत दैहिक सुख है। वे कर्म जो मानव को दैहिक निजी सुख की प्राप्ति करने में सहायक हों श्रेय हैं, उचित हैं और जो इसके विपरीत हों वह अश्रेय है, अनुचित हैं। इस प्रकार की विचारधारा अन्य देशों में भी सनातन से ही चली आती है। यूनान में प्रसिद्ध विचारक एवं तत्त्वज्ञानी सुकरात (Socrates) के शिष्य अरिसटिप्पस (Aristippus) इसी प्रकार के मत के समर्थक थे। वह तथा उनके अन्य सहयोगी तथा समर्थक यह विश्वास करते थे कि सुख की जैसे भी प्राप्ति होती है उसे ग्रहण करना ही चाहिए और सुख प्राप्ति के समय भविष्य की चिन्ता, अतीत का दुःख भार तथा एक सुख की दूसरे सुख के साथ तुलनात्मक आलोचनादि करके वर्तमान सुख को न्यून नही करना चाहिए। अभी हम देख ही चुके हैं कि चार्वाक का मत भी कुछ-कुछ इसी प्रकार का था। सत्य केवलमात्र वर्तमान क्षण ही हैं अतः उन्हीं मे सुख की प्राप्ति करना चाहिए क्योंकि वही निश्चित सुख है और सुख प्राप्ति ही मानव का ध्येय है। यूनान मे प्रचलित इस विचार-धारा को वर्तमान स्वार्थ सुखवाद (Cyrenaicism) कहा जा सकता है किन्तु कठिनाई तो उस समय पड़ती है जब कि सदा सर्वदा निजी सुख और सो भी वर्तमान काल का ही देख कर काम चल ही नहीं पाता है। मनुष्य सुख चाहता है किन्तु सदा सर्वदा केवल अपना ही सुख पाकर, सुखेच्छा से कर्म करके भी सुख तो पा नहीं लेता है। दूसरी ओर यदि हम सुख से केवल मात्र इन्द्रिय सुख का ही भाव सम्मुख रखें तो विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय सुख भी विना बुद्धि की सहायता लिए भोगे नहीं जा सकते हैं। मनुष्य दुःख निवारणार्थ और सुख प्राप्ति के लिए यह इच्छा करता है कि कोई उसके शरीर को कष्ट न दे, मारे पीटे नहीं। किन्तु यदि वह स्वयं दूसरों के शरीर को कष्ट देता है तो उसे भी इसी प्रकार का कष्ट दूसरों के हाथों भोगना ही पड़ेगा अतः घोर निजी स्वार्थ की दृष्टि से भी बुद्धिपूर्वक देखने पर यही जान पड़ता है कि सुखप्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय यही है कि दूसरों को कष्ट न दो। स्वहित और स्वहित तो तनिक दूर की बात हो

जायेगी स्वार्थ अथवा स्व सुख यहाँ तक कि निजी शारीरिक अथवा इन्द्रिय सुख, आधिभौतिक सुख यद्यपि प्रत्येक प्राणी को, प्रत्येक मनुष्य को इष्ट होता है और वह हर प्रकार से स्व सुख का ही उपाय करना चाहता है, उसी के लिए प्रयत्नशील रहता है फिर भी वैसा वह उस समय तक नहीं कर पाता है जब तक कि वह दूसरों के उसी प्रकार के सुख की ओर ध्यान न दे। सम्भवतः यहीं से आचार-शास्त्र की उत्पत्ति भी होती है। आत्मा के अस्तित्व को हम भले ही न स्वीकार करें, ईश्वर के अस्तित्व को भी चाहे अस्वीकार कर दें, यहाँ तक कि आचार-शास्त्र की तात्त्विक एवं दार्शनिक पृष्ठ भूमिका को भी हम अस्वीकार कर सकते है किन्तु तो भी चार्वाक और अरिसटिप्पस का क्षणिक सुख प्राप्त करने के लिए भी तो हमारे सामाजिक जीवन में केवल मात्र 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' से काम नहीं चलता है। कोई अन्य उपाय भी तो खोजना ही पड़ता है। और इसी की ओर इपीक्यूरस (Epicurus) संकेत करते है। यद्यपि वह भी स्वार्थ सुखवाद के ही समर्थक थे किन्तु उन्होंने निजी व्यक्तिगत सुख के लिए भी बुद्धि को साधन रूप मे स्वीकार ही नहीं किया है वरन् आवश्यक भी समझा है। उनकी प्रतिपादित विचारधारा के अनुसार यद्यपि मानव का ध्येय सुख ही है और सो भी निजी सुख...स्वार्थ किन्तु उसकी प्राप्ति का उपाय बुद्धि एवं तर्क जन्य है क्योंकि एक ओर तो 'सुख' का अर्थ केवल मात्र पाशविक सुख, शारीरिक निम्न कोटि के इन्द्रिय जन्य सुख मात्र ही न होकर बौद्धिक और सामाजिक सुख भी है। मानव जीवन मे निम्न कोटि के सुख की अपेक्षा उच्च कोटि के सुखों का ही अधिक स्थान है और दूसरी ओर अधिक इच्छा से ही अधिक दुःख मिलता है क्योंकि इच्छा की पूर्ति न होना ही तो दुःख का कारण है और दुःख को जितना भी न्यून किया जा सके उतना ही स्वार्थ की दृष्टि से श्रेयस्कर होगा अतः यही उचित जान पड़ता है कि इच्छाओं को न्यून किया जाए, उनका दमन किया जाए और परिणाम होगा सुख प्राप्ति तथा दुःख निवारण। इस विचारधारा के उस रूप को जिसका जन्म यूनान में हुआ था बुद्धि जन्य स्वार्थ सुखवाद (Epicureanism) कहा जा सकता है। प्राचीन यूनान में प्रायः इन्हीं दो प्रचलित स्वार्थ सुखवाद (Egoism) की विचारधाराओं ने उनको विद्वानों एवं विचारकों को इन समस्याओं पर विचार करने की प्रेरणा दी। फलस्वरूप अनेकों नवीन विचारधाराओं का भी जन्म हुआ किन्तु इन सब ही विचारधाराओं मे अन्य भिन्नताएँ होते हुए भी 'सुख' को मानव-जीवन का ध्येय तो माना ही गया है।

आधुनिक मत—वेनथम—हाब्स (Hobbes) के विचारानुसार 'सुख' की व्याख्या मानवेच्छा को लेकर ही की जा सकती है। उनके मतानुसार वही वस्तु इच्छा करनेवाले मानव के विचारानुसार श्रेय कहलाती है जो कि उस व्यक्ति की इच्छा अथवा प्राकृतिक माँग का विषय हो। (लेविएथन Leviathan छठा अध्याय) और उनके विचारानुसार मानव स्वभाव से ही विपय सुख रूप स्वार्थ का भक्त होता है। वह स्वभाव से ही, स्वार्थी और इन्द्रिय सुखेच्छुक होता है। फ्रांस में हेल्वेशियस ने भी इस प्रकार के मत का प्रतिपादन किया था। जेरमी वेनथम (Jeremy Bentham) के मतानुसार हमारी सम्पूर्ण प्रकृति, मानव का सम्पूर्ण जीवन और स्वभाव केवल दो सत्ताधारी प्रवृत्तियों के ही आधीन हैं और वह है सुख और दुःख। हमारे समस्त कर्म इन्हीं के द्वारा प्रेरित एवं शासित होते हैं। जो कुछ भी हम करते हैं दुःख निवारणार्थ एवं सुख प्राप्ति हेतु। अतः हम सुख की इच्छा करते ही हैं। एक फ्रान्सीसी विचारक तो यहाँ तक कह गये हैं कि मानव की समस्त प्रेरक प्रवृत्तियाँ केवल क्षुधा, काम और ईर्षा के ही अन्तर्गत होती हैं। जो हो वेनथम और उसके समर्थक यह तो मानते ही हे कि किसी भी कर्म का श्रेयत्व अथवा अश्रेयत्व इसी कसौटी के द्वारा जाँचा जा सकता है कि वह कर्म अधिकाधिक सुख प्राप्ति मे सहायक है अथवा नहीं। इस सिद्धान्त का आधार यह विश्वास ही हो सकता है कि सुख के अतिरिक्त मानव और किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता है, नहीं कर सकता है। यह तो हुई पूर्णतया मनोवैज्ञानिक सुखवाद की वात किन्तु यदि सुख के अतिरिक्त और कुछ मानव के लिए इच्छित वस्तु हो ही नहीं सकती है तो यह कहना ही व्यर्थ हो जाता है कि उसे सुख की इच्छा करनी चाहिए अथवा सुख उसका लक्ष्य होना चाहिए और यह कहना भी सर्वथा व्यर्थ हो जायेगा कि सुख के अतिरिक्त और कुछ उसका लक्ष्य नहीं होना चाहिये। अतः सर्वप्रथम यही देख लेना आवश्यक जान पड़ता है कि क्या सुख ही एकमात्र मानव की इच्छा का विषय है?

जव हम यह कहते हे कि हमारे सब ही कर्मों का प्रेरक सुख ही होता है अथवा हो सकता है तो हम इससे यह तात्पर्य लेते है कि हम वही कार्य करते है जो कि हमें उस समय सर्वाधिक सुख देता है अथवा हम भविष्य में होनेवाले सुख की ओर दृष्टि रखते हैं अथवा हमारा लक्ष्य सब ही कुछ देखते हुए कुल मिलाकर सर्वाधिक सुख पाना रहता है किन्तु सुख क्या है? 'अनुकूल वेदनीयं सुखं' जो अनुभव अथवा वेदना हमारे अनुकूल हो

वही सुख है। 'प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति' किसी दुःख के निवारण को ही सुख कहते है। जो अनुभव शरीर के अनुकूल होता है अथवा उसकी मॉग को सन्तुष्ट करता है वही सुख है। इनमें से जो भी अर्थ लिया जाय यह तो उनके मतानुसार निश्चित ही है कि सुख का मूल्यांकन इस पर आश्रित है कि वह कितनी अधिक मात्रा मे सुखदायी शारीरिक अनुभव उत्पन्न कर सकता है। यदि हम बेनथम की विचारधारा की विवेचना करें तो यह कहना कठिन हो जायेगा कि हम कुल मिलाकर सर्वाधिक सुख प्राप्ति के इच्छुक रहते है क्योंकि वर्तमान शारीरिक सुखदायी अनुभवों का आकर्षण भविष्य के सुखद अनुभवो से कहीं अधिक होता है। परीक्षार्थी यह भली प्रकार जानता है कि रात्रि में देर तक पढ़कर वह परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकता है जो कि उसका भविष्य का सुख होगा किन्तु जानते और समझते हुए भी निद्रा का समय आने पर वह वर्तमान सुख के वशीभूत होकर सो जाता है। वर्तमान क्षण का सुख भी तो प्रेरक नही हो सकता है क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो मैं दाँत खोखला होने पर भी जब तक उसमें वेदना नहीं होती उसे भरवाने के लिए दन्त चिकित्सक के पास नहीं जाती किन्तु मैं जाती हूँ अतः भविष्य सुख की भावना ही मुझे इसके लिए प्रेरित करती है वतमान क्षणिक सुख की भावना नही।

सुख की माप के सात आधार—यह तो बेनथम प्रतिपादित करते ही है कि जो वस्तु अन्तिम रूप से इच्छित वस्तु होने योग्य हो वही कर्म में लाने योग्य हो सकती है अतः जब भविष्य के सुख और वर्तमान क्षणिक सुख में तुलना होती है तो प्रायः वर्तमान क्षणिक सुख ही कर्ता चुन लेता है भले ही भविष्य का सुख भी उतना ही निश्चित हो जितना कि वर्तमान है। किन्तु है तो वे दोनों ही सुख—वर्तमान भी और भविष्य में होनेवाला भी तब फिर मनुष्य एक सुख की अपेक्षा दूसरे को क्यों अधिक महत्त्व देता है। इसका उत्तर इस वाद के समर्थक यह देते है कि क्यो कि एक सुख दूसरे की अपेक्षा मात्रा (quantity) मे अधिक है और उनके विचारानुसार किसी भी सुख की मात्रा कुछेक तथ्यों को देखते हुए निर्धारित की जाती है। यह तो निश्चित ही है कि कुछेक तथ्यों, गुणो को लेकर ही सुख की मात्रा का हिसाब लगाया जा सकता है। अन्यथा हम किस आधार पर किसी भी सुख को अधिक अथवा न्यून कह पायेगे। बेनथम ने इस प्रकार के सात आधार हमारे सम्मुख रखे हैं जिनके अनुसार सुख मापा जा सकता है। ये है—तीव्रता (Intensity). काल (duration), सामीप्य (near-

ness), निश्चित होना (Certainty), अमिश्रण (purity), फलदायित्व (fruitfulness) और विस्तार (extent)। इनमें से प्रथम छः को तो किसी प्रकार माप की वस्तु बनाया भी जा सकता है, यहाँ तक कि एक दूसरे के साथ भी मापा जा सकता है किन्तु अन्तिम के सम्बन्ध में कठिनाई अवश्य होगी। यदि हम उसी सुख को अधिक मात्रा में मानेंगे जिसका कि विस्तार अधिक हो अर्थात् जिससे अधिक व्यक्ति सुख पाते हों तो उसका हिसाब करना तो और भी कठिन समस्या हो जायेगी क्योंकि यह भी तो आवश्यक नहीं है कि अन्य व्यक्ति भी सुखवादी ही हों और उस प्रकार के सुख में विश्वास करते ही हों। भले ही हम संख्या की दृष्टि से सब ही व्यक्तियों मे से प्रत्येक को एक ही गिनकर चलें फिर भी यह आधार हमें सुख की मात्रा बताने में सहायक सिद्ध हो सकेगा यह संदेहास्पद है।

स्वार्थ सुखवाद की कठिनाई—यहीं सुखवादी विचारकों में भी मतभेद हो जाता है। वे विद्वान जो केवल अपने ही निजी सुख को मानने के पक्ष में होते हैं स्वार्थ सुखवादी (egoistic hedonist) कहलाते है और अन्य व्यक्ति जो कि दूसरों के सुख को भी स्वीकार करते हैं वरन् 'सर्वाधिक संख्या के सर्वाधिक सुख' के पक्ष मे होते है सार्वजनिक सुखवादी (universalistic hedonist) कहलाते है। जो इस समय तो हमारी चर्चा का विषय है सुख की मात्रा निर्धारित करना किन्तु कठिनाई तो यह है कि मात्रा का प्रश्न तो पीछे आता है पहले तो यह जाँचना आवश्यक हो जाता है कि सुख के इन सब संकेतों (signs) के होते हुए भी मानव कर्ता कभी कभी इनकी सीमाओं से परे भी चला जाता है और जब ऐसा होता है तो क्यों होता है? भविष्य के सुख के लिए तो वह वर्तमान क्षणिक सुख को त्याग नहीं पाता है, कुल मिलाकर सर्वाधिक सुख की प्राप्ति के लिए भी ऐसा नहीं करता है तब वह ऐसा क्यों करता है? साधारण सा उदाहरण ले लीजिए स्वादिष्ट भोजन मुझे सुख देता है। मेरे किसी मित्र ने मुझे ऐसे भोजन के लिए नियन्त्रण दिया है। भोजन स्वादिष्ट भी है, उसकी प्राप्ति निश्चित भी है और भी सब प्रकार की सुख प्राप्ति की सुविधाएँ होते हुए भी उसी दिन मेरे मित्र की माता रोगिणी हो जाती हैं और उसे मेरे पास बैठकर भोजन करने की सुविधा नहीं होती है अथवा वह स्वयं अस्वस्थ हो जाता है अथवा ठीक उसी समय मुझे उसके किसी सम्बन्धी का बुरा व्यवहार दिखाई दे जाता है आदि। यद्यपि मेरे सुख के सब ही साधन है फिर मैं भी उस सुख को सर्वाधिक सुख नहीं मान पाती हूँ। इससे यह तो

स्पष्ट हो ही जाता है कि मनुष्य सुख की ही इच्छा नहीं करता है वरन् एक प्रकार के, एक ढंग से प्राप्त सुख की इच्छा करता है। अतः सुख की इच्छा अथवा अधिकाधिक मात्रा में सुख की इच्छा-मात्र ही मनुष्य के लिए प्रेरक नहीं होती है वरन् प्रेरक कुछ और ही होता है। जान यह पड़ता है कि इच्छा की पूर्ति में, उसके सन्तुष्ट किये जाने में सुख की प्राप्ति होती है न कि सुख प्राप्ति की आशा से किसी वस्तु की इच्छा की जाती है। इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि मानव मन में प्रथम किसी वस्तु की इच्छा की उत्पत्ति होती है और तत्पश्चात् क्योंकि वह इच्छित वस्तु है इसीलिए सुखदायी जान पड़ती है अतः हम किसी वस्तु की इच्छा यह सोचकर नहीं करते कि वह सुखदायी है वरन् वह हमें इसलिए सुखदायी जान पड़ती है क्योकि वह इच्छित वस्तु है। इस तर्क के सहारे तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्तमान क्षणिक सुख भी सदा-सर्वदा कर्ता की इच्छा का अनिवार्य रूप से विषय नहीं होता है अर्थात् कर्ता का लक्ष्य अनिवार्य रूप से 'सुख' ही नहीं है।

नैतिक तर्क (Sanctions of Morality)—बेनथम के विचारानुसार सुख को ध्येय, इच्छित वस्तु मानकर चलते हुए भी मानव को कुछ नियमों का सहारा लेना पड़ता ही है। भोजन करने से सुख मिलता है किन्तु आवश्यकता से अधिक भोजन कर लेने से दुःख भी मिलता है अतः प्राकृतिक शारीरिक नियम हमें स्वयं ही ठीक मार्ग पर चलने के लिए बाध्य करते हैं। ठीक इसी प्रकार कुछ तर्क हैं जो कि नैतिक दृष्टि से हमें अपना आचार शुद्ध, श्रेयस्कर रखने के लिए बाध्य करते हैं। इन्हीं को नैतिक तर्क कहा जा सकता है। मानव के नैतिक जीवन में इनका महत्त्व और इसी महत्त्व की चर्चा सुखवाद के अपेक्षाकृत आधुनिक विद्वानों ने की थी जिनमें बेनथम का भी स्थान है। उनके विचारानुसार कुछ मुख्य नैतिक तर्क हो सकते हैं। सर्वप्रथम तो प्राकृतिक अथवा शारीरिक तर्क ही है। जिन कर्मों से हमें शारीरिक कष्ट (Physical pain) होता है उनसे हम दूर ही रहना चाहते है और केवल वही कर्म करना चाहते हैं जिनसे कि हमें शारीरिक कष्ट न हो वरन् शारीरिक सुख ही हो। इन्हे प्राकृतिक अथवा शारीरिक नैतिक तर्क (Physical or natural sanction) कहा जा सकता है। कुछ ऐसे भी तो कर्म होते हैं जिनके करने से राज्य की अथवा शासकों की ओर से दण्ड पाना पड़ता है। ये कर्म देश के विधानानुसार दण्डनीय घोषित होते है अतः इनके करने का दण्ड किसी न किसी प्रकार का कष्ट होता है। इस कष्ट से बचने के लिए

इन्हे नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के नैतिक तर्क को राजनीतिक नैतिक तर्क (Political sanction) कहा जा सकता है। किन्तु मानव एक समाज का भी तो सदस्य है उसे समाज द्वारा की गई प्रशंसा से सुख और निन्दा से दुःख की भी तो प्राप्ति होनी ही है। अतः समाज की आज्ञा अथवा इच्छा भी तो उसके कर्मों के निर्धारित करने में अपना स्थान रखती है। इस प्रकार का नैतिक तर्क सामाजिक (social sanction) होता है। मानव इस जीवन के अतिरिक्त भी तो जीवन की कल्पना करता ही है अतः इस जन्म के समाप्त हो जाने के पश्चात् होनेवाले जीवन मे प्राप्त पुरस्कार और दण्ड भी उसे सुख अथवा दुःख देते हैं। इनकी भावना और तत्सम्बन्धी नैतिक तर्कों को धार्मिक (Religious sanction) माना जा सकता है। ये चारों नैतिक तर्क तो मानव के बाह्य जीवन से ही सम्बन्धित हैं और वह मानव पर बाहर से ही प्रभाव डालते है किन्तु इनके अतिरिक्त भी एक और नैतिक तर्क होता है और वह है आन्तरिक नैतिक तर्क (Internal or केवल moral sanction) जो कि श्रेय कर्म में सुख और अश्रेय में दुःख की प्राप्ति ही प्रदर्शित करता है।

कठिनाई तो तब उपस्थित होती है जब कि हम एक ओर तो यह मानते हैं कि मानव के लिए प्रेरक केवल सुख अथवा दुःख ही है और दूसरी ओर ऐसे नैतिक तर्क देते है जिन्हे लेकर मानव अपने सुख की प्राप्ति का ध्येय रखता हुआ कर्म करता है। हम चोरी इस लिए नहीं करते है कि चोरी करने से हमे राज्य शासन द्वारा दण्ड मिलेगा जो कि दुःख होगा और हम दुःख से बचना चाहते है अतः हम चोरी नहीं करते है। अब चोरी न करने का मेरा कर्म सुख की भावना से प्रेरित नहीं हुआ वरन् इस बौद्धिक तर्क (Reason) द्वारा प्रेरित हुआ कि चोरी करने से परिणामस्वरुप कष्ट आना है भले ही चोरी करना सुखदायक हो। इसका तो यह अर्थ हुआ कि हमारा सुख भी राज्य, समाज, धर्म आदि की स्वीकृति पर निर्भर करता है। इस प्रकार के सिद्धान्त का मानना हमें सुखवाद के उन सिद्धान्तों से कहीं दूर ले जाता है जिनसे हमने आरम्भ किया था।

आन्तरिक नैतिक तर्क की स्वीकृति कठिनाइयाँ बढ़ाती हैं— इसके अतिरिक्त यदि आन्तरिक नैतिक तर्क को ही अधिक महत्त्व दिया जाय जैसा कि श्रीयुत मिल (Mill) ने प्रयत्न भी किया है तो भी कठिनाइयाँ न्यून नहीं हो जाती हैं। यद्यपि इन नैतिक तर्कों का मानव जीवन

के साधारण नैतिक विकास में बहुत बड़ा हाथ हो सकता है, यह माना जा सकता है कि मानव की नैतिक विचारधाराएँ अपने निर्माण के लिए जान अथवा अनजान रूप में समाज, राज्य आदि द्वारा स्वीकृत नियमादि से सहायता प्राप्त करतीं है किन्तु जब हम यह मानते हैं कि प्राकृतिक प्रेरक सुख दु:ख हो है तो क्या इस प्रकार से हम प्राकृतिक प्रेरकों का स्थान कृत्रिम प्रेरकों को नही देने लगते है। सुख और दु:ख के स्थान पर हम उन विचारों और विश्वासों को रखने लगते है जो कि समाज, राज्य एवं धर्म द्वारा स्वीकृति प्राप्त होते है। ऐसा करने से हमें सुखवाद के मूल सिद्धान्तों को पीछे छोड़ आना ही पड़ता है। अत: नैतिक तर्क सुखवाद के मूल सिद्धान्तों के सिद्ध करने मे सहायक नहीं होते है।

एक और कठिनाई यह भी होती है कि केवल सुखेच्छा को ही यदि कर्म का प्रेरक मान लिया जाता है तो सम्भवत: हमें सुख के लिए केवल मात्र 'शारीरिक सुख' की ओर ही संकेत करना पड़ेगा किन्तु वहाँ भी तो विपत्ति का अन्त नहीं है। एक ही वस्तु से विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रकार का शारीरिक सुख विभिन्न मात्रा में प्राप्त करते हैं और उस सुख की मात्रा आदि व्यक्ति के चरित्र उसकी शिक्षा-दीक्षा पर भी तो आश्रित रहती है। वस्तुत: सुख प्राप्ति किसी सीमा तक उस मानव पर भी आश्रित रहती है जो कि इस सुख-विशेष की प्राप्ति के लिए किये गये कर्म के चुनाव से पूर्व ही कर्ता के मन में थी। हम यह कहते है कि हमारे प्रत्येक कार्य का हेतु आवश्यक रूप से स्वार्थ-मूलक होता है, यहाँ तक कि परोपकार, सेवा आदि में भी मूल कारण या तो उस दु:ख से निवृत्ति, निर्वाण पाना होता है जो कि किसी व्यक्ति को दु:खी देखकर हमारे मन में उत्पन्न होता है, अथवा उस भावना से मुक्त होना होता है जो कि दु:खी व्यक्ति को देख कर हमारे मन में उत्पन्न होती है कि कहीं हम भी ऐसी दयनीय स्थिति में न हो जायँ, अथवा अन्य व्यक्तियों से प्रशंसा प्राप्त करके उससे सुख पाने की इच्छा होती है। हम यह भी देखते है कि सुख की प्राप्ति तब ही हो सकती है जब कि मन में कुछ निष्पक्ष इच्छाएँ (Disinterested desires) भी हों क्योंकि जब किसी सुख-विशेष को इच्छा का लक्ष्य बनाया जाता है तो केवल उसी को इच्छा का लक्ष्य बना कर सुख की प्राप्ति ही नहीं हो पाती है अत: कुछ निष्पक्ष इच्छाओं का होना भी आवश्यक है यद्यपि रुचिरहित इच्छाएँ सदा सर्वदा श्रेयस्कर इच्छाएँ ही हों यह आवश्यक नहीं है। यद्यपि हमने यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि दया, सेवा, परोपकार, स्नेह आदि के मूल में भी सुख की इच्छा ही है और इन सब कर्मों में हम

इसलिए रुचि लेते है कि हमें इनसे सुख मिलता है किन्तु हम परोपकार करके इसलिए सुख प्राप्त नहीं करते है कि परोपकार से ही हमें सुख मिलता है अथवा मिल सकता है वरन् परोपकार से हमे सुख इसलिए मिल पाता है कि हम उससे पूर्व दूसरे व्यक्ति के कल्याण की इच्छा रखते हैं। ठीक ऐसा ही उन कर्मों मे सुख पाने से भी होता है जिन्हे हम दुष्कर्म कहते हैं। किसी को गाली देकर हमें सुख मिलता है इसलिए नही कि गाली देने मे ही सुख है वरन् इसलिए कि हम उसे गाली देने, उसका अपकार करने की इच्छा करते थे । इस ओर श्रीयुत बटलर (Butler) ने ध्यान दिलाया था। अतः मानव के समस्त कर्मों में निहित स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों की खोज सम्भवतः उतनी ठीक न होगी।

उपयोगिता का सिद्धान्त—श्रीयुत वेनथम के विचारों में उपयोगिता के सिद्धान्त (Principle of utility) का पर्याप्त महत्त्व है। सम्भवतः वही मानव के लिए नैतिक माँग (Moral obligation) भी है। वह कर्म जो कि सुख प्राप्ति में अधिक उपयोगी है अधिक श्रेयस्कर भी है। मानव जीवन की सम्पूर्ण कथा, उसके सारे कर्म दो प्रधानों के ही अधीन हैं सुख और दुःख और उन्हीं को ध्येय मानकर नैतिक मापदण्ड निर्धारित किया जा सकता है, उन्हीं के आधार पर किसी भी कर्म का श्रेयत्व अथवा अश्रेयत्व स्वीकार किया जा सकता है। सुख-दुःख प्रधान इसलिए माने गये है कि सुख ही मानव जीवन में एकमात्र प्रेरक है। अभी तक तो हम यह देखने का प्रयत्न कर रहे थे कि क्या सुख ही मानव जीवन में एकमात्र प्रेरक है। हमने यह देखा कि वस्तुतः मानव का ध्येय सुख न होकर कुछ और ही होता है फिर भी उसे इच्छा की पूर्ति हो जाने से सुख मिलता ही है। यद्यपि वह सुख को ही इच्छा का विषय बनाता हो ऐसी बात नहीं है वरन् जिसे इच्छा का विषय चुनता है वह वस्तु उसे सुखदायी प्रतीत होती है क्योंकि वह इच्छित वस्तु होती है। यदि तनिक देर के लिए यह प्रश्न छोड़ भी दिया जाय कि सुख सदा-सर्वदा इच्छा विषय और ध्येय है अथवा नहीं, जिसकी चर्चा हम पीछे कर भी चुके है तो भी यहाँ यह तो देख ही लिया जाय कि इन सबसे सम्बन्धित उपयोगिता का सिद्धान्त कहाँ तक चल पाता है। इस सिद्धान्त को देखते हुए प्रश्न यह उठता है कि मानव स्वभाव में कौन सा ऐसा प्रेरक है जो कि उपयोगिता के सिद्धान्त को मानव द्वारा मनवाये ही। सुख तो हम देख ही चुके है कि ऐसा कारण नहीं हो पाता है। वस्तुतः वे ऐसा कोई प्रेरक खोज ही नहीं पाते हैं।

जॉन स्टुअर्ट मिल के विचार—हम इससे पूर्व देख ही चुके है कि मनुष्य वस्तुतः साधारण सुख की ही इच्छा नहीं करता है वरन् किसी विशेष प्रकार के सुख की इच्छा करता है। यह तो निश्चित ही है कि जहाँ हमने इच्छा का विषय 'सुख' से हटाकर 'विशेष प्रकार का सुख' मान लिया वहीं सुखवाद के सिद्धान्तों की नींव हिलना आरम्भ हो जायगी। इसी प्रकार यदि मानव किसी भी कारण से किसी सुख की इच्छा उसकी मात्रा के अतिरिक्त किसी और कारण से करेगा तो प्रश्न उठता है कि वह कारण क्या हो सकता है। उदाहरणार्थ मुझे अपने इस एक घंटे को उपयोग में लाना है। मान लीजिए कि प्रेरक यहाँ भी सुख ही है। मैं इस एक घण्टे में ताश खेल सकती हूँ, अथवा सो सकती हूँ। बेनथम के लक्षणों के अनुसार ताश खेलना सहज निश्चित सुख है उसकी सुखमात्रा भी पुस्तक लिखने की अपेक्षा अधिक हो सकती है और अन्य सब दृष्टि से भी ताश खेलने के सुख की मात्रा पुस्तक लिखने के सुख की अपेक्षा अधिक है फिर भी मैं पुस्तक लिखने का कर्म ही अपने लिए चुनती हूँ। इसका क्या कारण है? कारण क्या यह नहीं है कि यद्यपि ताश खेलना मात्रा की दृष्टि से अधिक सुखकर हो तथापि पुस्तक लिखना महत्त्व (Quality) की दृष्टि से अधिक सुखकर है। बेनथम का ध्यान केवल मात्र सुख की मात्रा की ही ओर था। सर्वप्रथम मिल ने सुख के महत्त्व के प्रश्न को उठाया उन्होंने यह माना कि उपयोगिता के सिद्धान्त को सम्मुख रखते हुए भी हमें यह मानना ही पड़ता है कि कुछ एक प्रकार के सुख अन्य प्रकार से सुखों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है और इच्छित वस्तु बनाने के लिए भी योग्यतर प्रतीत होते हैं। ऐसी अवस्था में किसी भी सुख का मूल्यांकन उसके महत्त्व को छोड़ कर केवल मात्र उसकी मात्रा पर ही दृष्टि रख कर कैसे किया जा सकता है। सुख की मात्रा और उसके अधिक एवं न्यून का प्रश्न तो पीछे आता है पहले तो प्रश्न यह है कि क्या मात्रा के विचार से भिन्न, अपने निजी अस्तित्व के ही रूप में एक सुख दूसरे सुख की अपेक्षा अधिक मान्य हो सकता है? मिल के विचारानुसार तो इस प्रश्न का हल इस प्रकार खोजा जा सकता है कि यदि बहुत से व्यक्तियों ने किन्ही दो सुखों का अनुभव किया हो और उनमें से सब ही अथवा अधिकांश, बिना किसी प्रकार की नैतिक माँग द्वारा प्रेरित हुए उनमें से किसी एक सुख को निश्चित रूप से अधिक मान्यता (Preference) देते है तो वही सुख दूसरे सुख की अपेक्षा इच्छा का अधिक दृढ़तापूर्वक विषय होना चाहिए। यदि इन दोनों में से दोनों ही सुखों से पूर्णतया

परिचित अज्ञ व्यक्ति एक सुख को दूसरे की अपेक्षा अधिक मान्यता देते है और यह जानते हुए भी देते है कि पहले सुख मे अधिक सन्तोष है और वह किसी भी मात्रा में पाने पर भी दूसरे सुख के लिए पहले सुख को त्यागने को तत्पर नही है तो यही मानना चाहिए कि पहले सुख का महत्त्व अधिक है। पूर्णतया सन्तुष्ट पशु होने की अपेक्षा असन्तुष्ट मानव होना सम्भवत: इसी दृष्टि से अधिक श्रेयस्कर है। यहाँ भी तनिक सी कठिनाई यह होती है कि क्या अज्ञ और दोनों सुखों से पूर्णतया परिचित व्यक्ति उन दोनों सुखों का मूल्याकन इच्छा करने के आधार पर करता है ? वस्तुत: किसी भी अधिक महत्त्वपूर्ण सुख की इच्छा करना सुखेच्छा नहीं है। यदि सुखेच्छा ही मानव का ध्येय होता तो वह केवलमात्र उन्हीं सुखों को अधिक रुचिकर मानता जो कि मात्रा मे अधिकाधिक हों किन्तु वह तो ऐसी वस्तुओं की भी इच्छा करता है जो कि वस्तुत. शारीरिक सुखदायी है ही नहीं वरन् मानव उनमें सुख प्राप्त करता है और इसी लिए करता है कि वह उन्हे प्राप्त करना चाहता है। वह उन्हे इसलिए प्राप्त करना चाहता है कि वह नैतिक दृष्टि से उच्च धरातल पर है न कि इसलिए कि उनका सुख की दृष्टि से अधिक महत्त्व है। एक व्यक्ति अपने पराधीन देश के वासियों की दासता की बेड़ियाँ काटने का प्रयत्न करता हुआ फाँसी के तख्ते तक पहुँच जाता है। उसके एक ओर सारे शारीरिक सांसारिक सुख है और दूसरी ओर शरीर का अन्त। स्वभावत: उसे शरीर के अन्त की प्रणाली और भावना दोनों में ही कोई किसी प्रकार का सुख नहीं मिल सकता है यहाँ तक कि उच्च महत्त्वपूर्ण सुख भी नहीं फिर भी वह उसे ही चुनता है जब कि दूसरी ओर शारीरिक सुखों की प्रचुर मात्रा सम्मुख उपस्थित है। वह किसी भी मात्रा में सांसारिक सुख पाकर देश के लिए शरीरान्त करना नहीं त्यागता है। यहाँ कारण यह नहीं है कि जो कुछ उसने चुना है वह अधिक महत्त्वपूर्ण सुख है वरन् वह तो सुख (Pleasure) है ही नहीं। फिर भी वह उसे इसलिए चुनता है कि वह नैतिक दृष्टि से अधिक मूल्यवान् है, श्रेय है, शिव है, सुन्दर है और इसी लिए वह उसमे शारीरिक सुख का पूर्णतया अभाव होते हुए भी सुख पाता है। मानव किसी भी मात्रा मे सुख प्राप्ति होने पर भी संघर्ष मय कटु मधुर मानव जीवन को पशु जीवन से परिवर्तित करना नहीं चाहेगा।

साधारणतया हम सुख का अर्थ इतना ही समझते है कि वह एक ऐसी चेतनावस्था है जो कि सुखपूर्ण है (A total state of consciousness which is pleasant) किन्तु कभी भी किसी भी मानव की कोई भी

चेतनावस्था ऐसी नहीं हो सकती है जिसमें केवल सुख ही हो, वहाँ सुख की भावना और सुखावस्थाएँ भी तो रहेगी ही। तब फिर किसी भी विशेष चेतनावस्था का सुख केवल अमूर्त ही हो सकता है और यदि अन्य सब ही वस्तुओं से पृथक् सुख केवल सुखानुभूति को ही समझा जायेगा तो उसका अस्तित्व खोज पाना भी कठिन हो जायेगा। यदि सुख को चेतनावस्थाओं में मानव के लिए रुचिकर (agreeable) होने तक ही सीमित करके देखा जायेगा तो फिर उनकी भिन्नता उनकी रुचिकर होने की मात्रा के द्वारा ही निश्चित की जा सकती है।

सब ही सुख एक ही प्रकार के है और केवलमात्र उनमें परस्पर मात्रा का ही भेद है यह कहना अब तनिक कठिन हो जाता है किन्तु दूसरी ओर सुख के प्रकार मानना, उनका महत्त्व मानना और उसी आधार पर उन्हें एक दूसरे से भिन्न करना और भी अधिक कठिन हो जाता है क्योंकि यह भी सत्य है कि सुख के प्रकार नहीं हो सकते है और यह भी मानना ही पड़ेगा कि हमें चेतनावस्थाओं का मूल्यांकन उनके रुचिकर होने की मात्रा, अथवा सुखदायी होने की शक्ति के अतिरिक भी किन्हीं और आधारों पर करना ही पड़ता है। अतः यह जान पड़ता है कि यद्यपि मिल ने सुखवाद के सिद्धान्त को अधिक पूर्ण और व्यापक करने के लिए सुखों के महत्त्व को स्वीकार कर लिया है तथापि ऐसा मानना उन्हे सुखवाद के सिद्धान्तों से परे ही ले जाता है। इसका तो यही तात्पर्य हुआ कि सुखवाद के सिद्धान्त को मानने के लिए वस्तुओं का मूल्यांकन इसी आधार पर करना पड़ेगा कि वे किस मात्रा में सुख प्राप्ति कराती है और इसी आधार पर उनके मूल्य में परस्पर भेद भी किया जा सकेगा। यदि हम इस मात्रा-आधार (quantitative basis of differentiation) के स्थान पर महत्त्वाधार (qualitative basis of differenciation) रखना चाहेगेतो फलयही होगा कि वास्तविक आधार 'सुख' न रह जायेगा वस्तुतः हो जायेगा कुछ और ही, क्योंकि महत्त्व और मात्रा का परस्पर सम्बन्ध तो स्थापित किया ही नहीं जा सकता है। महत्त्व को मात्रा में परिणित नहीं किया जा सकता है और सुख का हिसाब मात्रा के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार से लगाया नही जा सकता है। तब फिर यह तो मानना ही पड़ेगा कि नैतिकता का, श्रेयत्व का मापदण्ड केवलमात्र सुख अथवा रुचिकर अनुभव ही नहीं है वरन् कुछ और भी है और उस दृष्टिकोण से देखने पर मानव का ध्येय भी एकमात्र सुख ही नहीं रह जायेगा। यह तो हुई सुख के महत्त्व को स्वीकार करने की बात किन्तु यह मानते हुए भी कि सुख का सम्बन्ध केवलमात्र शारीरिक सुखद

अनुभवों से ही नहीं है वरन् मानवत्व (Dignity of man) और उसके विचार (sense of dignity) से भी है और इसी आधार पर उसकी मात्रा के अतिरिक्त उसके महत्त्व की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। श्रीयुत मिल सुखवाद का ही समर्थन करते है यद्यपि वह सुखवाद का संशोधित रूप उपस्थित करते है। उनके विचारानुसार किसी वस्तु की इच्छा करना, उसे अनुभव के पश्चात् सुखदायी पाना और उसे सुखदायिनी मानकर विचार करना एक ही बात है। हम वस्तुओं की इच्छा करते हैं और हमे वह सुखदायी रूप मे ही मिलती हैं और हम उन्हें सुखदायी मानते है इसी प्रकार मानव जीवन का कार-व्यवहार चलता है। सारी इच्छाएँ सुखेच्छाएँ है और इसी लिए सुख ही एकमात्र इच्छा करने योग्य वस्तु है क्योंकि सब ही व्यक्ति इसकी इच्छा करते है। (Since all desire is pleasure, pleasure alone is desirable because people desire it) वस्तुत: हमें सुख के दो अन्य अर्थों को भी समझ लेना चाहिए। सुख का एक अर्थ सन्तुष्ट हो जाना (Feeling of satisfaction) हो सकता है। भूख लगने पर भोजन पा जाने से हम सन्तुष्ट हो जाते है और ऐसी अवस्था मे हमे सुख का अनुभव होता है। किन्तु वस्तुस्थिति कुछ ऐसी थी कि हमारी एक माँग थी उसकी उपस्थिति से कुछ बेचैनी, कुछ कष्ट हो रहा था अत; उससे मुक्ति पाने की हमारी इच्छा थी और क्योंकि ऐसा भोजन करने से ही वैसा हो सकता था अत: हमारी इच्छा भोजन करने की हुई और भोजन कर लेने से उस स्थिति से हमें मुक्ति मिल गई अर्थात् हमारी इच्छा पूर्ण हो गई अर्थात् हम सन्तुष्ट हो गये। इसे हम सुखप्राप्ति कहते है किन्तु यह वास्तव में सन्तुष्ट होने की अनुभूति-मात्र ही थी। दूसरा अर्थ हम सुख-प्राप्ति से उस वस्तु की प्राप्ति भी ले सकते है जिससे कि सन्तोष मिलता है। अत: सुख से उस अनुभूति की ओर संकेत किया जा सकता है जिसे हम सन्तुष्ट होना कहते हैं और उस वस्तु की ओर भी इंगित किया जा सकता है जो सन्तुष्ट करती है। अब प्रश्न यह होता है कि हमारा ध्येय क्या है? क्या हमारा ध्येय सन्तुष्ट होना अथवा सन्तुष्ट होने का अनुभव करना है अथवा उस वस्तु की प्राप्ति करना है जो कि सन्तुष्ट करती है। यह हम पहले ही देख चुके है कि वस्तु की आकांक्षा तो सदा-सर्वदा इसी लिए ही नहीं होती है कि वह सुख देती है वरन् हम तो उससें सुख की प्राप्ति ही इसलिए कर पाते है कि हम उसकी प्राप्ति की इच्छा कर रहे हैं अत: सुख का सम्बन्ध तो इच्छा से हुआ,-वस्तु से नहीं। तिस पर यह भी हम देख ही चुके हैं कि हम सदा-सर्वदा साधारणतया

सुख की ही आकांक्षा करते हों सो बात भी तो नहीं है। हम तो एक विशेष प्रकार की परिस्थिति की, सुख की आकांक्षा करते हैं और कभी कभी इसमें वे सुखदायी वस्तुएँ भी आ जाती हैं जो इस जन्म में हमें प्राप्त नहीं हो सकती है। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वप्रथम किसी आवश्यकता का होना आवश्यक है। यह आवश्यकता शारीरिक ही हो ऐसा आवश्यक नहीं है। इस आवश्यकता के पीछे 'श्रेय की भावना' अथवा नैतिक विश्वास भी हो सकते हैं। जैसे कि यदि मेरा यह विश्वास है कि दीनों की सहायता करना श्रेयस्कर है तो मेरे लिये यह भी आवश्यक हो सकता है कि मैं दीनों की सहायता करूँ। मेरी अपने आपसे यह माँग हो सकती है कि मैं दीनों के हितार्थ कार्य करूँ। आवश्यकता माँग को जन्म देती है और माँग वस्तु की खोज करती है। वस्तु की प्राप्ति से सुख उत्पन्न होता है और वह भी इसलिए कि वह वस्तु हमारी इच्छित वस्तु थी, हमारी माँग के अनुरूप थी। अतः सुख की इच्छा को, माँग से पूर्व मान लेना मनोवैज्ञानिक सुखवाद की एक बड़ी भारी त्रुटि है। इसी भ्रम को घोड़े के पहले गाड़ी रख देना (hysteron-proteron) कहा जाता है

अँगरेजी के शब्द (Desirable) के द्विअर्थक होने के कारण भी बहुत कुछ भ्रमात्मक विचारों की उत्पत्ति सम्भव हो सकी है। इस शब्द का अर्थ 'इच्छित' (is desired) भी हो सकता है और इच्छा करने योग्य (Desire able) भी। यदि कोई वस्तु इच्छित है तो केवलमात्र उसका इच्छित होना ही उसके इच्छा करने योग्य पदार्थ होने के लिए पर्याप्त कारण नही हो जाता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि मानव सुख की इच्छा करता है तो क्या यही पर्याप्त कारण है कि वह उस ही की इच्छा करे अथवा उसे उस ही की इच्छा करना चाहिए, उसके लिए वही एकमात्र इच्छा करने योग्य वस्तु है। मिल (Mill) ने इसी भ्रमात्मक शब्द का लाभ उठाकर मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर नैतिक सुखवाद की आधारशिला रखने का प्रयत्न किया। किन्तु यह तर्क तो सहज ही माना नहीं जा सकता है कि हमें सुख की इच्छा करना चाहिए क्योंकि हम ऐसा करते हैं। अतः यह तर्क भी विफल हो जाता है।

बेनथम महोदय के विचारानुसार सुख जीवन के विकास अथवा उन्नति का चिह्न, साधन है। सुख से जीवन-वृद्धि होती है किन्तु सदा-सर्वदा ऐसा ही होता हो, यह बात नहीं है। सुख, विशेषतया इन्द्रियजन्य सुख सदा-सर्वदा जीवन-वृद्धि का कारण नहीं भी होते है यही नहीं कभी कभी तो वे सुख जीवन के ह्रास का सन्देश भी लाते ही है।

सुखवाद के सिद्धान्त की एक और कठिनाई की ओर हम संकेत कर चुके है और वह यह है कि एक तो हम सदासर्वदा सुख की ही प्राप्ति के ध्येय को लेकर नहीं चलते है यद्यपि हमें ऐसा करने पर भी सुख मिलता ही है। उदाहरणार्थ—करुणारसपूर्ण संगीत हमारे मन, प्राण को वेदनासिक्त कर देता है फिर भी हम ऐसा संगीत सुनते हे और उससे सुख पाते हे। अतः हम सदा वही कर्म खोज कर नहीं करते हे जिससे कि सुख मिले। करुण संगीत सुनना आरंभ करते समय हमे यही ज्ञात होता है कि हमें वेदना ही मिलेगी किन्तु उसी में फिर रस आता है, सुख मिलता है और फिर यदि सदा हम सुख की आशा ही करते रहे तो सम्भवतः सुख-प्राप्ति आकाश-कुसुम ही हो जाये। अतः श्रीयुत सिजविक (Sidgwick) के मतानुसार सुख प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय ही यही है कि सुख के विचार को विस्मृत कर दे क्योंकि उस पर दृष्टि रखने से तो वह हाथ आता ही नहीं है। अतः हमें किसी सीमा तक सुख की भावना से निर्लिप्त रहकर ही कर्म करना चाहिए तब ही सुख प्राप्ति सम्भव हो सकेगी।

यूँ तो "स्वार्थ से ही परार्थ की उत्पत्ति हुई है।" यह सिद्धान्त सर्वथा सिद्ध ही हो ऐसी बात नहीं है क्योंकि मनुष्य की (हाब्स तथा चार्वक के मतानुसार तो वह पूर्णतया स्वार्थी ही है) प्राकृतिक मनोवृत्तियाँ एकबारगी स्वार्थ-पूर्ण ही है, यह भी नहीं कहा जा सकता है। मानव मे जहाँ स्व-रक्षा (self-preservation) की भावना जन्म से ही रहती है वहीं किसी सीमा तक जाति-रक्षा (race preservation) की भावना भी तो रहती ही है अतः उसे पूर्णतया स्वार्थी नहीं माना जा सकता है। सम्भवतः स्वार्थ और परार्थ दोनों ही मानव स्वभाव में रहते हैं और एक का अस्तित्व है इसी से दूसरे के अस्तित्व को अस्वीकार कर देना कुछ उचित नहीं जान पड़ता है। यहाँ तक कि बृहदारण्यकोपनिषद् में जब याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहते है :—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति,
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।...

आदि आदि और अन्त में कहते है :—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

अर्थात् स्त्री अपने पति को पति होने के कारण नहीं वरन् अपने लिए

प्रेम करती है आदि आदि···अतः हम सब वस्तुओं को अपने ही अर्थ आत्मा के प्रीत्यर्थ ही तो प्रेम करते है।—(बृह.२.४,४.५)

किन्तु अन्त में वह पूर्णतया स्पष्ट कर देते हैं कि यह 'स्व' अथवा आत्मा जिसके लिए सब कुछ किया जाता है सीमित स्व (ego) न होकर है बृहदाहं, उदारस्व, वह स्व जो कि विचारणीय है तब ही त। उन्हें कहना पड़ता है—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो:... अर्थात् आत्मा के विषय में जानो, श्रवण करो, मनन करो, ध्यान करो। वही 'स्व' हो जाता है, 'ब्रह्म' 'तत्त्वमसि'। अर्थात् स्वार्थ और परार्थ के बीच की सीमाएँ रह ही कहाँ जाती है वह तो दोनों ही आत्मा में समा कर एकाकार हो जाते हैं। यही तो मानव का वास्तविक रूप है। अतः स्वार्थ और परार्थ के बीच कठिन शिलाओं को रखकर तो सुखवाद का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है।

यहाँ तक कि यदि हम सुख के महत्त्व और उसकी माप के कठिन प्रश्न को छोड भी दें और जणेक को यही मान ले कि सुख से हमारा तात्पर्य केवल इन्द्रियजन्य सुखों से ही है तो भी हमें मात्रा के आधार पर तो उनका लेखा-जोखा लेना ही पड़ेगा और वह भी तो कुछ सरल नहीं है अतः सुख को यदि मानव का ध्येय मान भी लें और यह भी मान ले कि हम सुख की ही इच्छा करते हैं तो भी एक सुख को दूसरे सुख से भिन्न देख पाने का एक मात्र उपाय उसकी मात्रा द्वारा उसका माप लेना भी तो हमारे लिए सरल नहीं है तव और उपाय ही क्या रह जाता है इसके अतिरिक्त कि हम यह मान लें कि सुख को ही इच्छा का एकमात्र लक्ष्य मान-कर चलना क्रियात्मक नहीं है। अतः हमें किसी न किसी ढंग से दो सुखों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय किसी तीसरे मापदण्ड की ओर ताकना ही पड़ता है अतः 'सुख' अपने आप में ही सत्य हो, श्रेय हो ऐसा तो नहीं जान पड़ता है।

वस्तुतः सुखवाद के समर्थक यह विस्मृत कर देते है कि सुख की प्राप्ति केवलमात्र इच्छा के ही आधार पर नहीं होती है वरन् उसके लिए 'सम्पूर्ण परिस्थिति' (total situation) का अनुकूल होना आवश्यक है अन्यथा सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती है। अतः किसी न किसी ढंग से हम मिल के साथ साथ इस विचारधारा तक पहुँच ही जाते है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि व्यक्ति का सम्पूर्ण सुख अथवा आनन्द (happiness) उसके लिए श्रेय है तो फिर इसी प्रकार सब ही व्यक्तियों के व्यक्तिगत आनन्द को उन सब ही के लिए श्रेय मानना होगा और उसका तो यह

तात्पर्य होगा कि सार्वजनिक आनन्द सार्वजनिक हित अथवा सबही के लिए श्रेयस्कर होगा। ऐसा मानकर तो हम स्वार्थ सुखवाद से कुछ आगे बढ़ जाते हैं और पहुँच जाते है सार्वजनिक सुखवाद के सिद्धान्तों के निकट। यद्यपि "अधिकाधिक जन-संख्या का अधिकाधिक सुख अथवा आनन्द" (greatest happiness of the greatest number) की चर्चा बेनथम और मिल आदि प्रायः सब ही विचारकों के समय से ही सुनी जा रही है।

सार्वजनिक सुखवाद, उपयोगितावाद—'स्वार्थ' और 'परार्थ' दोनों ही मानव स्वभाव में पाये जाते है भले ही ये दोनों ही दोषपूर्ण हों। (प्रवंतना लक्षणा दोषाः। गौतम-न्याय सूत्र १. १. १८) अतः एक को ही सत्य मानने के लिए दूसरे के अस्तित्व की कुछ इस प्रकार व्याख्या करना आवश्यक हो जाता है कि वह एक में ही समा जाये। हाब्स आदि कुछेक विद्वानों ने प्रत्यक्ष रूप से यही प्रयत्न किया है। उन्होंने मानव प्रकृति को सर्वथा स्वार्थपूर्ण मानकर परार्थ को स्वार्थ का ही 'संशोधित रूप' मान लिया है। कुछेक अन्य विद्वानों ने यद्यपि ऐसा ही करने का प्रयत्न किया है किन्तु परोक्ष रूप से। इन्होंने आरम्भ तो इसी दृष्टि से किया कि मानव का एकमात्र लक्ष्य निजी सुख है और वह आरम्भ इसी प्रकार से करता है किन्तु फिर अन्य सुख भी उस पर अपना महत्त्व जमाने लगते है और वह उनसे प्रभावित हो जाता है। सम्भवतः इसी दृष्टि से श्रीयुत काम्त (Comte) श्रीयुत स्पेन्सर (Spencer) आदि विद्वानों ने मानव में सहानुभूति (sympathy) नामक प्रवृत्ति को स्वीकार कर लिया। विकासवादी विचारक स्पेन्सर तो श्रेयत्व उसी को मानते है जो कि जीवन की समृद्धि और विकास में सहायक हो, और अश्रेय वही है जो जीवन विकास तथा समृद्धि के लिए हानिकर हो। श्रेयत्व का घनिष्ठ सम्बन्ध इसीलिए तो सार्वजनिक आनन्द से है भी कि सार्वजनिक आनन्द सार्वजनिक जीवन की समृद्धि और विकास का कारण है, उसमें सहायक है। इसी दृष्टिकोण से वह यह भी मानते हैं कि नैतिकता और उसकी वृद्धि एवं विकास में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक सत्ताओं का हाथ होता है किन्तु व्यक्ति यदि पूर्णतया समाजिक दृष्टिकोण रखने भी लगे तो भी उसमे जनहितार्थ-सहानुभूति-प्रवृत्ति (altruistic impulse of sympathy) तो रहेगी ही जो कि स्वार्थ और परार्थ दोनों का ही समन्वय करती रहेगी। ज्योंही हम सहानुभूति प्रवृत्ति का अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं त्योंही स्वार्थ सुखवाद की नींव हिल जाती है।

यह तो हम देख ही चुके हैं कि मानव सुख के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की भी इच्छा कर सकता है, करता है । स्वार्थ सुखवादी यह मानता है कि सुख ही बौद्धिक दृष्टि से एकमात्र ऐसी इच्छित वस्तु है जिसकी हमें इच्छा करना चाहिए और यह भी मानता है कि प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को इस विषय में उससे सहमत भी होना चाहिए । यदि कोई सहमत नहीं होता है तो उसकी तर्क बुद्धि में ही उन्हें सन्देह हो जाता है किन्तु जहाँ सुखवादी ने यह घोषणा की कि स्वार्थ सुख ही एकमात्र इच्छित वस्तु है और बौद्धिक तर्क की दृष्टि से यही प्रत्येक व्यक्ति को मानना चाहिए तो उसने इतना तो स्वीकार कर ही लिया कि ध्येय के मूल्याकन के लिए भी तर्क-बुद्धि (reason) की आवश्यकता है तथा वैसा कर पाने के लिए हमें किसी न किसी नैतिकता के व्यापक एवं पूर्ण मापदण्ड की आवश्यकता भी है । ऐसी अवस्था में तर्क-बुद्धि द्वारा नैतिकता से व्यापक मापदण्ड रखते हुए यह मानना तो कठिन हो ही जायगा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना क्षणिक इन्द्रिय जन्य सुख ही दृष्टि मे, लक्ष्य मे रखना चाहिए चाहे ऐसा करते हुए उसके सम्पूर्ण जीवन सम्बन्धी अधिक सुख की हानि भी होती हो क्योंकि तर्क-बुद्धि तो इस प्रकार के लक्ष्य को मूर्खता ही कहेगी । व्यक्तिगत क्षणिक सुख प्राप्ति के लिए भी तो किसी न किसी व्यक्ति के किसी न किसी सुख की बलि चढ़ानी ही पड़ती है किन्तु तर्क-बुद्धि की दृष्टि से उस बलि को हम कैसे उचित सिद्ध कर पायेंगे जब कि हम केवल सुख को ही श्रेय समझते है । यदि मेरा सुख मेरा ध्येय है तो मेरी माता का सुख उसका ध्येय है । मेरी नौकरानी का सुख उसका ध्येय है आदि । ऐसी अवस्था में किसी भी दृष्टि से तर्क-बुद्धि द्वारा यह कैसे प्रमाणित किया जा सकता है कि मेरे सुख के लिए मेरी माता अथवा मेरी नौकरानी के सुख की बलि की जाए । अतः सम्पूर्ण जीवन को देखते हुए सर्वाधिक सुख ही ध्येय होना चाहिए । जब सर्वाधिक सुख ही ध्येय है तो वह किसी एक व्यक्ति का ध्येय न होकर अधिकाधिक संख्या का सर्वाधिक सुख होना चाहिए । यहीं से सार्वजनिक सुखवाद आरम्भ होता है । उपयोगितावाद (Utilitarianism) इस प्रकार का सुखवाद है । इस विचार धारा का आरम्भ यद्यपि बेनथम के काल से ही किया जा सकता है, मिल का नाम भी सम्बन्धित तो किया ही जा सकता है किन्तु इस विचारधारा के वास्तविक प्रणेता श्रीयुत सिजविक को ही माना जा सकता है ।

इस विचारधारा को समझने के लिए सुख और आनन्द इन दो शब्दों

को समझ लेना आवश्यक है। सुख का झुकाव कुछ इन्द्रियजन्य सुख की ओर अधिक जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त भी विशेष इच्छाओं की पूर्ति हो जाने पर तो सन्तोष की सी भावना होती है उसका नाम सुख है। आनन्द का इससे कुछ भिन्न अर्थ है। आनन्द में वर्तमान इच्छा की पूर्ति और तज्जन्य सन्तोष की भावना के अतिरिक्त यह विचार भी रहता है कि मानव सम्पूर्ण जीवन को लेकर ही अपने 'स्व' को समझ रहा है, उसकी प्राप्ति कर रहा है, उसकी पहचान कर रहा है। आनन्द सम्पूर्ण जीवन को दृष्टि में रखकर ही स्व के सुख अथवा हित की भावना को श्रेय मानता है उसके केवल मात्र वर्तमान सुख अथवा इच्छा की पूर्ति को ही नहीं।

नेटशे (Nietzsche) ने भले ही व्यंग से कहा हो कि वस्तुतः मानव सुख अथवा आनन्द की ही इच्छा करता हो ऐसा नहीं है, सत्य तो यह है कि अंग्रेज ऐसा करते है किन्तु सिजविक सुख के ही दृष्टिकोण को रखते हुए भी लोकहित और तर्क बुद्धि की भावना को सर्वथा ही छोड़कर नहीं चले है। उन्होंने इस गम्भीर प्रश्न पर विचार करने का प्रयत्न किया है। वह कहते है कि जब हम शान्तिपूर्वक बैठकर यह सोचते है कि श्रेय और नैतिक मूल्यवान क्या है तो हमें जान पड़ता है वह चेतन की सुखदायी अवस्था (Pleasurable state of consciousness) तो होगी ही। इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि सुख और नैतिक मूल्य एक ही सी वस्तुएँ है। वस्तुतः श्रीयुत मिल ने स्वार्थ सुखवाद और परार्थ सुखवाद को निकट लाने के प्रयत्न किये। हम यह भी तो देख ही चुके है कि इसी दृष्टि से उन्हे सुख के महत्त्व का और निष्पक्ष इच्छाओं का प्रश्न भी उठाना पड़ा। उन्हे यह भी विचार करना पड़ा कि मानव इन्द्रियजन्य सुख प्राप्ति की आशा न होने पर भी नैतिक गुणों को प्रेम करता है, प्रशंसा की दृष्टि से देखता है। यहाँ तक कि वह इस स्थिति तक भी पहुँच गए कि सुखेच्छा नैतिक गुण के निष्पक्ष प्रेम (Disinterested love for virtue) में भी धीरे-धीरे परिवर्तित हो सकती है किन्तु वहाँ तनिक त्रुटि तो रह ही गई और वह यह विश्वास था कि इस नवीन परिवर्तित मानसिक अवस्था में वे पूर्व कालीन मानसिक अवस्थाएँ अपने अपरिवर्तित रूप में ही रह जाती है जिनसे कि यह मानसिक अवस्था बनी है। इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि नैतिक गुणों के प्रति प्रेम हो जाने के पश्चात् भी वे सुखेच्छाएँ इस मानसिक अवस्था में अपने अपरिवर्तित रूप में जीवित ही रहती है और यही त्रुटि है।

सिजविक के विचार—श्रीयुत सिजविक ने अपनी विचारधारा यह मानते हुए आरम्भ की कि निम्न स्वार्थ ही मानव के सम्मुख एक मात्र मार्ग नहीं है वरन् उच्च स्वार्थ सामान्य मानवों का मार्ग है। वह यह मानते है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सम्भव है कि मानव केवल मात्र अपने ही सुख की इच्छा से काम न करके, दूसरों के सुख की इच्छा से भी काम करे। मानव में कुछ निस्पक्ष, 'निस्वार्थ स्नेह' की भावना भी तो हो सकती है और इसी भावना के कारण वह अपने निजी स्वार्थ का त्याग करके दूसरों के स्वार्थ के लिये भी कर्म कर सकता है, और करता है और वह यह भी मानते है कि कोई भी व्यक्ति केवल इसलिए भी कोई कार्य कर सकता है कि वह बुद्धिमत्ता सहित है, श्रेयस्कर है। श्रीयुत बटलर भी इसी प्रकार की विचारधारा का प्रतिपादन करते है। यदि ऐसा कर पाना सम्भव ही न होता तो भर्तृहरि किस प्रकार कह पाते :—

एके सत्पुरुषा: परार्थ घटका: स्वार्थन् परित्यज्य ये,

अर्थात् अपने लाभ को त्याग कर जो दूसरो का हित करते है वही सत्पुरुष है। (भर्तृ० नी० श० ७४) श्रीयुत सिजविक इतने तो श्रीयुत बटलर और श्रीयुत कान्ट (Kant) दोनों के साथ ही सहमत है कि वही कार्य करणीय है, कर्तव्य है जो कि किसी भी निष्पक्ष विचारक को बुद्धिपूर्ण जँचे और जो कि स्वयं कर्ता को भी विवेकपूर्ण ही जान पड़े किन्तु ऐसा करते समय कर्ता को अपने निजी स्वार्थ से पृथक् होकर ही विचार करना पड़ेगा अर्थात् सुखेच्छा ही नही वरन् कर्तव्य भावना भी मानव कर्ता के प्रेरक का काम करती है। यहाँ से श्रीयुत सिजविक श्रीयुत कान्ट का मार्ग त्याग देते है क्योंकि वह यह सब मानते हुए यह भी तो मानते है कि निष्पक्ष विचारक की दृष्टि में यह भी एक सा ही सत्य, तर्क-बुद्धिपूर्ण विचार होना चाहिएं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने सर्वाधिक सुख अथवा आनन्द की प्राप्ति करना चाहिए। किन्तु वहाँ भी वह यह अवश्य मानते है कि नैतिकता की नींव मूल्य सम्बन्धी तर्क-बुद्धि सहित (rational) एवं शुद्ध (a priori) निर्णयों (Judgement of value) पर ही रखी जानी चाहिए।

यदि मानव जीवन को एक सम्पूर्ण, एक व्यवस्था मान लिया जाए तो श्रीयुत सिजविक महोदय के विचारानुसार मानव स्वभाव को तीन प्रकार की वृत्तियों से निर्मित माना जा सकता है। मानव स्वयं अपने आप को सम्भवत: सबसे अधिक प्रेम करता है। वह स्वभावत: सुख, अपना सुख, अपना आनन्द चाहता है। उसकी यह इच्छा होती है कि उसे सुख और आनन्द मिले। उसकी इस प्रकार की वृत्ति को स्व-स्नेह अथवा आत्म-स्नेह (self love, prudence) कह सकते है। परोपकार करना प्रशंसनीय है और

मनुष्य करता भी है किन्तु वह स्वयं अपने आपको तो स्नेह करता ही है और अपने आपसे प्रेम करने के कारण वह अपने लिए सुख प्राप्त करने का इच्छुक भी होता ही है किन्तु साथ ही साथ मानव में बहुत सी निष्पक्ष, ऐसी इच्छाएँ भी रहती है जो कि निजी सुख के अतिरिक्त वस्तुओं के लिए होती है यहाँ तक कि दूसरे व्यक्तियों के सुख के लिए भी होती हैं। यह स्थिति भी स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा स्वरूप ही होती है और इस अवस्था में मानव अपने ही सुख के समान दूसरों के सुख के लिए भी इच्छा करता है। इसे 'दूसरों के प्रति स्नेह' अथवा सर्वभूतस्नेह (Benevolence) कहा जाता है। इन दोनों के अतिरिक्त मानव स्वभाव में यह भी इच्छा रहती है कि वह उचित और तर्क-बुद्धिजन्य कार्य ही करे और उसे इसी कारण से करे कि वह उचित है, तर्क बुद्धिजन्य है। इस अवस्था को न्यायावस्था (Justice) कहा जा सकता है। ये तीनों ही मानव प्रकृति के आवश्यक अंश है, उसका स्वभाव है किन्तु मानव को स्वयं अपने लिए करने योग्य कर्म का चुनाव करते समय सर्वभूतस्नेह के सिद्धान्त को चरितार्थ करना चाहिए परन्तु ऐसा करते समय उसे अन्य व्यक्तियों में तो आत्म-स्नेह के सिद्धान्तों को मान कर ही चलना पड़ेगा अन्यथा उसके सर्व भूतस्नेह का मूल्य ही क्या रह जायेगा। दूसरे व्यक्ति अपने सुख की अभिलाषा करते हैं तब ही तो मैं उनके सुख के लिए प्रयत्नशील हो सकती हूँ। यद्यपि आत्मस्नेह और सर्वभूत स्नेह दोनों ही विवेकपूर्ण, तर्क बुद्धि पूर्ण सिद्धान्त है किन्तु कर्ता को स्व-स्नेह का बलिदान सर्वभूत स्नेह के लिए करना ही चाहिए। इस सबका तो यह अर्थ हुआ कि सर्वभूत हित अथवा सर्वभूत श्रेय अथवा सार्वजनिक श्रेय की स्थापना, संवृद्धि करना हमारा कर्तव्य है किन्तु वह सार्वजनिक श्रेय अथवा सर्वभूत हित केवल मात्र सुख है। अतः सुख वृद्धि करना उचित तो है किन्तु ऐसा करना किसी भी व्यक्ति का, कर्ता का अपना श्रेय अपना हित नहीं है।

सिजविक की कठिनाई—यहाँ कठिनाई तो यह उपस्थित हो जाती है कि एक ओर तो श्रीयुत सिजविक श्रीयुत कान्ट के कर्तव्य-सम्बन्धी विचारों का समर्थन करने लगते है और दूसरी ओर वह सुखवाद के भी पूर्ण भक्त बने रहना चाहते है। वह यह भी चाहते है कि बुद्धि के संकेत पर चल कर कर्तव्य को ही अपना ध्येय माने और कर्तव्य उनकी दृष्टि मे यही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी सुख को ध्येय न मानकर अन्य लोगों के सुख को अथवा "अधिकाश व्यक्तियों के अधिकाधिक सुख'

को ही ध्येय मान कर चले अर्थात् यही उसके लिए नैतिक विधि हो और नैतिक विधि तो वही हो सकता है जो कि श्रीयुत कान्ट के शब्दों में विश्वव्यापी विधि (Law univeral) हो सकने योग्य हो। अतः हम इस नियम को विश्वव्यापी होने योग्य विधि अथवा नैतिक विधि स्वीकार कर लेते है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख का त्याग करके सर्वजन-हित, सर्वजन श्रेय के लिए कार्य करे और वह कार्य होगा अपने सुख-त्याग के बल पर अधिकाश व्यक्तियों की अधिकाधिक सुख की प्राप्ति। यह तो हुआ व्यक्ति का कर्तव्य किन्तु इस कर्तव्य के पालन करते हुए व्यक्ति को तो यह मानना ही पड़ेगा कि अन्य व्यक्ति केवलमात्र अपने सुख की ही इच्छा रखते है। ऐसी अवस्था में वह नैतिक विधि जिसे कि विश्व-व्यापी होना चाहिए कर्ता को स्वयं अपने ऊपर ही लागू होता दिखाई देता है। कम से कम कर्ता को तो यही मानकर चलना पड़ेगा कि अन्य सब ही व्यक्ति केवल अपने सुख के इच्छुक हैं किन्तु मुझे अपने सुख की इच्छा न करके केवल उनके ही सुख की इच्छा करना चाहिए। अतः केवल-मात्र मैं ही इस विधि के अन्तर्गत हूँ। किसी भी विश्वव्यापी विधि के सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति का, कर्ता का ऐसा मानकर चलना कि यह विश्व-व्यापी नहीं है, केवल मेरे ही लिए है कितना भ्रान्तिमूलक है यह तो स्पष्ट ही दिखाई दे जाता है और यदि मैं किसी अन्य व्यक्ति को स्वार्थी मान-कर उसके उपकार लिए कुछ करना चाहूँ भी तो वह व्यक्ति भी तो मुझे स्वार्थी मानकर मेरा उपकार करने के लिए प्रयत्नशील हो जायेगा। अतः वह मेरा किया गया उपकार स्वीकार ही क्यों करेगा!

यहाँ तो केवलमात्र एक उलझन-सी, द्विविधा-सी ही दिखाई देती है। यह मेरा कर्तव्य है कि मैं सार्वजनिक श्रेय की वृद्धि करूँ और वह सार्वजनिक श्रेय 'सुख' है। अतः सुख वृद्धि करना उचित हुआ किन्तु यह मेरे लिए केवल दूसरों के लिए ही करना उचित है अपने लिए नहीं। यदि सुखवृद्धि कर्म उचित है और इसीलिए दूसरों के लिए वैसा करना उचित है तव स्वयं अपने लिए वैसा करना उचित क्यों नहीं है यह कहना कठिन हो जाता है। जो उचित है वह मेरे अपने लिए भी किया जाना उतना ही उचित होना चाहिए जितना कि दूसरों के लिए किया जाना।

चरित्र एवं नैतिक गुण-ध्येय—इसके अतिरिक्त यदि यह मान भी लिया जाय कि मै अपने स्वार्थ एवं निजी सुख का त्याग, बलिदान करके भी अन्य लोगों के श्रेय की वृद्धि करूँ अर्थात् उन्हे सुख पहुँचाऊँ

क्योंकि ऐसा करना शुद्ध और सत्य रूप से तर्कबुद्धिजन्य है किन्तु फिर भी प्रश्न यह रह ही जाता है कि मैं तर्कबुद्धिजन्य कार्य क्यों करूँ ? जब तक कि वह मेरा निजी ध्येय नहीं है तब तक मै वैसा क्यों करूँ ? अतः जब कि बुद्धिपूर्वक कार्य करने का कुछ निजी महत्त्व, निजी मूल्य है ही नहीं तब कोई भी कर्ता वैसा करे ही क्यों ? फिर भला हम अपने कार्य के साधनों को भी तर्क-बुद्धि पर क्यों आश्रित करें ? और इस कठिनाई से मुक्ति पाने का इसके अतिरिक्त तो अन्य कोई उपाय भी नहीं है कि यह मान लिया जाये कि विचारपूर्वक, तर्क-बुद्धिपूर्वक कार्य करना अपना निजी नैतिक मूल्य रखता है। वैसा केवल इसी लिए करना चाहिए कि वैसा करना नैतिक दृष्टि से श्रेयस्कर है और श्रेय वृद्धि श्रेयस्कर कार्य है चाहे वह अपने लिए हो और चाहे अन्य व्यक्तियों के लिए ? जो श्रेयस्कर है वह प्रत्येक अवस्था में ही श्रेयस्कर होना चाहिए। यदि सुख श्रेयस्कर है तो उसकी वृद्धि अपने और दूसरों, दोनों के ही लिए श्रेय होगी अन्यथा किसी के लिए भी नहीं। यह कैसे हो सकता है कि दूसरों केलिए सुख वृद्धि करना तो श्रेय है किन्तु अपने सुख का ह्रास करना श्रेय है ? इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि सिजविक अपने उस प्रयास मे असफल रहे जो कि उन्होंने सुखवाद के सिद्धान्त को मानते हुए ही नैतिकता को बुद्धिवादीपृष्ठ भूमिका देने के लिए किया था। निजी सुख के सिद्धान्त को परसुख के सिद्धान्त के साथ यदि रखना ही हो तो फिर हमें सार्वजनिक सुख की वृद्धि को अथवा मानव सुख की वृद्धि को श्रेय मानकर चलना होगा। यद्यपि सिजविक यह मानने को तत्पर नहीं होते है कि नैतिक गुण अथवा नैतिक चरित्र सुख की भावना से पृथक् अपने आप मे भी अन्तिम ध्येय हो सकते है और वह उसके लिए तर्क भी देते हैं फिर भी इस कथन की सत्यता को सर्वथा अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है। चरित्र को ध्येय रूप मे अस्वीकार करने के सम्बन्ध मे सिजविक सबसे बडा तर्क यह देते हैं कि चरित्र के अंग कर्म आदि उनकी दृष्टि मे नैतिक मूल्य नहीं रखते है किन्तु चरित्र मे अनुभूति के अतिरिक्त ज्ञान और निश्चय अंग भी होते ही है। जब वह केवल मात्र अनुभूति को ही महत्व देते हैं तो सम्भवत. उन्हे यह ध्यान ही नहीं रहता केवल मात्र सुखानुभूति मानव जीवन का सर्वस्व नहीं है और जब कि वह यह कहना चाहते है कि नैतिक गुण तो केवल मात्र एक अमूर्त वस्तु है तो उन्हे यह भी तो ध्यान रखना चाहिए कि सुख अथवा आनन्द भी तो उतनी ही अमूर्त वस्तु है।

यह तो किसी न किसी स्तर पर मानना ही पड़ेगा कि सुखानुभूति

ही एकमात्र नैतिक दृष्टि से मूल्यवान् ध्येय नहीं है। स्वतुतः मानव की नैतिक चेतना (moral consciousness) उसे यह बताती है कि नैतिक श्रेयत्व का अपना ही मूल्य है और वह मूल्य किसी भी दृष्टि से सुख अथवा आनन्द की भावना पर आश्रित नहीं है यद्यपि मानव को उसके साथ ही साथ सुखानुभृति हो सकती है। अतः व्यक्ति के नैतिक गुणों का मूल्य जीवनादर्श से निर्धारित किया जाता है। सम्पूर्ण जीवन के जिस इच्छित चेतनादर्श को लेकर हम चलते है उसमें स्थान पाने के कारण ही उन गुणों का मूल्य होता है। अतः यह जान पड़ता है कि बुद्धिवादी आचार-शास्त्र सुखवाद का समर्थक नहीं हो सकता है।

निष्कर्ष—उपयोगितावाद के सिद्धान्त का आरम्भ बेनथम से माना जा सकता है। इस वाद के अनुसार मानव केवल अपने सुख की ही इच्छा करता है, किन्तु उसके लिए यह सम्भव है कि वह 'अधिकांश' व्यक्तियों के अधिकांश 'सुख' की इच्छा करे। बेनथम को इस कार्य में कुछ विशेष कठिनाई नहीं हुई क्योंकि उसने परार्थ को भी स्वार्थ का ही परिवर्तित रूप मान लिया अतः मूलतः दोनों एक ही रहे। मिल को कुछ कठिनाई हुई किन्तु उन्होंने उसे यह कहकर हल करना चाहा कि मानव परार्थ का भी इच्छुक होना है किन्तु क्यों होता है यह नहीं कहा जा सकता। केवल यही कहा जा सकता है कि जब कि प्रत्येक व्यक्ति का निजी आनन्द उसके लिए श्रेयस्कर है तो सार्वजनिक सुख अथवा आनन्द सब व्यत्तियों के लिए श्रेयस्कर होगा। अब सिजविक के लिए यही मार्ग रह गया था कि वह बुद्धि का आश्रय लेते और उन्होने यही कहना उचित समझा कि हमें "अधिकाश लोगों के अधिकाश" सुख की इच्छा इसलिए करना चाहिए कि यही बुद्धिमत्तापूर्ण है किन्तु हम देख ही चुके है कि सुखवाद और बुद्धिवाद एक साथ नहीं चल पाते है।

साधारणतया देखने पर भी जान पडता है कि "अधिकांश व्यक्तियों का अधिकाश सुख" को अन्तिम ध्येय मानकर विपत्तियों का अन्त नहीं रहता। एक तो यों भी अधिकाश सुख का मापदण्ड ही खोज पाना अनिश्चित है और जब यहीं नहीं जाना जा सकता है कि कौन सा सुख, किस प्रकार का सुख 'अधिकाश' है तो फिर और कहा भी क्या जाय। फिर 'अधिकाश मनुष्यों का' और 'अधिकाश सुख' इनमे भी तो परस्पर संघर्ष का समय आ ही सकता है यदि सज्जन पुरुष के सुख का प्रश्न हो और उच्च सुख का प्रश्न हो तो क्या उसे अधिक संख्या मे दुर्जनों के सुख के लिए बलिदान किया जा सकता है अथवा नहीं। किसी भी प्रकार से यह

मानकर दूर तक नहीं चला जा सकता है कि मानव के लिए एकमात्र कर्म प्रेरक सुख अथवा आनन्द ही है अथवा होना चाहिए। जब यह ही नहीं माना जा सकता है तो फिर यह कहना तो और भी अधिक कठिन हो जायेगा कि सुख अथवा आनन्द ही मानव का एकमात्र नैतिक ध्येय होना चाहिए और उससे भी अधिक कठिन यह कहना हो जायेगा कि वह मेरा अपना सुख हो अथवा दूसरों का ही सुख हो अथवा अधिकांश व्यक्तियों का अधिकांश सुख हो क्योंकि किसी भी अवस्था में हम अपने तर्क दूर तक नहीं ले जा पाते है। तब फिर हमें ह्यूम (Hume) के शब्दों मे यह भी तो कहना ही पड़ता है कि तर्क-बुद्धि तो कर्म प्रेरक हो नहीं सकती है दूसरी ओर यह भी तो हम देख ही चुके हैं कि वासनाएँ (passions, impulses) भी तो एकमात्र प्रेरक नहीं हो सकती है जैसा कि वे मानते है। उन्हें भी तो अपनी तृप्ति के साधन खोज पाने के लिए बुद्धि का आश्रय लेना ही पड़ता है। तर्क-बुद्धि इच्छासमूह की सृष्टि तो कर ही पाती है, उन्हें नियन्त्रित करती है, उनका पथ-प्रदर्शन करती है अतः उसका कर्म करवाने में हाथ तो रहता ही है। वस्तुतः 'प्रेरक' अपने अस्तित्व के लिए इच्छा-समूह पर आश्रित होता है और वही हमारा चरित्र कहलाता है। जहाँ चरित्र में सुख और आनन्द का कुछ न कुछ स्थान होता है वहीं तर्क-बुद्धि का भी तो होता है अतः केवलमात्र सुख अथवा आनन्द को ही मानव जीवन का अन्तिम ध्येय मान लेना उचित नहीं जँचता है। ऐसी अवस्था में हमें यह मानना ही पड़ता है कि मानव जीवन का ध्येय सुख अथवा आनन्द के अतिरिक्त नैतिक गुण अथवा श्रेयत्व का गम्भीर प्रेय भी हो सकता है। हम सदा-सर्वदा सुख प्राप्ति, आनन्द प्राप्ति के ही लिए कर्म करते रहते हों सो ही बात नहीं है वरन् हम इसलिए भी तो कर्म करते है कि हम उसे श्रेय मानकर प्रेम करते हैं ईसा का सूली पर चढ़ना, अनेकानेक देशभक्तों का फाँसी की रस्सी स्वेच्छा से गले में डाल लेना, प्रह्लाद जैसे बालक का प्राणों की बाजी लगा देना 'सुख' अथवा 'आनन्द' को ध्येय मानकर कर्म करने के उदाहरण नही है क्योंकि प्राणों को बलिवेदी पर चढ़ा देना न तो सुख ही देता है और न आनन्द ही। वस्तुतः आनन्द हमारा लक्ष्य न होकर सम्भवतः वह आदर्श, वह विचार लक्ष्य होता है जिसे हम श्रेय मानते है और श्रेय मानकर ही जिसकी ओर हम चल देते है और जिसके विचार मे हमे सुख प्राप्ति इसलिए होती है कि हम उसे श्रेय मानकर कर्म करते है।

जीवन के इन दो मुख्य ध्येयों सुख अथवा आनन्द और नैतिक गुण-अथवा श्रेयत्व की भावना में से हम प्रथम का तो विचार कर ही चुके हैं। श्रीयुत कान्ट के विचारानुसार दूसरे की विवेचना आगामी अध्याय में करेंगे।

अध्याय ७

विकासवादी सुखवाद

विकासवाद का आचार-शास्त्र पर प्रभाव—सुखवाद के कुछ समर्थकों के विचार तो हम देख ही चुके है। इसी बीच डार्विन ने जीवशास्त्र से सम्बन्धित 'विकासवाद' के सिद्धान्त की खोज करके विश्व के वैज्ञानिक जगत् में हलचल उत्पन्न कर दी। विकासवादी सिद्धान्त के कुछ समर्थकों ने विकासवाद के सिद्धान्त को राजनीति विज्ञान, आचार-शास्त्र, समाजशास्त्र आदि सब ही क्षेत्रों में लागू करने के प्रयत्न किये। ऐसे विचारकों मे से हर्बर्ट स्पेन्सर प्रमुख है। उनका ऐसा मत है कि कोई भी नैतिक विचारक यह नहीं मान सकता है कि हमारा अन्तिम नैतिक उद्देश्य अनुभूति की इच्छित अवस्था अर्थात् सुख के अतिरिक्त और कुछ हो सकता है। अब इसे चाहे किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाय है यह 'सुखानुभूति' ही। अतः हमारा नैतिक ध्येय तो सुख ही हो सकता है किन्तु विकासवादी सिद्धान्तों ने उन विचारों की नींव हिला दी है जिनके आधार पर पुरातन विचारक 'सुख' का ध्येय के नाते समर्थन किया करते थे अतः हमे विकासवादी सिद्धान्तों को सम्मुख रखते हुए अपनी खोज पद्धति को परिवर्तित करना होगा।

विकासवादी सिद्धान्तों के उदय के साथ ही साथ प्रायः मानव जीवन और सभ्यता के विभिन्न क्षेत्रों में यह प्रश्न विचरणीय हो गया है कि क्या मानव की आज दिन की उस क्षेत्र की दिशा उसके विकास का ही फल है। नैतिक क्षेत्र में भी यद्यपि हमारे आचार के मूल्याकन के पीछे नैतिकता अथवा नैतिक मूल्य की ही भावना रहती है और यह भी सत्य है कि इस प्रकार के मूल्यांकन का आधार मूलतः चिरन्तन सत्य ही होना चाहिए किन्तु इसका यह अर्थ तो हो ही नहीं सकता है कि मानव ने उस सत्य का उद्घाटन किसी एक क्षण मे एक बार ही कर लिया था। अतः यह मानते हुए भी कि हमारी नैतिकता का आधार मूलतः चिरन्तन (a priori) है यह भी

माना जा सकता है कि मानव उससे धीरे धीरे परिचित हुआ है अर्थात् मानव ने धीरे धीरे उस चिरन्तन सत्य को खोज पाया है। यद्यपि मानव गणित-सम्बन्धी तथा अन्य भी अनेकों प्रकार के वैज्ञानिक तथ्यों से, चिरन्तन सत्य से किसी एक सुदूर अतीत में अपरिचित था और फिर उसने उन्हें धीरे धीरे ही जाना, किन्तु इस आधार पर यह तो नहीं कहा जा सकता है कि कभी और किसी युग में उन सत्य आधारों का अस्तित्व ही नहीं था अत: नैतिक सत्य को चिरन्तर मान लेने के पश्चात् भी मानव की नैतिकता के विकास को स्वीकार कर लेने के मार्ग में कोई बाधा नहीं आती है। विकासवाद के सिद्धान्त में विश्वास करनेवाले विचारक यह मानते है कि मानव की नैतिकता अथवा आचार-सम्बन्धी मान्यताएँ धीरे धीरे ही विकसित हुई। इस दृष्टि से देखने पर हमें न केवल नैतिक विचारों का इतिहास ही वरन् नैतिक अथवा आचार-सम्बन्धी सिद्धान्त भी विकासवादी सिद्धान्तों के आधार पर चलकर प्राप्त करने सुलभ और सरल हो जायेंगे।

हर्बर्ट स्पेन्सर के विचार—यद्यपि डर्विन महोदय के विचारों का प्रत्यक्ष प्रभाव आचार-शास्त्र पर नहीं पड़ता है फिर भी उन्हीं के विचार, के आधार पर हर्बर्ट स्पेन्सर ने आचार-शास्त्र को एक नवीन दिशा दी है। अत: उनके सिद्धान्तों की ओर संकेत कर देना उचित ही होगा। सम्भवत: डार्विन महोदय का मुख्य उद्देश्य यह प्रमाणित करना था कि निम्नकोटि के जीव अर्थात् पशु आदि तथा उच्च कोटि के जीव अर्थात् मानव मे किसी न किसी प्रकार का सामञ्जस्य है ही अथवा जीवन विभिन्न स्तरों से होता हुआ मानव तक पहुँचा है। इसी को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जीवन के विकास का सर्वोच्च स्तर आज दिन तक का मानव है। इस प्रकार के सिद्धान्त को आचार-शास्त्र मे मान लेना सम्भवत: इसलिए भी कठिन नहीं होगा कि जब कि हम नैतिकता के ज्ञान से सर्वथा शून्य नन्हें शिशु को अपूर्ण नैतिक विचारवान् बालक और तत्पश्चात् नैतिक मानव के रूप में परिवर्तित होते देखते है तो कोई कारण नहीं है कि हम यह भी मान लें कि नैतिकता के अन्य भी कुछ व्यक्तित्व अथवा जातीय स्तर हो सकते है जिनमें से होकर हमारे आज दिन के नैतिक विचार हम तक पहुँचे है। आचार-शास्त्र का जहाँ तक सम्बन्ध है डार्विन ने केवल मात्र यही विचार दिया कि जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति यहाँ भी निम्न से उच्च तक विकास ही हुआ है।

श्रीयुत हर्बर्ट स्पेन्सर ने विकासवादी सिद्धान्तों का आचार-शास्त्र के सिद्धान्तों को समझने-समझाने मे पूरा पूरा उपयोग किया। ऐसा करते हुए उन्होंने विकासवादी 'प्राकृतिक चयन' 'सर्वाधिक उपयुक्त का ही जीवित रहना' और 'वातावरण से समझौता' आदि सिद्धान्तों के आधार पर यह देखने का प्रयत्न किया कि मानव कहाँ तक अपने आचार-सम्बन्धी विचार और उन्हें बल देनेवाली सत्ता अथवा औचित्य की भावना अपनी संस्कार-जन्य सामाजिक, कानूनी अथवा धार्मिक उत्तराधिकार में प्राप्त हुई सामग्री से प्राप्त करता है। उन्होंने यह देखने का भी प्रयत्न किया कि प्राकृतिक चयन के आधार पर किस प्रकार नैतिक सत्ता अथवा औचित्य की भावना एक विशेष प्रकार के आचार-व्यवहार के साथ संलग्न हो गई यहाँ तक कि हम उसे चिरन्तन ही मानने लगे। यह सब होते हुए भी स्पेन्सर सुखवाद के मूल सिद्धान्त अर्थात् सुख ही मानव का नैतिक ध्येय है, को ही मानते रहे।

सबसे पहले हमारे सम्मुख यह प्रश्न आता है कि कर्तव्य की भावना किस प्रकार हमारे भीतर जाग्रत होती है अथवा नैतिकता का हमसे क्या पावना है अथवा नैतिक अधिकार, नैतिक सत्ता (moral authority) क्या है? यद्यपि हम सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक दृष्टिकोण से नैतिक बनने का प्रयत्न करते हैं किन्तु इतना कह देने भर से ही हमारे प्रश्न का समुचित उत्तर नहीं हो जाता है। यदि हम यह भी कहे कि मानव समाज अथवा परम्परा के नाम पर, पूर्वजों के भय के कारण नैतिक बना रहता है तो भी यह पूर्ण सत्य नहीं होगा क्योंकि उस प्रकार के भय के अतिरिक्त 'ऐसा होना ही चाहिए' की भावना भी हमारे भीतर रहती ही है अब प्रश्न यह होता है कि उक्त भावना का आधार क्या है? स्पेन्सर के मतानुसार मानव ने अपने विकास के साथ ही साथ कुछेक अधिक मिश्रित और अधिकारपूर्ण भावनाओं (feelings) का विकास किया जो कि उसकी अधिक व्यापक और दूरस्थित आवश्यकताओं को देखते हुए उसके आचार-व्यवहार को बनाने मे सहायक हुई। इससे पूर्व की उसकी भावनाएँ जो कि सरल और साधारण थीं उसे इस दिशा मे सहायता नहीं दे पाती थीं। ये मिश्रित और अधिक विकसित भावनाएँ मानव के लिए पथ प्रदर्शक का कार्य कर पाने में समर्थ थीं। इन अधिकार-प्राप्त भावनाओं को निम्नकोटि के जीव तथा सभ्यता के युग से पूर्व का मानव भी पहचान नहीं सके क्योंकि उनमें भावों के विस्तार की, व्यापक दृष्टि से देख पाने की शक्ति विकसित नहीं हो पाई थी। सभ्यता के उदय के साथ ही साथ मानव की व्यापक दृष्टि

बढ़ी और इन भावनाओं का कार्य-क्षेत्र भी विस्तृत हुआ। हो सकता है कि सभ्यता के युग से पूर्व का मानव अपनी तत्कालीन भावना को सन्तुष्ट करने को ही सुख मानता हो किन्तु सभ्यता के युग का मानव अनुभवों के आधार पर यह जान गया कि वे भावनाएँ जो कि व्यापक और दूरस्थित लक्ष्य लेकर निर्णय देती हैं उनकी अपेक्षा अधिक हितकर हैं जो कि तत्कालीन सुख को ही लक्ष्य बनाती हैं। इसी आधार पर मानव ने क्षुधा, पिपासा आदि की अपेक्षा सत्य, न्याय आदि से सम्बन्धित भावनाओं को अधिक महत्त्व देना आरम्भ किया। अतः अपेक्षाकृत अधिक मिश्रित भविष्य की ओर लक्ष्य रखनेवाली भावनाओं में ही अधिकार शक्ति पाई गई। कर्तव्य की अमूर्त चेतना से इस भावना की अधिकार-शक्ति का सम्बन्ध लगाया जा सकता है।

इसका तो यह अर्थ हुआ कि विकास अथवा मानवोन्नति के मार्ग पर चलते चलते मानव उस स्तर तक पहुँच चुका है जहाँ खड़ा होकर वह यह कह सके कि वे भावनाएँ जो कि व्यापक और दूरस्थित अथवा भविष्य की ओर लक्ष्य रखती है मानव की पथ-प्रदर्शक हों क्योंकि वे मानव के हित-साधन में उन भावनाओं की अपेक्षा अधिक समर्थ है, जो कि अपना लक्ष्य तत्कालीन सुख ही रखती है। किन्तु इतना कह देने भर से ही समस्या का हल नहीं हो जाता है क्योंकि इतने से ही यह तो स्पष्ट हो नहीं जाता है कि मानव-हित क्या है? वह व्यक्ति का, कर्ता का अपना हित-मात्र ही है अथवा सार्वजनिक हित। इसका स्पष्टीकरण और भी अधिक आवश्यक इसलिए भी हो जाता है कि उन भावनाओं का जिन्हे कि हम अधिकारपूर्ण और पथप्रदर्शक के रूप में मान रहे हैं महत्त्व पाने का आधार यही है कि वह मानव के हित-साधन के लिए अधिक उपयुक्त हैं अतः वह तो साधन-मात्र ही रहीं लक्ष्य तो हुआ मानव का हित। मानव हित की प्राप्ति की जानी चाहिए और इसलिए की जानी चाहिए कि वह ही कर्म का अन्तिम ध्येय हो, लक्ष्य हो क्योंकि वास्तविक नैतिक मूल्य उस ही का है। अब कठिनाई यह आ पड़ती है कि स्पेन्सर 'सुखवाद' के मूल सिद्धान्त अर्थात् 'सुख ही लक्ष्य है, ध्येय है' को सर्वथा त्याज्य नहीं मान पाते हैं। ऐसी अवस्था में हम भला उन भावनाओं द्वारा क्यों संचालित हों जो कि सार्वजनिक हित-साधन का माध्यम हैं, यह एक विकट प्रश्न बन जाता है। यदि सुख ही मेरा ध्येय है और होना चाहिए तो फिर मैं अपने ही सुख को लक्ष्य मानकर क्यों न चलती रहूँ? स्पेन्सर इसके उत्तर में 'सहानुभूति' (sympathy) को सम्मुख रखते हैं। हो सकता है कि मानव

अथवा कुछ मानव अथवा कभी कभी मानव सहानुभूति के कारण अन्य जनों के हित को लक्ष्य करके कर्म करता हो किन्तु केवल मात्र इस लिए वे कर्म जो कि सहानुभूति के कारण किये जाते है और वे भावनाएँ जो कि उन्हे संचालित करती है नैतिक दृष्टि से मूल्यवान् अथवा अधिकार-प्राप्त कैसे बन जायेंगे ? अथवा यों कहा जा सकता है कि हम स्वार्थ की अपेक्षा सहानुभूति को किस आधार पर अधिक नैतिक महत्त्व दें ? इस कठिनाई के होते हुए भी इतना मान लेने में कोई हानि नहीं दिखाई देती है कि मानव में औचित्य की भावना का विकास धीरे धीरे हुआ और इस विकास की दिशा में बढ़ने के लिए विभिन्न प्रकार के सामाजिक दबाव और तथ्य सहायता करते रहे। कठिनाई तो वहाँ आती है जहाँ कि औचित्य की इस भावना के नैतिक अधिकार को स्वीकार करने का प्रश्न आता है। इस भावना का धीरे धीरे विकास होना तो सम्भव है किन्तु उसके नैतिक अधिकार को किस आधार पर स्वीकार कर लिया जाय यही जान नहीं पड़ता है।

समाज के हित-साधन की दिशा का भी निर्देश करना आवश्यक था और इस प्रकार के हित साधन की व्याख्या करते हुए स्पेन्सर को यह मानना ही पडता है कि सार्वजनिक हित का अर्थ सार्वजनिक आनन्द की वृद्धि (increase of happiness) ही हो सकता है। हम आनन्द को ही लक्ष्य क्यों माने, इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि आनन्द स्वत सिद्ध सत्य है किन्तु स्पेन्सर का तो यह भी विश्वास है कि सर्वाधिक सुख के सिद्धान्त का तो उसी समय तक महत्त्व है जब तक कि हम प्रत्येक व्यक्ति के आनन्द को भी स्वीकार करते हैं क्योंकि व्यक्ति के आनन्द को छोड़कर केवलमात्र सर्वाधिकसुख अथवा सार्वजनिक सुख अथवा आनन्द की बात की ही नहीं जा सकती है। जो हो, किसी न किसी रूप में स्पेन्सर भी 'औचित्य' के चिरन्तन और विश्लेषण से परे के रूप को मान ही लेते हैं।

नैतिकता के विकास की चर्चा करते हुए यह कहा जा सकता है कि आरम्भमे कुछेक के गुण केवल इसीलिए प्रशंसा की वस्तु अथवा मान्यता प्राप्त गुण हो सके थे कि वह जाति अथवा मानव समूह के लिए हितकर थे किन्तु कुछ समय पश्चात् उनकी मान्यता उनके निजी अस्तित्व के कारण ही होने लगी क्योंकि उस समय तक लोग उन्हे मान्यता देने के अभ्यस्त हो चुके थे। प्राकृतिक चयन को यदि केवलमात्र यह प्रमाणित करने के लिए ही उपयोग में लाया जाये कि कुछेक प्रथाएँ,

व्यावहारिक रीति-नीतिमानव ने आदि युग में चलाई थीं किन्तु उनमें से जो सर्वाधिक उपयुक्त थीं वह रह गईं और शेष प्राकृतिक चयन के द्वारा समाप्त हो गईं, तो विशेष कठिनाई नहीं होगी किन्तु इससे कुछ आगे बढ़कर यह भी तो विश्वास किया जाता है कि उन कुछेक व्यक्तियों अथवा समूहों की भाँति ही जो कि अपने आपको वातावरण के अनुरूप न बना सके और अपने आपको सर्वाधिक उपयुक्त न प्रमाणित कर सके, नष्ट हो गये; आचार-शास्त्र के क्षेत्र में भी प्राकृतिक चयन के सिद्धान्त को लागू किया जा सकता है। इसी आधार पर अर्थात् विकासवादी सिद्धान्त के अन्य क्षेत्र में सफलतापूर्वक लागू किये जाने के आधार पर ही यह भी कहा जा सकता है कि प्राकृतिक चयन ने उन आचार-व्यवहारों को जीवित रहने दिया जो कि व्यक्ति अथवा समूह के हित-साधन में सहायक थे। भले ही हम यह कह लें कि कुछ आचार-शास्त्रियों ने 'प्राकृतिक चयन' के सिद्धान्त को आचार-शास्त्र में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दे दिया है किन्तु किसी एक सीमा तक यह तो सत्य ही है कि मानव के आचार-व्यवहार बहुत कुछ समय की माँगों के अनुसार चयन का विषय बनते रहे हैं। विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर यह भी विश्वास किया जा सकता है कि नैतिक विचारधारा और तत्सम्बन्धी विश्वास मानव को केवलमात्र शिक्षा और सामाजिक वातावरण से ही नहीं प्राप्त हुए वरन् उत्तराधिकार रूप में भी प्राप्त हुए। वस्तुतः इस सिद्धान्त को मान लेना भी कुछ उतना सरल नहीं है और यदि किसी प्रकार से कहीं यह सम्भव हो भी सके तो क्या इन उत्तराधिकार में प्राप्त विचारों को मानव के लिए आचार का अन्तिम पथ-प्रदर्शक मान लेना उचित होगा ?

यह सब होते हुए भी हर्बर्ट स्पेन्सर ने उपयोगितावादी सुखवाद को वैज्ञानिक पृष्ठ भूमिका देने का प्रयत्न किया। वह इतना तो मानते ही हैं कि मानव जीवन का अन्तिम ध्येय सुख-प्राप्ति ही है। उनके विचारानुसार सुख एक ऐसी अनुभूति है जिसे हम चेतना में लाना और रखना चाहते हैं तथा दुःख वह अनुभूति है जिसे हम चेतना से परे करना और दूर परे रखना चाहते हैं। यही अनुभूतियाँ हमारे कार्यों की संचालक भी होती हैं अर्थात् अनुभूतियों और कर्मों के बीच सामञ्जस्य उत्पन्न करना होता है और सुखानुभूति द्वारा उत्पन्न कर्म जीवनदायक होते हैं, जीवन की वृद्धि करनेवाले होते हैं जब कि दुःखानुभूति जीवन को ह्रास की ओर ले जानेवाली होती है। प्रायः वही जातियाँ जीवित रह पाई हैं जिनमें कि सुखानुभूतिजन्य कर्म

जीवन का प्रसार करते रहे। यदि इस विचारधारा को स्वीकार कर लिया जाय तो कठिनाई केवल इतनी ही होती है कि हम निजी सुख-प्राप्ति के उद्देश्य के अतिरिक्त भी तो उद्देश्य लेकर कर्म करते हैं। उदाहरणार्थ परहित एक ऐसा ही उद्देश्य है भले ही इसमें हमें निजी सुख के स्थान पर दुःख की ही प्राप्ति हो। ऐसी अवस्था में स्पेन्सर 'सहानुभूति' की चर्चा तो करते हैं किन्तु यह कहीं भी स्पष्ट रूप से नहीं कह पाते हैं कि यदि सहानुभूतिजन्य कर्म दुःखदायक भी हो तो भी वह सदासर्वदा कर्ता के निकट सुखदायक होकर ही प्रगट होता है। अन्यथा हम उसे करते ही क्यों हैं और वह किस प्रकार से दुःखदायक होते हुए भी किया जाना चाहिए। यदि वह कर्म हितकर हैं तो उन्हें दुःखदायक माना भी कैसे जा सकता है क्योंकि स्पेन्सर के मतानुसार तो हितकर कर्मों के साथ सुख का ही सम्बन्ध होना चाहिए क्योंकि ऐसा होने पर ही 'जीवित रहने' के साथ 'सुख' का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। यदि हितकर कर्म दुखदाई होते तो जातियाँ किस प्रकार विकास की विभिन्न सीढ़ियाँ चढ़ती हुई जीवित रह पातीं। किन्तु कठिनाई तो तब और भी अधिक हो जाती है जब कि हम देखते हैं कि जातियों को जीवित रखने के लिए व्यक्तियों को आत्म त्याग, आत्म बलिदान भी करने पड़े और वह कहाँ तक सुखदायक कर्म होंगे यह कहना तनिक कठिन है। यह भी तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि जीवनदायक कर्म सदासर्वदा कर्ता के लिए, व्यक्ति के लिए सुखदायक ही होते हैं। वैसे कर्म सदासर्वदा अमिश्रित हों अर्थात् दुख की छाया से भी परे हों, ऐसी बात भी नहीं है। सुख के आस-पास भी कहीं न कहीं दुःख रहता ही है अतः अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि सुख और दुख की परस्पर तुलनात्मक गणना करके सुख की ओर झुका जाये और इसका अर्थ होगा सुखवाद के गणना सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना।

स्पेन्सर के विचारानुसार विश्व मानव अपने आचार-व्यवहार को विकसित करता जा रहा है और नैतिकता इस प्रकार के विकास के अन्तिम सोपानों को कहा जा सकता है अर्थात् आज हम जिसे नैतिकता मानते हैं वह मानव के युगों के नैतिक विकास का इतिहास लेकर ही बढ़ी है और आज उसका जो स्वरूप हमें दिखाई देता है वह निरन्तर विकसित होते होते बन पाया है। इसी प्रकार आचार कर्मों के ध्येय की ओर ले जाने का ही नाम है। यदि कर्म ध्येय की दिशा में समुचित रूप से, संतुलित ढंग से चल रहे हैं तो वह आचार सदाचार है और इस प्रकार के संतुलन तथा सामञ्जस्य का पूर्णता की ओर बढ़ता जाना भी नैतिक विकास है। कर्मों

को अच्छा अथवा बुरा, श्रेय अथवा अश्रेय, उचित अथवा अनुचित इस आधार पर ही कहा जा सकता है कि वह कहाँ तक ध्येय प्राप्ति में सफल अथवा असफल है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि श्रेय वही कर्म हो सकते है जो कि ध्येय प्राप्ति में सफल हो पाते हैं और इस प्रकार के विभिन्न निम्न ध्येय अन्त मे आत्मप्रसार या जीवन अथवा जातीय जीवन में निहित हो जाते हैं अतः आचार के प्राकृतिक विकास का अन्तिम लक्ष्य वही है जो कि उसके नैतिक मापदण्ड का आधार है। और वह है जीवन, उसकी वृद्धि, उसका विकास और उसे बनाये रखना। यह तो हम देख ही चुके हैं कि सुखानुभूति जीवनदायनी और दुःखानुभूति जीवन का ह्रास करनेवाली है अतः इसका यह अर्थ हुआ कि किसी भी कर्म अथवा आचार को इसी आधार पर अच्छा या बुरा कहा जा सकता है कि वह सब कुछ देखते हुए अधिक मात्रा में सुखदायी है अथवा दुःखदायी।

वस्तुतः स्पेन्सर ने 'सुखदायी कर्म, और हितकर कर्म, इन दोनों ही के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न तो किया और उनके विचारों को देखते हुए ऐसा करना अत्यावश्यक भी था किन्तु वह इन दोनों को किस प्रकार निकट लाकर लागू करना चाहते थे यह स्पष्ट नहीं कर पाये। हम प्रथम तत्कालीन सुख की खोज करें अथवा जीवन की दृष्टि से हितकर की खोज करे यह जान नहीं पड़ता है। सम्भवतः वह 'सुख'-दायी' में 'तत्कालीन सुखदायी' और दूरस्थ सुखदायी' दोनों को ही सम्मिलित करते है। उस अवस्था मे भी सुखवादी गणना का कोई न कोई रूप हमारे सम्मुख आ ही जाता है। दूसरी ओर यदि सीधे-सादे अर्थों में यह मान भी लिया जाय कि सुखदायी का अर्थ है हितकर अथवा यही सही कि सुखदायी और हितकर परस्पर सामञ्जस्य रखते है, एकता रखते हैं, विरोध नहीं; तो फिर प्रश्न यह होगा कि हितकर से यहाँ हमारा तात्पर्य जीवनदायक से ही तो है अर्थात् शरीर के लिए हितकर। कम से कम व्यक्ति के विषय मे तो वह शरीर के लिए हितकर के ही रूप मे लागू होगा अर्थात् उसे स्वास्थ्यवर्द्धक भी कहा जा सकता है किन्तु ऐसा मानव कर भी कठिनाई का हल नहीं हो जाता क्योंकि सब ही स्वास्थ्यवर्द्धक कर्म सुखदायी ही होते हों ऐसी बात भी नहीं है। यद्यपि शरीर विज्ञान-सम्बन्धी नियमादि बहुत कुछ उन सिद्धन्तों के निकट है जिनके आधार पर विकासवादी सुखवाद के वैज्ञानिक समर्थक चलना चाहते है किन्तु सामाजिक ढाँचे मे तो इन सिद्धान्तों को लागू करना कठिन हो ही जाता है। यदि यह मान भी लिया जाये कि सुख और जीवनदायक कर्मों मे परस्पर घनिष्ठ

सम्बन्ध है तो भी इससे मानव का पथप्रदर्शन तो किसी प्रकार से हो नहीं पाता है।

'सर्वाधिक उपयुक्त ही जीवित रह पाता है' यदि इस सिद्धान्त को मान भी लिया जाय और साथ ही साथ यह भी मान लिया जाय कि जीवित रहने के लिए अन्य सब ही जीवों की भाँति मानव को भी संघर्ष करना ही पडता है तो हमारी कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है। स्पेन्सर तो यह मानते हैं कि मानव की नैतिक आचार की दृष्टि से उन्नति हो ही रही है और सम्भवत: उस समय तक होती जायगी जब तक कि वह चरम सीमा तक नहीं पहुँच जाती है और चरम सीमा होगी वहाँ जहाँ कि दु:ख का पूर्णाभाव हो जायगा। उसी विकास की चरम सीमा तक पहुँच पाने के लिए मानव तथा मानव-समाज निरन्तर संघर्षों के बीच रहता हुआ भी प्रयत्नशील है। चरम ध्येय की प्राप्ति, चरम सीमा तक पहुँचना कभी सम्भव हो भी सकेगा अथवा नहीं यह तो एक भिन्न ही प्रश्न है किन्तु यदि तनिक आशावादी होकर हम यह स्वीकार कर भी लेना चाहे कि ऐसा होगा ही तब भी यह कठिनाई सम्मुख आती है कि ऐसी अवस्था मे सघर्ष मे लिप्त मानव अथवा समाज को किसी प्रकार के हस्त-क्षेप की आवश्यकता है भी या नहीं। स्वयं स्पेन्सर भी सम्भवत: इस विषय मे अपनी स्पष्ट सम्मति प्रकट नहीं कर सके। उन्होने मानव स्वभाव के उस अंग की ओर भी तनिक कम ध्यान दिया है जो कि उसे सहकारिता की ओर ले जाता है और जातीय उन्नति तथा जातियों के जीवित रहने में मानव की सामाजिकता तथा सहकारिता की भावना का भी बहुत बडा हाथ होना ही है। स्पेन्सर के आशावाद का आधार भी सम्भवत: यह सिद्धान्त ही रहा होगा कि विश्व के इतिहास मे सदासर्वदा अनिश्चित से निश्चित और अपूर्ण से पूर्ण की ओर उन्नति होती ही दिखाई देती है अत: सामाजिक एवं नैतिक क्षेत्र मे भी अपूर्ण से पूर्ण और दु:ख-सुख-मिश्रित से पूर्णतया सुखी समाज की ओर उन्नति होगी ही और यदि उन्नति हो भी रही हो तो भी यह आवश्यक तो है नहीं कि विकास की पूर्णता का अर्थ एक ऐसा पूर्ण जगत् हो जहाँ कि दु:ख का पूर्णतया अभाव ही हो तथा सारे नैतिक कर्म पूर्णतया सुखदायी ही हों। यदि यह मान भी लिया जाय कि ऐसी उन्नति अथवा विकास होना विश्व के अन्य क्षेत्रों मे सम्भव है तो भी यह कोई तर्क नहीं है कि केवल इसी कारण नैतिक जगत् मे भी एक वैसी अवस्था उत्पन्न होगी ही जब कि केवलमात्र सुख ही रह जायगा और दु:ख का सर्वथा अभाव ही हो जायगा। दूसरे यह

मानना भी तो तनिक कठिन ही जान पड़ता है कि दुःख के अभाव में भी सुख की अनुभूति रहेगी ही।

मानव समाज-जीवी (organism)—वस्तुतः प्रारम्भिक उपयोगितावाद के समर्थकों ने व्यक्ति को उसके सामाजिक वातावरण से सम्बन्धित मानकर देखने का प्रयत्न किया था किन्तु इस प्रकार का विश्वास अधिक देर तक टिक नहीं सका क्योंकि वे लोग समाज को व्यक्तियों का समूह मानकर चलते थे और यह समूह जीवाणु आदि के समूह के ढंग पर यान्त्रिक-सा ही माना गया था। अब कठिनाई यह आती है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने आप मे ही इकाई है और यदि समाज इन सब इकाइयों का एकत्रित हो जाना भर है तो फिर प्रत्येक इकाई अथवा व्यक्ति अपने ही सुख की खोज क्यों न करे यदि सुख ही उसका उचित प्राप्य है। यदि वे ऐसा नहीं करते है, यदि वे दूसरों के सुख की ओर भी आकर्षित हो जाते हैं उनके सुख के लिए भी कार्य करते है जैसा कि हम देखते हैं तो ऐसा क्यों होता है। 'सर्वभूतहित' में वे क्यों रत रहने लगते है ? इन इकाइयों के एक दूसरे से सम्बन्धित होने की कल्पना राजनीतिक सिद्धान्तों मे सामाजिक समझौते को लेकर की गई और आचार-शास्त्र से क्षेत्र में 'सहानुभूति' को एक मिश्रित एवं उच्च कोटि की व्यक्तिगत अनुभूति अथवा भावना मानकर की गई। इसी प्रकार सम्भवतः वे लोग सुख अथवा आनन्द को भी एक ऐसी वस्तु मान कर चले जिसे कि बाँटा जा सकता है तब ही तो वह कह पाये कि 'सर्वाधिक मानवों की संख्या का सर्वाधिक आनन्द' हमारा नैतिक ध्येय अथवा लक्ष्य होना चाहिए। 'सम्भवतः' उन्होंने यह मान लिया था कि सर्वाधिक आनन्द और न्यूनातिन्यून दुःख का बटवारा हो सकता है और वह भी अधिक से अधिक व्यक्तियों मे यह बँटवारा होना चाहिए। यद्यपि वास्तविक सत्य तो यह है कि कभी कभी हम एक ही व्यक्ति के सर्वाधिक आनन्द को अनेकों व्यक्तियों के एक दूसरे ही प्रकार के सर्वाधिक आनन्द से कहीं श्रेयस्कर मान बैठते है। सम्भवतः इसमें हम सब ही सहमत होंगे कि सैकड़ों शराबियों के मद का पान करने के अधिकाधिक आनन्द की अपेक्षा किसी चित्रकार का अपने एक अत्यन्त सूक्ष्म कोमल भावनात्मक चित्र को पूरा कर पाने का आनन्द कहीं श्रेयस्कर है। किसी सीमा तक तो प्रायः उपयोगितावादी सिद्धान्तों के समर्थकों ने समाज को स्थिर और उसकी इकाइयों को भी उतना ही स्थिर मानना चाहा यद्यपि उनमे से भी कुछ लोग इस विश्वास की दुर्बलताओं के विषय में

सर्वथा अनभिज्ञ नहीं थे। व्यक्ति और समाज के बीच यान्त्रिक और बाह्य सम्बन्ध का स्थान मानव-शास्त्र (anthropology) के अध्ययनस्वरूप आन्तरिक और जीवीय (organic) सम्बन्ध ने ले लिया। सत्य भी यही है कि हम सम्भवतः मानव को कभी भी एक इकाई के रूप में नहीं पाते हैं वरन् उसे सदासर्वदा पाते हैं किसी न किसी समाज के सदस्य के, अंग के रूप मे। वस्तुतः मानव है भी क्या ? उसके व्यक्तित्व के, शिक्षा-दीक्षा के किसी भी अंश को हम उसके सामाजिक वातावरण से सर्वथा पृथक् करके देख ही नहीं पाते हैं। स्पेन्सर ने ही इस दिशा में विचार करना आरम्भ किया था। लेजली स्टीफन ने यह स्वीकार किया कि समाज इकाइयों का संग्रह-मात्र ही नहीं है वरन् एक जीवीय विकास (organic growth) है और वह एक ऐसा पूर्ण है जिसके विकास के नियमादि व्यक्ति अथवा इकाई के विकास के नियमों से पृथक् अध्ययन का विषय बनाये जा सकते है। इन सब इकाइयों को लिये दिये ही समाज एक ढाँचा है। समाज भी अन्य जीवियों (organisms) की भाँति बढ़ता है और अपने वातावरण पर क्रिया करके तथा उससे प्रतिक्रिया पाकर विकसित होता है। इसी प्रकार भेद-प्रभेद, क्रिया-प्रतिक्रिया आदि के द्वारा यह बढ़ता जाता है और अधिकाधिक मिश्रित तथा गुँथा हुआ बनता जाता है। इसकी इकाइयाँ 'व्यक्ति' परस्पर अधिकाधिक सम्बद्ध होते जाते हैं। इसी क्रिया को जीवन का विकास अथवा मानव जीवन एवं मानव समाज की उन्नति कहा जा सकता है। जंगलवासी मानव का सामाजिक जीवन अधिक सरल एवं सीधा-सादा था। आज के मानव का जीवन अपेक्षाकृत अधिक गुँथा हुआ एवं मिश्रित है क्योंकि वह सामाजिक दृष्टि से अधिकाधिक अपने साथियों से सम्बद्ध है। उसका सामाजिक जीवन उतना सरल नहीं है किन्तु जंगलवासी मानव के जीवन से अधिक उन्नत, अधिक विकसित है। इसी ओर संकेत करते हुए स्पेन्सर विकास की सर्वोच्च सीढ़ी उसे मानते हैं जहाँ कि मानव का जीवन सब ही ओर से सर्वाधिक सम्पन्न हो जाय।

सामाजिक विकास तो तब ही सम्भव हो सकता है जब कि उसके सब ही सदस्य अपने अपने कर्तव्य कर्मों का उचित रीति से पालन करें। अतः समाज सब ही व्यक्तियों को लेकर एक पूर्ण बनाता है और उसके वातावरण के अनुकूल होने का अर्थ ही यह है कि उसके सब ही सदस्य वातावरण के साथ सन्तुलित हो सके और यह तो हम देख ही चुके है कि वातावरण मे ठीक ठीक रूप से चल सकना जीवित रहने में सहायक होता है अतः उसे सुखदायक ही मानना चाहिए

किन्तु आनन्द के स्वरूप भी तो समाज के विकास और उन्नति के साथ ही साथ परिवर्तित होते रहते हैं।

भले ही हम समाज को एकजीवी के रूप में ग्रहण करें और 'सर्वाधिक उपयुक्त ही जीवित रह सकता है' के सिद्धान्त पर उसके जीवित रहने का आधार उसकी नैतिकता में खोजें किन्तु यह तो मानना ही होगा कि नैतिकता सामाजिकजीवी (Social organism) के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण गुणों में से ही एक हो सकती है। नैतिकता की आवश्यकता वस्तुतः समाज की जीवन-वृद्धि के लिए ही होती है, उसे स्वस्थ रखने के लिए ही होती है और क्योंकि जीवन-वृद्धि आनन्द के द्वारा ही हो सकती है नैतिकता के साथ साथ आनन्द की प्राप्ति भी होती ही है। वस्तुतः उपयोगिता-वादियों का मुख्य लक्ष्य था सुख-आनन्द जब कि विकासवादी सुखवादियों का मुख्य लक्ष्य सम्भवतः समाज का विकास, उसका जीवित रहना, उसकी जीवन-वृद्धि, उसका स्वास्थ्य था जो कि सुख-आनन्द द्वारा ही सम्भव हो सकता है और सामाजिक स्वास्थ्य भी तो सामाजिक आनन्द का ही कारण होगा। यद्यपि विकासवादियों की दृष्टि में भी अन्तिम ध्येय आनन्द ही है किन्तु वह आनन्द पर ही लक्ष्य रख कर नहीं चलते है वरन् जीवन के उन नियमों की खोज करना चहते है जो कि आनन्ददायी हो जाते हैं।

लेज़ली स्टीफन ने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए प्रायः उन बहुत सी बातों को छोड़ कर चलने का प्रयत्न किया जो कि स्पेन्सर के मतानुसार थीं और जिनकी बहुत अधिक कटु आलोचना भी आलोचकों द्वारा की गई थी। उन्होंने यह भी बताने का प्रयत्न किया कि प्रायः बहुत से परम्परागत अथवा उत्तराधिकार में पाये गये आचार-सम्बन्धी नियम सामाजिक दृष्टि से मानव-हित के ही सिद्धान्तों के आधार पर उत्पन्न हुए होंगे और सम्भवतः इसी कारण वह प्राकृतिक चयन के द्वारा जीवित भी रह पाये होंगे। सामाजिक स्वास्थ्य की चर्चा के स्थान पर भी उन्होंने सुख को ही नैतिक ध्येय मानने का प्रयत्न किया। यों तो प्रोफेसर अलेक्-जेण्डर ने भी विभिन्न आदर्शों के बीच जीवित रहने के लिए होनेवाले संघर्ष की चर्चा की है।

विकासवादी सिद्धान्तों का नैतिकता की दृष्टि से महत्त्व— विकासवादी सिद्धान्तों के फलस्वरूप आचार-शास्त्र के क्षेत्र में भी यह विश्वास किया जाने लगा कि नैतिक नियमों का सम्बन्ध भी मानव की सभ्यता के विकास के साथ है और नैतिक नियमादि मानव सभ्यता और

सामाजिक विकास के आधार पर चलते हैं। यह हो सकता है कि नैतिक नियमों का आन्तरिक महत्त्व हो किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वे सब ही नैतिक नियम एकबारगी किसी एक काल में मानव के निकट पूर्णतया बाह्य बन गये हों। यदि ऐसा होता तो सम्भवतः नैतिकता अपने बाह्य स्वरूप में उदित होकर मानव के अन्तर तक उस प्रकार न पहुँच पाती जिस प्रकार आज दिन पहुँच रही है। इतना तो मानना ही उचित है कि नैतिक नियम भी विकसित होते रहे हैं। विकासवादी सिद्धान्तों के नैतिक विचार भूमि पर पदार्पण करने से पूर्व तक प्रायः कर्ता के स्व (Self) के व्यक्तिक रूप को ही अधिक महत्त्व दिया जाता रहा था किन्तु विकासवादी आचार-शास्त्रियों ने स्व को अमूर्त रूप मे देखने का तथा उन्होंने उसे समाज से सम्बन्धित रूप में भी देखने का प्रयत्न किया।

विकासवादियों ने सुखवाद के सिद्धान्त को एक नवीन दिशा की ओर ले जाने का प्रयत्न किया। उन्होंने 'सुख' को 'हित' के साथ सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया। वस्तुतः यदि विकासवादी यह मान लेते कि कर्तृत्व ही अनुभूति को मूल्यवान् बनाता है तो समस्या का सुन्दर हल हो जाता किन्तु उन्होंने सब कुछ कह-सुनकर भी जब अन्त मे अनुभूति को ही मुख्य रखने का प्रयत्न किया तथा यह भी मानना चाहा कि कर्तृत्व का मूल्यांकन सुखानुभूति के ही आधार पर होता है तो कठिनाई का आरम्भ हो गया। फिर भी विकासवाद ने सुखवाद को एक नवीन दिशा की ओर मोड़ा इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है और यह भी सत्य है कि उनके सिद्धान्तों का नैतिक जगत में कुछ न कुछ मूल्य तो है ही। वस्तुतः स्पेन्सर की कठिनाई का आरम्भ वहीं से होता है जहाँ से कि वह अपने सुखवादी विश्वास को किसी प्रकार भी त्यागना नहीं चाहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वह किसी भी मूल्य पर 'सुख' को 'अन्तिम नैतिक ध्येय' के रूप में अस्वीकृत करने को तत्पर नहीं है। परिणामस्वरूप एक ओर तो वह विकासवादी सिद्धान्तों को आचार-शास्त्र के क्षेत्र में दूर तक ले जाते हैं और दूसरी ओर सुखवादी बने रहना चाहते हैं अतः उनकी अवस्था कठिन हो जाती है। सत्य तो यह है कि सुख की प्राप्ति तब ही सम्भव हो सकती है जब कि उससे पूर्व मानव में 'इच्छा' हो। कर्म करने की इच्छा तो कर्म करने से पूर्व ही होती है और सुख पीछे प्राप्त होता है। हमे वस्तुओं से सुख की प्राप्ति होती है किन्तु वह इसलिए ही तो होता है कि हमे उन वस्तुओं की इच्छा होती है और हम उन वस्तुओं की इच्छा केवल इसी लिए नहीं करते है कि वह हमें सुख देती है। यह भी

तो नहीं कहा जा सकता है कि इच्छा सुख-प्राप्ति से पूर्व इसलिए होती है कि हम अपने में किसी वस्तु के अभाव का अनुभव करें और उस अभाव-जन्य दुःख से मुक्ति प्राप्त करने के लिए अर्थात् सुख-प्राप्ति के लिए ही उस वस्तु की इच्छा करें क्योंकि अभाव से दुःख होता है किन्तु दुःख से अभाव नहीं। अतः जब कि आत्माभिव्यक्ति तथा जीवित रहने की आकांक्षा ही हमारे अधिकांश कर्मों की प्रेरक है और सुख पीछे से ही आता है तो सुखवाद को ही लेकर चलने की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं जान पड़ती है।

स्पेन्सर की आशा की महानता का आधार तो वह पूर्ण मानव है जो कि पूर्ण विकसित समाज में पूर्णरूपेण सन्तुलित मानव होगा। सम्भवतः वही मानव के नैतिक विकास की चरम सीमा भी होगी क्योंकि वहाँ जीवन अपने पूर्णाधिक उन्नत रूप में होगा और इसका यह अर्थ हुआ कि वहाँ केवलमात्र सुख, आनन्द ही होगा दुःख की छाया तक नहीं दिखाई देगी। किन्तु क्या इसी आशा के आधार पर यह भी माना जा सकता है कि जीवन में विकास अथवा विकसित जीवन सुख की, आनन्द की वृद्धि करने वाला भी होता है अथवा क्या इस आशा की नींव इस आधार पर ही रखी गई है कि अधिकाधिक विकसित मानव जीवन अधिकाधिक सुखदायक है। यदि ऐसी ही बात हो तो यह निर्विवाद सत्य नहीं माना जा सकता है क्योंकि मानव जीवन, मानव के सामाजिक जीवन का विकास तो हुआ है किन्तु यह कह पाना कठिन है कि उसके सुख की भी वृद्धि हुई है। उसके ज्ञान की, सभ्यता की और विभिन्न प्रकार की उन्नति हुई है, उसकी विभिन्न शक्तियों और उनके उपयोग की रीतियों का भी विकास हुआ है किन्तु विकास की इन सब सीढ़ियों ने उसे आनन्द की ओर ही बढ़ाया है यह कहना कठिन जान पड़ता है। वस्तुतः सुख प्राप्त करने की शक्ति में नैतिकता की वृद्धि के साथ ही साथ वृद्धि नहीं हो पाती है। सम्भवतः अपेक्षाकृत न्यून गम्भीर, गहन और नैतिक व्यक्ति अधिक सुखी होता है। नित्यानित्य विवेक व्यक्ति को अधिक गम्भीर, अधिक विवेक-शील, अधिक विचारशील तो बनाता है किन्तु सम्भवतः अधिक सुखी नहीं यदि सुख का प्रचलित अर्थ मे ही प्रयोग किया जाय। सम्भवतः यहाँ सुख से मनु के तात्पर्य को नहीं लिया जा सकता है जो कि होगा :—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

मनु० ४. १६०.

अर्थात् जो दूसरों की, वस्तुओं की अधीनता में है, वह सब दुःख है

और जो अपने अर्थात् अन्तर में ही निहित है वह सुख है। यदि इस प्रकार के लक्षण लेकर चला जाय तब तो कहना ही पड़ेगा :—

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिंतयेत्।

(म० भा० शा० २०५. २)

अर्थात् मन से दुःखों का चिन्तन न करना ही दुःख-निवारणीय औषधि है। यहाँ तो हम वस्तुओं से प्राप्त सुख की ही चर्चा कर रहे थे और ज्ञान-वृद्धि के साथ उस सुख की वृद्धि सम्भवतः नहीं हो पाती। तब तो सम्भवतः कहना पड़ता है :—

शृणु बुद्धिं च यां ज्ञात्वा सर्वत्र विषयो मम।
नाहमात्मार्थमिच्छामि गन्धान् घ्राणगतानपि ॥

अनुगीता० महा-अश्व (३२. १७-२३)

अर्थात् जिस बुद्धि को मन में धारण करके मैं विषयों का सेवन करता हूँ वह इस प्रकार है। नासिका से मैं 'अपने लिए' वास नहीं लेता आदि आदि। अर्थात् सुख आधिभौतिक सुख की सीमाओं से तो बहुत परे ही चला जाता है। अतः यह कहना कुछ कठिन सा जान पड़ता है कि सामाजिक जीवन के विकास के साथ सुख के विकास अथवा वृद्धि का कोई घनिष्ठ सम्बन्ध होना ही चाहिए यह भी तो आवश्यक नहीं है कि किसी समाज में जो कि पूर्णतया विकसित हो चुका है और जहाँ कर्म और वातावरण में पूर्णतया सामञ्जस्य स्थापित किया जा सका है दुःख इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता है कि कहीं किसी कारण से कर्म और वातावरण के बीच सामञ्जस्य स्थापित करते हुए कुछ त्रुटि रह ही गई हो, कहीं असन्तुलित अवस्था हो ही। किन्तु सर्वाधिक सन्देहास्पद तो यह विचार ही है कि कभी कहीं किसी समाज में कर्म और वातावरण में, प्रत्येक अवस्था में पूर्णतया सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकना सम्भव है और यदि ऐसा होना सम्भव हो तो क्या विकासवादी सिद्धान्तों की नींव ही नहीं हिल जायेगी। जीवन के साथ तो परिवर्तन रहेगा ही जहाँ जाकर परिवर्तन की आवश्यकता ही पूर्णतया समाप्त हो जाती है क्या वह जीवन हो सकता है। वह तो जीवन का अन्त हो जायेगा। विकास का अन्तिम ध्येय क्या यही है जहाँ कि जीवन ही का अन्त हो जायगा। जीवन का ध्येय यदि मृत्यु ही हो तो फिर उसे जीवन की वृद्धि, उसका विकास कैसे कहा जा सकता है और यदि उस पूर्ण समाज में सुख का स्वरूप दुःख-रहित ही होगा तो वह कैसा सुख होगा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। सम्भवतः इन सब विचारों का आधार यह विकासवादी सिद्धान्त

है कि वातावरण पूर्णतया निश्चित है और जीवी को उसके अनुसार किसी न किसी प्रकार जीवित और सुखी रहने के लिए सन्तुलित होना पड़ता है किन्तु बात सम्भवतः ठीक ठीक ऐसी ही नहीं है। वातावरण का जीवी के अनुरूप होना उतना ही आवश्यक है जितना कि जीवी का वातावरण के अनुरूप होना। अतः दोनों के बीच सामञ्जस्य होना चाहिए इसका यह अर्थ नहीं है कि एक निश्चित ही है और दूसरे को ही परिवर्तित होकर उसके अनुरूप बनना होगा। वस्तुतः अन्तर को बाह्य से समझौता करके उसके ही अनुरूप होना पड़ेगा यह आवश्यक नहीं है वरन् बाह्य भी अन्तर की ओर मोड़ा जा सकता है और यही वह दिशा थी जिसकी ओर भारतीय विचारकों ने मानव को संकेत किया था। इसी भाव से उन्हें आनन्द की पूर्णानन्द (Bliss) की खोज करने के लिए वातावरण अर्थात् बाह्य वातावरण के अनुरूप न होकर 'अन्तर' में ही झाँकना पड़ा था। वस्तुतः विकासवादी सुखवाद एक ओर तो प्राकृतिक जीव विज्ञान के फेर में पड़ गया और दूसरी ओर सुखवाद का मोह न त्याग सका। फलस्वरूप उसने अपने इस प्रकार के विवादग्रस्त सिद्धान्तों की सृष्टि कर डाली और इसी चक्कर में उन्होंने 'सर्वाधिक सुख' के स्थान पर 'सामाजिक स्वास्थ्य' और 'जीवन वृद्धि' के सिद्धान्तों को भी ध्येय के रूप में स्वीकार कर लेने का प्रयत्न किया किन्तु आचार-शास्त्र के क्षेत्र में नैतिकता की दृष्टि से तो ध्येय व्यक्ति का ध्येय ही होना चाहिए अन्यथा व्यक्ति उसे ग्रहण कैसे कर पायेगा यद्यपि व्यक्ति के लिए वह श्रेय हो सकता है जो कि 'सर्वभूत हित' अथवा सार्वजनिक रूप में भी श्रेय स्वीकृत किया जा सके अथवा जो सार्वजनिक श्रेय अथवा हित हो। केवलमात्र यही मान लेने से तो समस्या का हल हो नहीं जाता है कि व्यक्ति आवश्यक रूप से सामाजिक भी है। इसके अतिरिक्त यह भी तो मानना ही पड़ेगा कि वह जिस ध्येय को श्रेय मानकर उसकी ओर बढ़ता है अथवा जो उसके लिए 'श्रेय' है वह वस्तुतः श्रेय है ही, सब ही के लिए श्रेय है, व्यापक श्रेय है किन्तु यह तो 'विकासवादी सुखवाद' के सिद्धान्तों को पीछे छोड़ कर ही कहा जा सकता है। अतः विकासवादी सुखवाद को एक ओर तो सुखवाद का मोह त्यागना ही पड़ेगा क्योंकि सुख मानव को उसकी बाह्य भूमिका से ऊपर नहीं उठा पाता है जब कि वस्तुतः मानव की चरमोन्नति की अन्तिम सीमा सुख ही नहीं है अथवा सुख का वह प्रचलित रूप नहीं है जिसे मान-कर सुखवादी चलते रहे हैं और दूसरी ओर उसे जीवशास्त्र के सिद्धान्तों को उनके प्राकृत रूप में ही मानकर चलना उचित नहीं होगा क्योंकि यह

आवश्यक नहीं है कि वे नैतिक क्षेत्र में भी ठीक उसी प्रकार लागू हो सकें जिस प्रकार कि शारीरिक क्षेत्र में, भौतिक क्षेत्र में होते हैं। विकासवादी सिद्धान्तों ने नैतिक जगत् में प्रवेश करके सुखवाद के स्वरूप को परिवर्तित, परिवर्द्धित एवं संशोधित तो किया; उसे एक नवीन दिशा का दिग्दर्शन तो कराया किन्तु वह स्वयं भी नैतिक क्षेत्र में बहुत अधिक दूर तक नहीं बढ़ पाये। वह तो यह भी स्पष्ट नहीं कर पाये कि औचित्य का आधार 'सहानुभूति' भी मानव में धीरे धीरे विकसित हुई अथवा सामाजिक माँग के फलस्वरूप उत्पन्न हुई। उन्होंने नैतिक माँग की भी विकासवादी ढंग से व्याख्या करना तो चाहा किन्तु उसमें सफल नहीं हो सके। फिर भी उनकी देन एकबारगी ही नगण्य हो ऐसी बात भी नहीं कही जा सकती है। स्पेन्सर के पश्चात् भी उस दिशा में विचार करनेवाले व्यक्ति प्रकट तो होते रहे किन्तु आचार-शास्त्र पर उनमें से किसी के विचारों का उतना स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रभाव प्राय: नहीं के ही बराबर पड़ सका। वस्तुत: विकासवादी सुखवाद के समर्थक भी शारीरिक सुख के विचार से कुछ बहुत ऊपर नहीं उठ सके यद्यपि उन्होंने अन्य व्यक्तियों के हित को भी कर्ता का श्रेय सहानुभूति की अनुभूति अथवा भावना के आधार पर मान लिया।

यदि 'सर्वाधिक उपयुक्त ही जीवित रहे' के सिद्धान्त को किसी सीमा तक स्वीकार कर भी लिया जाय तो इसका अर्थ तो यही होगा कि 'सर्वोत्तम ही जीवित रहे' किन्तु जीव-शास्त्र के 'सर्वाधिक उपयुक्त' (fittest) और आचार-शास्त्र के 'सर्वोत्तम' (best) एक ही तो है नहीं। 'सर्वाधिक उपयुक्त' सम्भवत: आधिभौतिक अर्थों में ही लागू हो सकता है जब कि नैतिक सर्वोत्तम की पृष्ठभूमिका सम्भवत: आधिभौतिक ही आवश्यक रूप से नहीं होती है। वस्तुत: मानव के लिए तथा अन्य प्राणियो के लिए 'पूर्णता' का एक ही सा तात्पर्य नहीं होता है। इससे भी कुछ गड़बड़ हो ही जाती है। अत: मानव की नैतिक समस्याओं का हल खोज पाने के लिए हमारा जीव-शास्त्र के सिद्धान्तों को लागू करना एक भूलमात्र ही होगा। प्रोफेसर वेस्टरमार्क का भी नैतिकता को व्यक्तिगत अनुभूति तक ले आने का प्रयत्न भी सफल नहीं कहा जा सकता है भले ही यह किसी सीमा तक मान लिया जाय कि नैतिक अनुभूति का कोई एक रूप अन्य रूप अथवा रूपों की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट और उच्चतर हो सकता है। सिजविक ने उपयोगितावाद को बुद्धिवादी पृष्ठभूमिका देने का कार्य किया। फिर भी विकासवादी सुखवाद को उन्होंने अधिक महत्त्व नहीं दिया।

चीन में विकासवाद—चीन के महान् दार्शनिक और नैतिक क्षेत्र के विचारक कुग फू त्सजे दार्शनिक सम्राट् कन्फ्यूशस भी यह तो विश्वास करते ही थे कि प्रत्येक मानव महान् बनने की आकांक्षा करता है और उस आकांक्षा में सुख भी पाता है। उनके सिद्धान्त का आधार यह आशावादी सम्भावना तो है ही कि उच्चतर हुआ जा सकता है। अर्थात् मानवोन्नति की ओर संकेत तो है ही। इसी दृष्टि से वह एक लम्बी सूची उन सब ही पगों की देते हैं जो कि मानव को नैतिक उन्नति की दिशा में ले जाते हैं और वह यह भी विश्वास करते हैं कि परिवार के छोटे घेरे से विश्व-प्रेम के महान् शिखर तक पहुँचा जा सकता है। एक शान्ति का विकसित होनेवाली, उन्नत होनेवाली अवस्था है और दूसरी शान्ति तक पहुँच पाने की अवस्था।

महात्मा कन्फयूशस के मतानुसार 'महान् पुरुष' अथवा नैतिक दृष्टि से उच्च पुरुष अपने कर्म में उद्देश्य रख कर चलता है अर्थात् सोद्देश्य कर्म करता है और अपने सिद्धान्तों पर चलना सीखता है। वह अपने बिचारों में भी पथभ्रष्ट नहीं होता है। वाहर की ओर खोज न करके भीतर की ओर ही खोज करता है। गम्भीरता, गहनता, पूर्णता, सत्याचरण, विचार और कर्म की शुद्धता, सत्यप्रेम, उचित कर्म ही करना, उचित और श्रेय की ही अकांक्षा करना, चरित्र की दृढ़ता, सन्तोष, निर्भय होना, आत्मविश्वास, आत्माभिमान, परोपकार, उन्नतिशील होना, दृढ़निश्चय, उदारता, विश्वप्रेम, मानवता में विश्वास, दानशीलता आदि उसके गुण होते हैं। वह दूसरों के साथ वही व्यवहार करता है जो वह अपने साथ किया जाना चाहेगा और दूसरों की दृष्टि से परे अपने विश्वास एवं सिद्धान्तों पर चलता हुआ चुपचाप कर्म किये जाता है।

अध्याय ८

विवेक-बुद्धिवाद

बुद्धिवाद की ओर—सुखवाद के सिद्धान्त का आधार है अनुभूति (Feeling), सुखानुभूति को मानव का नैतिक ध्येय मानकर चलना अथवा 'स्व' को अनुभूति के साथ सम्बन्धित्त करके देखना। किन्तु कुछ विचारक इस प्रकार के सिद्धान्त मे विश्वास नहीं कर सके। उनके मतानुसार स्व का बौद्धिक विवेकजन्य महत्त्व, बौद्धिक अस्तित्व भी है और वह इच्छा और अनुभूति पर आश्रित नहीं है वरन् इनसे स्वतन्त्र है। मानव सुख की अनुभूति करता है। सुख मानव के जीवन में अपना महत्त्व रखता है किन्तु मानव का समस्त व्यक्तित्व, उसके अन्तर की समस्त माँगें सुखानुभूति में ही समाप्त हो जाती हों, ऐसी बात नहीं है। मानव के 'स्व' का आन्तरिक, वास्तविक और सत्याधार सुख की अनुभूति कर पाने के अतिरिक्त भी होता है। सुखेच्छा से किये गये कुछ कर्म श्रेयस्कर भी हो सकते हैं किन्तु शारीरिक सुविधा अथवा सुखेच्छा से ही प्रेरणा लेकर जिन कर्मों के करने का निश्चय किया जाता है यह आवश्यक नहीं है कि वे सदासर्वदा श्रेयस्कर ही हों। 'प्रेय' और 'श्रेय' मे से जहाँ मानव के लिए चयन करने का प्रश्न आता है अधिकांश भारतीय विचारकों ने तो मानव को स्पष्ट रूप से 'श्रेय' का ही चयन करने की सम्मति दी है भले ही वह सुखकर न हो। तिस पर मानव तो अन्य प्राणियों से भिन्न है उसके पास तो बुद्धि, विवेक भी होता है और यही उसका अन्य प्राणियों से अधिक महत्त्वपूर्ण होने का आधार भी है। सुखानुभूति भले ही ठीक ठीक उस रूप मे न हो जिस रूप में मानव के लिए होती है फिर भी किसी न किसी रूप में अन्य प्राणियों के लिए कर्म प्रेरक का कार्य करती ही है। ठीक यही अवस्था यदि मानव के लिए भी रही तो उसके 'बुद्धिवान्' होने का क्या लाभ हुआ? अतः इस दल के विचारकों का विश्वास है कि वही कर्म श्रेय माना जा सकता है जो कि बौद्धिक आधार पर चुना जा सके। अब दूसरा प्रश्न फल के सम्बन्ध में भी होता ही है। फल की चिन्ता अथवा चिन्तना करके तो हम कर्म का चयन उसी अवस्था मे करेंगे जब कि हमारे

चयन का मापदण्ड सुखप्राप्ति ही होगी। अन्यथा हमें फल की चिन्तना करने की आवश्यकता ही क्या है? जब कि इस दल के विचारकों ने सुख को अन्तिम ध्येय भी नहीं स्वीकार किया है और उसे चयनाधार भी मानने को तत्पर नहीं है तो यह तो निश्चित ही है कि वह किसी भी कर्म को उसके परिणाम को देखकर ही श्रेय नहीं कह सकेंगे। अत: कर्म का श्रेयत्व उसके फल पर आश्रित नहीं रहता है भले ही वह कर्ता को प्राप्त फल हो अथवा अन्य व्यक्तियों को, ऐसा बुद्धिवादियों का विश्वास है। अत: इस प्रकार के विचारक यह नहीं मानते कि हमारे कर्मों का अन्तिम ध्येय केवल सुख के लिए ही सुख है वरन् उसके स्थान पर यह मानते हैं कि किसी भी कर्म को कर्तव्य समझकर इसी लिए करना चाहिए कि वह कर्तव्य है।

कुछ पुरातन विचारधाराएँ—पुरातन यूनान में जब कि सिरनिक (Cyrenaics) ल की ओर अधिक अनुरक्त दिखाई देते थे तो कुछ ऐसे भी विचारक दिखाई देने लगे जो कि उनके विचारों से सहमत नहीं थे। इन्हें सिनिक (Cynics) कहा जाता था। ये लोग वासना अथवा तथाकथित सुख की भावना से मानव को ऊपर उठा हुआ देखना चाहते थे। उनका विश्वास था कि नैतिकता का अर्थ मानव का स्वयं अपने ऊपर, अपनी वासनाओं के ऊपर विजय प्राप्त करना है। इनकी दृष्टि में मानव का ध्येय सुख-प्राप्ति न होकर होना चाहिए नैतिक गुणों की अपने भीतर उत्पत्ति और उनकी दृष्टि से शारीरिक अथवा वासनात्मक सुख की अपेक्षा त्याग आदि नैतिक गुणों द्वारा ही सच्चे सुख की प्राप्ति होना अधिक सुलभ है। यही मानव के लिए यथार्थ एवं पर्याप्त सुख होना चाहिए। शारीरिक अथवा वासनात्मक सुख को वे हेय समझते थे। इस प्रकार की विचारधारा का आरम्भ तो सुकरात के जीवनादर्श से ही हुआ था। प्लेटो और अरस्तू ने भी सुकरात के पदचिह्नों पर किसी सीमा तक चलते हुए मानव जीवन में आदर्श रूप मे 'श्रेय' को बौद्धिक अथवा विवेकशील जीवन में ही देखने का प्रयत्न किया। सम्भवत: इन दोनों के ही मतानुसार नैतिक जीवन वही जीवन था जो कि विवेक अथवा बुद्धि के द्वारा ही संचालित किया जाता हो। किन्तु सिनिक विचारकों का मुख्य लक्ष्य तो कर्ता का पूर्णरूप से अपने ऊपर अधिकार कर लेना ही था और इसी प्रकार की भावना को लेकर ही सम्भवता: वे लोग सुख अथवा आनन्द को बाह्य की अपेक्षा अन्तर मे ही खोजने मे विश्वास करने लगे। परिणामस्वरुप वासनात्मक सुख तो पूर्णतया नैतिकता के क्षेत्र के

बाहर ही खदेड़ा जाने लगा। सुख की खोज करने के लिए तो मानव को बाह्य जगत् का, परिस्थितियों का दास बनना ही पड़ता है। यदि हम सुख की खोज करेंगे तो हमें बाह्य वस्तुओं की भी इच्छा करना होगा और इस दिशा में चलकर सुख की अपेक्षा बाह्य वस्तुओं तथा परिस्थितियों की दासतास्वरूप दुःख ही अधिक प्राप्त होगा। अतः मानव के लिए वही तो श्रेय है जो कि केवल उसका ही हो और वह तो बुद्धि ही हो सकती है अतः दुःख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय यही है कि मानव अपने आपको वातावरण, परिस्थितियों, बाह्य वस्तु आदि की दासता से मुक्त रखे और स्वयं 'अन्तर' में ही झाँकता रहकर अपना स्वामी बन सके। वासना पर बुद्धि की विजय ही मानव को सुख प्राप्त करा सकती है।

बौद्धमत—किसी एक सीमा तक तो यह विचारधारा हमें बौद्ध 'चत्वारि आर्य सत्यानि' और विषेशतया दुःख निरोध मार्ग का स्मरण करा देती है। विश्व में दुःख तो है ही। जरा-मरण आदि दुःख ही तो है और दुःख समुदाय प्रतित्य समुत्पाद के कारण ही तो है। कारणों की शृंखला ही तो दुख तक हमें ले जाती है। जीवन में जन्म के कारण ही दुःख है और जन्म का कारण है जीवनेच्छा और उसका कारण है वतुओं का मोह और उसका कारण है तृष्णा। तृष्णा का कारण है वेदना, इन्द्रियजन्य अनुभव और उसकी उत्पत्ति होती है स्पर्श से। इन्द्रियाँ है तब ही तो स्पर्श होना सम्भव है और नाम रूप के कारण ही तो इन्द्रियों का होना सम्भव है और विज्ञान अथवा प्रारम्भिक चेतना नामरूप का कारण है। संस्कार विज्ञान का कारण है और अविद्या संस्कार का कारण है। अतः जन्म जो कि दुःख का मूल है इसी चक्र के कारण चलता रहता है। अतः दुःख का मूल कारण तो वह आन्तरिक जीवित रहने की इच्छा ही है जिससे जन्म होना सम्भव होता है। दुःख का निरोध तो निर्वाण द्वारा ही हो सकता है किन्तु उसकी प्राप्ति का मार्ग तो पूर्णतया नैतिक जीवन यापन ही है और इस प्रकार के नैतिक जीवन का आधार बुद्धि और विवेक भले ही हो वासना का पूर्णतया त्याग ही है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यगोजीव, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् व्यायाम और सम्यक् स्मृति इन आठ सोपानों से ही वह मार्ग बना हुआ है जो कि हमें दुःख से मुक्ति दिलाता है किन्तु इनमें कहीं भी वासना अथवा शारीरिक अथवा इन्द्रियजन्य सुख के लिए स्थान नहीं है। भले ही बौद्धमत हमे और कुछ भी शिक्षा दें किन्तु यह तो बताना ही है

कि नैतिक जीवन में वासनात्मक सुख के लिए कोई भी स्थान नहीं हो सकता है तथा दुःख-निवृत्ति एवं सुख-प्राप्ति का एकमात्र उपाय जीवन-यापना वासनारहित शुद्ध विवेकजन्य बौद्धिक मार्ग ही है।

अन्य भारतीय दर्शन—प्रायः अन्य भारतीय दार्शनिक भी आधि-भौतिक सुख के मार्ग को श्रेयस्कर नहीं मान पाते है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह मानव की समस्त प्रकार के दुःखों से मुक्ति प्राप्त करने और नित्य सुख की खोज करने की प्रवृत्ति से अपरिचित नहीं थे तब ही तो वह कह पाते थे :—

सुखमात्यंतिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

भग० गीता ६.२१-२३.

(सां० का० १. भी देख लें)

अर्थात् : जहाँ इन्द्रियों को अगोचर बुद्धिगम्य सुख का मानव को अनुभव होता है और जहाँ वह एक बार स्थिर होकर फिर तत्त्व से कभी भी विचलित नहीं होता है, जिस स्थिति को पाकर उससे अधिक सुख उसे और कोई भी ज्ञात नहीं होता है, और जहाँ स्थिर होने पर बड़े से बड़ा दुःख भी उसे डिगा नहीं पाता है, उसको दुःख के संयोग से वियोग अर्थात् पृथक् होने की स्थिति अर्थात् योग कहते है और इस योग के अनुसार आचरण करना चाहिए तथा ऐसा करते हुए मन को उकताने नहीं देना चाहिए।

अर्थात् सुख की प्राप्ति तो मानव को होती ही है यह तो उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है किन्तु दुःख से मुक्त होने और सुख की प्राप्ति करने के लिए उसे बुद्धि का आश्रय लेना ही पड़ता है और ऐसा करने के लिए, कर पाने के लिए उसे वासना अर्थात् इन्द्रियजन्य सुख की इच्छा का त्याग भी करना ही पड़ता है।

संकल्प प्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषत.।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशंनयेत् ॥
(भग० गी० ६-२४-२६)

अर्थात् संकल्प से उत्पन्न होनेवाली समस्त कामनाओं, इच्छाओं अर्थात् वासनाओं का पूर्ण त्याग करके तथा मन से ही समस्त इन्द्रियों का पूर्णतया संयम करके धैर्ययुक्त बुद्धि से धीरे धीरे शान्त हो तथा मन को आत्मा में ही लगाकर कोई भी विचार मन में न आने दे। इस तरह चञ्चल मन जहाँ जहाँ भी बाहर की ओर जाना चाहे वहाँ से उसे हटाकर आत्मा के आधीन करें।

इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि भले ही मानव और चाहे जो करे उसे आधिभौतिक सुख को लक्ष्य मानकर चलने से वास्तविक सुख की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है। वास्तविक सुख की प्राप्ति के लिए उसे वासना अथवा साधारण अर्थों में लिये जानेवाले सुख का त्याग करना ही होगा।

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ।
(म० भा० शा० २५.२२;१७४-१६)

अर्थात् पहले तृष्णा होती है उसके प्रभाव से दुःख होता है और फिर दुःख की पीड़ा से फिर सुख होता है।

तथा—यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥
(म० भा० शा० १७४.४८; १७७.४६)

अर्थात् वासना की तृप्ति से जो सुख होता है और जो स्वर्ग-सुख है उन दोनों की योग्यता, तृष्णा नष्ट होने से प्राप्त सुख के सोलहवें भाव के समान भी नहीं है। इन सब का तो यही अर्थ हुआ कि 'सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं' अर्थात् सुख से सुख नहीं मिलता है। (म० भ० वन० २३३.४.) यद्यपि दूसरी ओर वह मानव को सर्वथा बुद्धि के अधीन करके भी नहीं छोड़ देते है किन्तु इतना तो माना ही जा सकता है कि प्राचीन भारत के अधिकांश दार्शनिक यह तो विश्वास करते ही थे कि मानव का ध्येय, उसके लिए श्रेयस्कर कर्म 'सुख' 'आधिभौतिक' इच्छाजन्य सुख हो ही नहीं सकता है वरन् उसे दूर परे रखकर ही वह अपने ध्येय तक पहुँच सकता है। वह तो यही मानते थे कि—

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।

(म० भा० आ० ७५.४६)

अर्थात् सुखों को भोगने से विषयवासना की तृप्ति तो क्या होगी किन्तु वह दिनोंदिन उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त होती जाती है जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला होम किये गये पदार्थों से बढ़ती जाती है। अतः इतना तो निश्चित ही है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।

(भग० गी० २.४७)

अर्थात् तुझे केवल कर्म करने का ही अधिकार है कर्मफल के विषय में तेरा कोई अधिकार नहीं है। अतः तू कर्मफल की आशा रख कर किसी भी कर्म को मत कर। अर्थात् कर्मफल किसी भी अवस्था में तेरे लिए कर्म की प्रेरणा देने वाला न हो। अथवा तेरा कर्म कर्तव्य केवल कर्तव्य की ही भावना से किया जाय। इस भावना से तुझे कर्म में रत नहीं होना चाहिए कि परिणामस्वरूप तुझे किसी प्रकार का आधिभौतिक सुख प्राप्त होगा। तुझे तो सुख-दुःख की इच्छा से परे रहकर कर्तव्य की भावना से, प्रेरणा से ही कर्तव्य करना चाहिए।

भले ही इस प्रकार की नैतिकता के पीछे आत्मा का एक विशेष व्याख्या द्वारा उत्पन्न बल निहित रहता हो किन्तु इतना तो यहाँ निश्चित रूप से ही कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय विचारक सुख को मानव जीवन का लक्ष्य नहीं मानते थे तथा 'कर्तव्य कर्तव्य के ही लिए किया जाना चाहिए' ऐसा विश्वास करते थे।

स्टॉइक (Stoics)—अपने सिनिक पूर्वजों की भाँति ये विचारक यह तो मानते ही थे कि मानव-जीवन का सर्वोत्तम श्रेय नैतिक गुण ही है किन्तु उनके विचारानुसार नैतिक गुण प्रकृति तथा अपने आप में भी पूर्णतया सन्तुलित होना चाहिए और इसी को आगे चलकर विधि और व्यवस्था का विश्वव्यापी सिद्धान्त भी माना गया। सिनिक लोगों के सिद्धान्त यूनान में जन सम्मति कभी भी प्राप्त नहीं कर सके। स्टॉइक विचारकों ने सिनिक विचारकों के विचारों की भी नवीन रूप से व्याख्या की। 'प्रकृति के अनुरूप जीवन' का अर्थ अब और ही लगाया जाने लगा। उन्होंने बौद्धिक जीवन का प्रकृति के अनुरूप जीवन के साथ

और इन दोनों का ही 'विधिवत् जीवन' से सामञ्जस्य स्थापित किया। 'वास्तविक ही बौद्धिक है' के सिद्धान्त को लेकर उन्होंने चलने का प्रयत्न किया। उन्होंने प्रचलित सामाजिक प्रथाओं का एकबारगी विरोध न करके अपनी सफलता की नींव रखी। वह सिनिक विचारकों की भाँति पूर्णतया व्यक्तिवादी नहीं थे।

स्टॉइक विचारकों के मतानुसार जीवनादर्श शुद्ध बौद्धिक जीवन ही था। और इस प्रकार के जीवन में वासना के लिए कोई स्थान नहीं था। इस आधार पर 'प्रकृति के अनुरूप जीवन' का अर्थ होगा उस बौद्धिक व्यवस्था के अनुरूप जीवन जो कि वस्तुओं की वास्तविक प्रकृति है। जो बौद्धिक सत्य विश्व भर में व्याप्त है उसी को मानव को अपने भीतर भी प्राप्त करना, ग्रहण करना चाहिए क्योंकि मानव भी तो विश्व का ही एक अंश है। वासनात्मक जीवन तो विधि रहित तथा अबौद्धिक जीवन होता है अतः उस प्रकार का जीवन तो आदर्श जीवन हो ही नहीं सकता है।

इम्मैनुयल कान्ट: विवेक-बुद्धि और मानवेच्छा की स्वाधीनता (Autonomy of will)—यों तो स्टॉइक विचारों का ईसाई विचारधारा पर प्रभाव पड़ा और उसके द्वारा यूरुप में प्रायः युगों तक इन्हीं विचारों का प्राधान्य रहा किन्तु यूरुप में दार्शनिक कान्ट ने नैतिक जीवन में बुद्धिवाद के आदर्श को और भी अधिक स्पष्ट रूप में सम्मुख रक्खा।

इतना तो सिजविक को भी मानना ही पड़ता है कि किसी भी ध्येय को पूर्णतया बौद्धिक और तर्कसम्मत बुद्धिजन्य मानने का यह तात्पर्य तो अवश्य ही हो जाता है कि हम यह भी मान लेते हैं कि उस अवस्था में जो भी कोई कर्म हमें उस ध्येय तक ले जाता है अथवा पहुँचने में सहायता देते है 'हमें करना ही चाहिए' ऐसा नैतिक दायित्व, ऐसी नैतिक मांग हमारे निकट स्पष्ट हो जाती है। ऐसा किस प्रकार होता है कान्ट अधिक विस्तार से और अधिकार पूर्ण ढंग से व्यक्त करते है। इतना तो सर्वमान्य ही है कि नैतिक निर्णय 'निजी श्रेय' अथवा 'उचित' कहकर ही दिये जाते हैं और मानव उनके विषय में 'करना ही चाहिए' ऐसा विश्वास करता है। किन्तु उचित क्या है, इसके सम्बन्ध में कान्ट का मत है कि बुद्धि अथवा विवेक (reason) द्वारा उचित तुरन्त जान लिया जाता है और यह जानना मानव के लिए एकबारगी स्पष्ट, बिना किसी 'यदि' अथवा शर्त के ही होता है (categorical) और सत्य का, उचित का स्वरूप जब एक बार मानव के निकट स्पष्ट हो जाता है, वह उसे जान

लेता है तब औचित्य का यह ज्ञान उसकी इच्छा का प्रेरक तो होना ही चाहिए। अतः तब मानव अपने आप से ही उस कर्म को करने के लिये विवश किया जाता है अतः आन्तरिक आज्ञा के आधार पर मानव को वह कर्म करना ही होता है (Imperative)। ऐसा करते हुए भी मानव को इच्छा स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है क्योंकि उसकी इच्छा किसी बाह्य प्रेरक द्वारा प्रेरित नहीं की जाती है वरन् स्वयं कर्ता के द्वारा ही प्रेरित की जाती है। इसी को 'विवेक प्रदर्शित अन्तराज्ञा' (categorical Imperative) कहा जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कर्ता उचित का ज्ञान प्राप्त करने पर उचित ही करने के लिए बाध्य किया जाता है किन्तु ऐसा होने पर भी वह परतन्त्र नहीं होता क्योंकि बाध्य करनेवाली कोई उससे बाहर की शक्ति नहीं होती है वरन् वह स्वयं अपनी आन्तरिक शक्ति से उचित का ज्ञान प्राप्त करके उसी के द्वारा कर्म करने की इच्छा करने को बाध्य किया जाता है अतः कान्ट के मतानुसार हमें कर्ता की 'इच्छा के स्वातन्त्र्य' को, इसकी 'स्वाधीनता' को स्वीकार करना चाहिए। यह अवस्था तो कर्ता के स्वयं अपने ऊपर शासन करने की अवस्था है। अतः इस अवस्था में कर्ता की आन्तरिक आज्ञा स्वयं उसके अपने लिए केवलमात्र यही नहीं होती है कि 'ऐसा करो' वरन् यह भी तो होती है कि 'ऐसा करो क्योंकि यह उचित है।' इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि कर्म केवल इसीलिए किया जाय कि वह कर्तव्य है, करणीय है, उसे करना उचित है अर्थात् कर्तव्य केवल कर्तव्य है इसीलिए किया जाना चाहिए (Duty for duty's sake) और ऐसा करना न केवल उचित ही होगा वरन् कर्ता का 'सर्वोच्च श्रेय' (Highest good) भी होगा इसी आधार पर कान्ट यह मानते है कि विश्व ब्रह्माण्ड में केवल श्रेय-इच्छा (Good will) ही एक ऐसी है जिसे कि निजी-श्रेय (Intrisically good) कहा जा सकता है और श्रेय-इच्छा वह इच्छा है जो कि स्वाभाविक रूप से, प्रकृति से ही उचित ही को इच्छा का विषय बनाती है। इसी कारण तो वह स्वाधीन-इच्छा मानी जाती है। उसका मुख्याधार तो नैतिक माँग है यह ज्ञान, यह चेतना है कि मैं यह कार्य कर सकता हूँ क्योंकि मुझे यह करना चाहिए। वस्तुतः मानव का अन्य प्राणियों से अधिक महत्त्व भी तो इसी कारण है कि वह स्वयं अपना पथ निर्धारित करने की क्षमता रखता है, वह स्वाधीन हो सकता है और उसका स्वाधीन हो सकना ही उसकी विशेषता है। प्रकृति की सब ही वस्तुएँ, उसके सब ही काम-काज किसी न किसी नियम के अनुसार

ही तो चलते हैं। विवेकवान प्राणी मनुष्य भी नियमानुसार कार्य करने की क्षमता रखता है। उसके कर्मों का आधार कुछ सिद्धान्त होते हैं। उनके कर्मों के प्रेरक केवलमात्र सुख और दुःख की अनुभूतियाँ ही न तो होती ही हैं और न होना चाहिए ही। वह अनुभूति नहीं वरन् विवेक द्वारा विचार कर ग्रहण किये हुए सिद्धान्तों के आधार पर कर्म कर सकते हैं और करना चाहिए भी। मानव ऐसा कर सकता है इसी लिए तो उसे स्वाधीन माना जा सकता है। उसके कर्म इच्छा द्वारा प्रेरित किये जाते हैं और इच्छा स्वयं उसके अधीन है, उसके बुद्धि और विवेकसम्मत श्रेय अथवा उचित के विचार द्वारा बनाई जाती है अतः 'मानवेच्छा की यह स्वाधीनता' आचार-शास्त्र में अपना महत्त्व रखती है। यदि मानव की विवेकबुद्धि शुद्ध हो तो उसके भीतर अन्तर्द्वन्द्व अथवा मानसिक संघर्ष नहीं होंगे और उस अवस्था में उसका जीवन पूर्णतया स्वाधीन होगा। वस्तुतः मानव के अन्तर्द्वन्द्व का कारण ही यही है कि एक ओर तो उस पर कर्तव्य के रूप में उनकी नैतिक माँग दबाव डालती है जो कि उसके अन्तर में ही है, और दूसरी ओर उस पर वासनात्मक अथवा इन्द्रिय-सुख से सम्बन्धित शारीरिक माँग दबाव डालती है। पहली माँग एक ऐसी दृढ़ आज्ञा के रूप में उसके सम्मुख आती है जिसे उसको मानना ही चाहिए। यदि वह पथ से तनिक भी विचलित होने लगता है तो अन्तर्द्वन्द्व होना स्वाभाविक ही है।

इस विचारधारा को ग्रहण करते हुए हमें यह मानना पड़ेगा कि सुख को किसी भी अवस्था में हमारे कर्म के लिए प्रेरक-कारण का स्थान नहीं ग्रहण करने देना चाहिए क्योंकि विवेक बुद्धि का आदर्श सुख नहीं है वह तो कल्पना का ही आदर्श हो सकता है, सत्य का नहीं और इसका तो यह तात्पर्य हो ही जायेगा कि कर्म के श्रेयत्व का आधार किसी भी अवस्था मे उसका फल नहीं हो सकता है क्योंकि किसी भी कर्म के फल से ही तो उसके सुखदायी अथवा दुःखदायी होने का पता लगता है। जब हमें कर्म के श्रेयत्व अथवा औचित्य का निश्चय इस आधार पर करना ही नहीं है कि वह सुखदायी है अथवा दुःखदायी तो फिर परिणाम अथवा फल को कर्म करने का निश्चय करने के लिए देखने की आवश्यकता ही नहीं हो सकती है। कर्म का नैतिक महत्त्व केवल यही हो सकता है कि वह कर्तव्य है इसी लिए किया गया है न कि उस उद्देश्य को देखकर जिसे लेकर वह किया गया है अथवा उस फल को देखकर जो कि उसके किये जाने के परिणामस्वरूप सम्मुख आता है। अतः उन सिद्धान्तों का नैतिक महत्त्व

अधिक होता है और होना भी चाहिए जो कि कर्मेच्छा को गति देते हैं, जिनके आधार पर कर्म करने की इच्छा बनती है। कर्म की नैतिकता, उसके श्रेयत्व और औचित्य-सम्बन्धी निर्णय कर्मफल से नहीं वरन् कर्ता की इच्छा के सैद्धान्तिक आधारों की जाँच करके ही दिया जा सकता है।

नैतिकता के सिद्धान्त (Maxims)—इस प्रकार नैतिकता का सिद्धान्त कर्म के रूप (form) मात्र से ही सम्बन्धित है उसके परिणाम से नहीं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक कर्म एकाकी रूप में ही कर्ता के सम्मुख खड़ा होता है। वस्तुतः इन्द्रियों के साधारण विषयों से परे इच्छा का सम्बन्ध केवल विवेक-बुद्धि से ही होता है किन्तु इस प्रकार के कर्म व्यक्ति-विशेष के लिए ही नहीं होते वरन् विश्वव्यापी होते हैं और इस प्रकार के ध्येय अपना एक आध्यात्मिक अथवा नैतिक जगत् (Kingdom of ends-spiritual or moral world) रखते है और इस प्रकार मानवता को केवलमात्र माध्यम अथवा साधन के रूप में ही मानना नैतिकता नहीं हो सकती है। कान्ट ने इन्हीं नैतिकता के सिद्धान्तों का प्रचार किया। उनके सिद्धान्तों अथवा कर्म के नियमों को एकता, बहुत्व और पूर्णता अथवा बहुत्व मे एकता के रूप मे भी ग्रहण किया जा सकता है। सर्वप्रथम तो कर्ता को यह समझ लेना चाहिए कि उसे उन्हीं सिद्धान्तों को लेकर कर्म करना चाहिए जिन्हें कि वह सब ही मनुष्यों के लिए अथवा विश्वव्यापी रूप में स्वीकार कर सकना हो। प्रायः हम जब स्वयं किन्हीं कर्मों को करते हैं, तो उन्हे ठीक, उचित समझने का प्रयत्न करते है और जब वही कर्म अन्य व्यक्तियों से बन पड़ते है तो हम उन्हे अनुचित मान लेते हैं किन्तु यह कैसे हो सकता है। जो हमारे लिए क्षम्य है वह औरों के लिए भी क्षम्य ही होना चाहिए। कान्ट ने विवेकबुद्धि सम्मत इस तर्क के आधार पर यह एक नैतिक नियम हमारे सम्मुख रखा कि हम उन्हीं कर्मों को स्वयं करें जिनके आधारभूत सिद्धान्त हम विश्व भर के मानवों के लिये माननीय और ग्राह्य मानते हो। ऐसा कर पाने की सुविधा के लिए उन्होंने यह नैतिक सिद्धान्त हमारे सम्मुख रखा कि मानवता को चाहे अपने साथ सम्बन्धित घटनाओं मे हो अथवा दूसरों के साथ सम्बन्धित हो केवल मात्र साधन अथवा माध्यम के रूप मे ही न लो वरन् ध्येय समझकर लो अर्थात् मानवता ध्येय रूप मे महान् है, पूजनीय है उसे केवल मात्र साधन बनाकर अपमानित न करो। यहीं तो मानव का, मानवता का महत्त्व स्पष्ट होता है और फिर पहले सिद्धान्त से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि प्रत्येक विवेकबुद्धिशील मानव की इच्छा विश्व भर के मानवों के लिए समानता

से नैतिक विधि विधान बनाने की क्षमता रखती है अतः उसका आदर भी तो समान रूप से ही होना चाहिए। मानव को ध्येयों के (नैतिक अथवा आध्यात्मिक) साम्राज्य के सदस्य की भाँति ही कर्म करना चाहिए।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कान्ट नैतिक कर्म के लिए अनुभव को किसी प्रकार से भी आधार स्वीकार करने को तत्पर नहीं है। यही नहीं, किसी भी अवस्था में वह अनुभव अथवा परिणाम को नैतिक दृष्टि से महत्त्व देने के लिए भी तत्पर नहीं होते हैं। नैतिक नियमों के प्रति अडिग विश्वास और दृढ़ श्रद्धा को देखते हुए ही वह किसी कर्म के नैतिक महत्त्व को मान पाते हैं। नैतिकता के क्षेत्र में उनकी दृष्टि में कर्म से अधिक महत्त्व उस इच्छा का है जो कि कर्म को प्रेरणा देती है और उस इच्छा का जन्म कर्तव्य-विचार से ही होता है। 'कर्तव्य' सम्बन्धी विचार ही इच्छा के लिए प्रेरक कारण हो सकता है। अनुभव तो हमें केवल यही बता सकता है कि अतीत क्या रहा और सम्भवतः उसके आधार पर यह भी संकेत-कर सके कि भविष्य क्या होगा किन्तु अनुभव के आधार पर यह तो किसी प्रकार भी निश्चित नहीं किया जा सकता है कि क्या होना चाहिए अतः नैतिक निर्णय अनुभव के आधार पर नहीं खड़े हो सकते वरन् उनका अस्तित्व अनुभव से पृथक्, उससे स्वतन्त्र ही होता है। किसी भी कर्म के प्रेरक कारण का औचित्य केवल मात्र इसी आधार पर निश्चित किया जा सकता है कि वह सैद्धान्तिक आधार पर ही चुना गया है अथवा नहीं। नैतिक गुण भी उसी मे माने जा सकते है जो कि नैतिक नियमों के अनुसार ही हो।

सुखवादी सिद्धान्तों के आधार पर निर्णय देने में यह भय तो सदा ही रहता था कि इच्छाएँ तो परस्पर विरोधी होती ही हैं, हो सकती हैं और जब कि वह परस्पर विरोध करती है कर्ता अपने लिए सुख के आधार पर अधिकाधिक लाभदायक इच्छा को ही प्रश्रय देता है अतः इच्छाओं के संघर्ष में विवेक (reason) को निर्णायक बना देना अधिक श्रेय है और वह निर्णायक भी ऐसा है जो कि किसी के भी साथ पक्षपात नहीं कर सकता है। सुखवादी किसी भी कर्म को यह कह कर टाल सकता है कि 'यह मेरा सुख नहीं है' अथवा 'इस कर्म का लक्ष्य मेरा सुख' अथवा 'अधिकांश लोगों का सुख' नहीं हो सकता है क्योंकि उसका आधार मानव के अनुभव से दूर पर स्वतन्त्र रूप से नहीं है किन्तु कान्ट के विचारों का महत्त्व उनके इस विश्वास मे है कि 'श्रेयत्व' अथवा 'औचित्य' का आधार आधिभौतिक न होकर मानव के सब ही अनुभवों से परे स्वतन्त्र अस्तित्व

के रूप में है। वह किसी भी अवस्था में सब ही मानवों के लिए विश्व ब्रह्माण्ड भर के लिए एक ही है। विवेक बुद्धि ही मानव के अन्तर के सत्य को स्पष्ट कर पाती है अतः वही मानव की स्वाधीनता है। उसकी आज्ञा का उल्लंघन किया ही नहीं जा सकता है क्योंकि ऐसा करने का अर्थ होगा मानव की स्वाधीनता को, उसके स्वयं अपने आपको नैतिक नियम दे सकने के अधिकार को अस्वीकृत कर देना। मानव के स्वयं अपने ही शासक बन सकने की क्षमता को कौन अस्वीकृत कर देना चाहेगा।

मानव में शारीरिक सुख अथवा 'वासनात्मक सुख' की चाह तो रहती ही है किन्तु इसे यदि चाहे तो निम्न प्रवृत्ति कह सकते है। विवेक और बुद्धिसम्मत 'कर्त्तव्य विचार' भी मानव में होते हैं यदि चाहे तो उन्हें उच्च पृष्ठ भूमिका में रख सकते है अतः स्वभाव, साधारण प्रकृति आदि 'निम्न' प्रवृत्तियों को नैतिक महत्त्व न देकर यदि 'कर्त्तव्य' आदि उच्च प्रवृत्तियों को नैतिक महत्त्व दिया जाये तो वह आचार-शास्त्र की दृष्टि से अपने आप में महत्त्वपूर्ण होगा ही क्योंकि नैतिक विकास के किसी न किसी स्तर पर स्वयं अपने ऊपर अर्थात् अपनी निम्न प्रवृत्तियों के ऊपर उच्च प्रवृत्तियों द्वारा विजय प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। नैतिक उन्नति का तात्पर्य ही यही है कि निम्न प्रवृत्तियों को उच्च प्रवृत्तियों के अधीन किया जाये। किसी न किसी रूप मे यह तो मानना ही पड़ता है कि नैतिकता के लिए आत्माधिकार, आत्मविजय अथवा मानव के लिए संयम करने की आवश्यकता होती ही है। यहाँ तक कि किसी एक सीमा तक तो सुख प्राप्ति के लिए भी संयम और त्याग की आवश्यकता होती ही है। मनुष्य शरीरधारी है। सुख की ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भी है फिर भी हम सुख के कितने ही वड़े समर्थक क्यों न हों हमे यह तो मानना ही पड़ता है कि दुःख को ग्रहण कर पाने की क्षमता का निजी महत्त्व भी नैतिक दृष्टि से कुछ न्यून नहीं है। मानव की सभ्यता और संस्कृति के विकास के मूल में भी हमे उसके आत्मत्याग, वलिदान और संयम की कथाओं का ही गुञ्जन सुन पड़ता है अतः मानव की पशु-प्रवृत्तियों का उसकी उच्च अथवा मानव प्रवृत्तियों द्वारा दमन किया जाना ही सम्भवतः नैतिकता का ठीक स्वरूप कहा जा सकता है। भले ही वह ठीक ठीक उसी रूप में न हो जैसा कि कान्ट ने रक्खा है किन्तु उनके सिद्धान्तों का इस दृष्टि से नैतिक महत्त्व अवश्य ही है कि वह मानव के नैतिक जीवन के उस पक्ष की ओर संकेत करते हैं जहाँ कि वह अपनी निम्न प्रवृत्तियों को उच्च प्रवृत्तियों के अधीन कर

देता है अथवा करना चाहता है। ऐसा कर पाने के लिए यद्यपि उसे अपने पाशविक सुखों का बलिदान करना पड़ता है किन्तु यह बलिदान सम्भवतः उसके नैतिक विकास के लिए आवश्यक ही होता है किन्तु कान्ट के सब ही सिद्धान्त निर्विवाद रूप से मानव के लिए ग्राह्य ही हों ऐसी बात भी नहीं है अतः यह देखना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि उनके विचारों को कहाँ तक मानव अपने नैतिक जीवन में स्वीकार कर सकता है और उनका नैतिक दृष्टि से क्या, कैसा और कितना महत्त्व है।

आलोचनात्मक दृष्टि—इस प्रकार के सिद्धान्त प्रायः नैतिकता के रूप की ओर ही ध्यान देने में विश्वास करने लगते हैं। यह सत्य है कि मानव जीवन में विवेक, बुद्धि आदि द्वारा प्रदर्शित नैतिकता के 'रूप' का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। संयम और स्वयं अपनी इन्द्रियों, इच्छाओं का स्वामी होना भी मानव के लिए अत्यावश्यक है अतः जब इस ओर हमारा ध्यान दिलाया जाता है तो हम उसमे कोई भी दोष नहीं खोज पाते हैं किन्तु हमारी कठिनाई का जन्म तो उस समय होता है जबकि कान्ट और उसके समथक इच्छाओं को सर्वथा नगण्य समझ कर ही छोड़ देते हैं। इच्छाओं को कुचल डालने से तो आत्मविकास पूर्णता को सम्भवतः पहुँच ही न सके। मानव जीवन में सुखानुभूति का भी तो स्थान होना ही चाहिए भले ही वह विवेक की अपेक्षा न्यून महत्त्व रखता हो किन्तु एकबारगी उसका अस्तित्व अस्वीकृत करने से तो काम ही नहीं चलेगा। कान्ट ने इन्द्रियजन्य सुखानुभूति (feeling) और विवेकबुद्धि (reason) दोनों को कसौटी पर कस कर यह तो घोषित कर दिया कि अनुभूति किसी भी अवस्था में मानव के लिए नैतिक दृष्टि से पथ-प्रदर्शक का स्थान नहीं पा सकती है, वह स्थान उसे दिया ही नहीं जाना चाहिए किन्तु ऐसा कर चुकने के पश्चात् कान्ट ने अनुभूति की चर्चा ही नहीं की। यह भी तो सम्भव है कि पथ-प्रदर्शक का स्थान न दिये जाने पर भी मानव-जीवन में, उसके नैतिक जीवन मे अनुभूति का कोई न कोई स्थान रहता ही हो, रह सकता हो किन्तु कान्ट ने फिर उसकी चर्चा ही नहीं की है। किन्तु कर्म मे तो 'रूप' (form) और 'वस्तु' (matter) दोनों की ही आवश्यकता होती है। कान्ट के सिद्धान्त, उनकी 'विवेक प्रदर्शित अन्तराज्ञा' (Categorical Imperative) हमे 'नैतिक नियम' के रूप (form) का ज्ञान तो कराती है, यह तो बताती है कि नैतिक नियम किस ढंग के होते है किन्तु उनकी 'वस्तु' (matter) और विस्तार

(Contents) से तो हमें परिचित करा नहीं पाती है। वस्तुतः उचित क्या है ? यह जानने के लिए हम केवल मात्र विवेक प्रदर्शित अन्तरात्मा पर ही आश्रित नहीं रह सकते हैं अतः इस सिद्धान्त का हमारे निकट एकांगी ही उपयोग रह जाता है। उदाहरणार्थ, उनके नैतिकता के प्रथम सिद्धान्त को ही ले लीजिए। यह नैतिकता की कसौटी हो तो सकती है किन्तु नकारात्मक कसौटी ही हो सकती है। क्रियात्मक रूप से वह मानव को उसका नैतिक पथ दिखा नहीं पाती है। हम क्या स्वयं करें तथा कौन से कर्म हम विश्वव्यापी नियमों के रूप में ग्रहण करें यह हम कैसे कह सकते हैं, जब तक कि हमें यह ज्ञात न हो कि वह कौन सा 'श्रेय' है जिसे प्रत्येक विवेकवान् मानव को विश्व भर के मानवों के लिए प्राप्त और ग्राहय करना चाहिए। यह सत्य है कि इससे हमें इतना तो ज्ञात हो गया कि वह कर्म जिसे हम केवल अपने ही लिए करना चाहते हैं तथा यह नहीं चाहते कि वह एक विश्व व्यापी नियम वन सके अथवा दूसरे व्यक्ति भी हमारे साथ उसे इसी प्रकार व्यवहार में ला सकें जिस प्रकार कि हम उनके साथ लाना चाहते अथवा लाते है, कभी भी श्रेय अथवा उचित कर्म नहीं हो सकता है किन्तु इससे यह तो ज्ञात नहीं हो सकता कि ऐसा कर्म कौन सा है अथवा वह 'श्रेय' क्या है जिसे विश्व-व्यापी बना कर हमें ग्रहण करना चाहिए अतः हमें उनके इस सिद्धान्त से 'श्रेय' के विषय में तो कुछ ज्ञात नहीं हो सका किन्तु हम यह जानना मात्र ही सीख सके कि क्या श्रेय नहीं है। इसका तो यह तात्पर्य हुआ कि हमें 'वस्तु' का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनुभव का सहारा लेना ही पड़ेगा किन्तु कान्ट अनुभव के निकट जाने में विश्वास नहीं करते हैं। यह सत्य है कि हम ध्येय के विचार को तो 'अन्तर' में ही प्राप्त कर सकते है किन्तु उस तक पहुँचने के साधनों की खोज के लिए तो हमे अनुभव का आश्रय लेना ही पड़ेगा अतः अनुभव को एकबारगी छोड़कर तो हमारा काम चल ही नहीं सकता है। यही नहीं, कभी कभी तो हमें 'कर्मफल' का भी आश्रय लेना ही पड़ता है। उदाहरणार्थ, असत्य भाषण अथवा प्रतिज्ञा करके तोड़ने मे अनैतिकता खोजने के लिए तो हमें अनुभव का ही आश्रय लेना पडता है। यह सत्य है कि प्रतिज्ञा तोड़ने को हम विश्वव्यापी नियम नहीं बनाना चाहेंगे और सम्भवतः कोई भी, एक भी विवेकवान् मानव ऐसा करना नहीं चाहेगा, किन्तु ऐसा क्यों ? इसी लिए तो कि यदि यह विश्वव्यापी नियम बन जाय तो कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के प्रतिज्ञा करने पर विश्वास

नहीं करेगा और आप सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि इससे एक ओर तो प्रतिज्ञा करने का आशय ही समाप्त हो जायेगा और दूसरी ओर हमारे दैनिक जीवन के काम काज में भयानक गड़बड़ी हो जायेगी। यदि इन परिणामों को सवर्था ही छोड़ कर देखा जाए तो भला प्रतिज्ञा भंग करने में क्या दोष रह जाता है अतः परिणाम की ओर कभी देखा ही न जाए, ऐसा कहने से तो कठिनाई विकट हो जायेगी किन्तु भगवद्गीता के साथ साथ यदि केवल इतना ही माना जाए कि 'कर्मफल की आशा' हमारा कर्मेच्छा का प्रेरक कारण न बने तो फिर आपत्ति न्यून हो सकती है किन्तु कान्ट तो संभवतः किसी भी अवस्था में कर्मफल पर विचार करने देना नहीं चाहेगे। यही नहीं, यूँ तो साधारणतया उनके प्रथम नैतिक सिद्धान्त से सब ही विवेकवान मानव सहमत होंगे किन्तु सब ही कर्म सदा सर्वदा ऐसे ही तो किए नहीं जा सकते हैं जिन्हे कि हम व्यापक अथवा विश्व व्यापी नियम ही बनाना चाहे। कहीं कहीं तो हमें परिस्थितियों आदि के आधार पर अपवाद भी स्वीकार करने होंगे। उदाहरणार्थ—'आजन्म ब्रह्मचारी' रहना एक ऐसा कर्म था जिसकी साधना स्वयं कान्ट ने की थी। कुछ अन्य व्यक्ति भी कर सकते है किन्तु क्या इस कर्म का चयन इस आधार पर किया जा सकता है कि इसे विश्वव्यापी नियम बनाया जाए। ऐसा तो सम्भवतः स्वयं कान्ट का भी विश्वास नहीं होगा क्योंकि ऐसा करने से तो सृष्टि ही समाप्त हो जायेगी किन्तु किसी भी नियम के विश्वव्यापी बनाने का तात्पर्य एक तो यह हो सकता है कि कभी और किसी भी अवस्था में उस नियम का कोई भी अपवाद स्वीकार नहीं किया जायेगा। हो सकता है कि कान्ट ने इस भाव से नियम के विश्वव्यापी बनाए जाने की बात नहीं कही हो। दूसरा तात्पर्य यह भी हो सकता है कि कर्ता की इच्छा अथवा उसके निजी मोह अथवा स्वयं अपने साथ पक्षपात होने के कारण कोई अपवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए यह कहा जा सकता है कि अपवाद भी उसी अवस्था में स्वीकार किया जा सकता है जब कि वह उन्हीं परिस्थितियों में उतना ही विश्वव्यापी बनाया जा सके जितना कि कोई भी नियम बनाया जा सकता है। इसका रूप कुछ इस प्रकार का होगा 'उन परिस्थितियों के अतिरिक्त, जिनमें कि इस कर्म का न करना उतना ही विश्वव्यापी बनाया जा सकता है जितना कि सब ही परिस्थितियों में इस कर्म का करना विश्वव्यापी है, अन्य सब ही परिस्थितियों मे इस कर्म को करो'। उदाहरणार्थ—हम किसी भी कर्म के

लिए यह सोचते हैं कि वह कर्म सब ही विश्वब्रह्माण्ड के मानवों के लिए करने योग्य स्वीकार किया जा सकता है अतः इसे मुझे भी करना चाहिए। इसी प्रकार यदि उस कर्म के अपवाद का प्रश्न है तो फिर वह उसी अवस्था में स्वीकृत हो सकता है जब कि हम यह कह सकें कि विश्वब्रह्माण्ड भर के मानवों को इन परिस्थितियों में इस कर्म को नहीं करना चाहिए। अथवा इस सिद्धान्त का रूप यह भी हो सकता है कि इन परिस्थितियों में यह विश्वव्यापी नियम बनाया जाए कि सब ही व्यक्ति यह कर्म करें। सम्भवतः कान्ट के प्रथम नैतिक सिद्धान्त के अन्तर्गत केवल वही तात्पर्य आ सकता है जिसमें कि अपवाद को भी नियम की भाँति ही विश्वव्यापी स्वीकार किया जा सकता है। वास्तव में नैतिक नियम के अपवाद और नैतिक नियम में अपवाद में बहुत अन्तर है और होना चाहिए। कान्ट सम्भवतः इन दोनों को मिला गए। नैतिक नियम के अपवाद को हम भले ही स्वीकार न करें किन्तु नैतिक नियम के अन्तर्गत ही परिस्थितियों के आधार पर अपवाद स्वीकार किए जा सकते हैं और इस प्रकार के अपवाद नैतिक नियम के विरोधी नहीं माने जा सकते है। इसके अतिरिक्त आन्तरिक विरोध का अभाव भी तो निश्चित रूप से नैतिक पथ प्रदर्शक के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

कान्ट का विश्वास था कि 'कर्तव्य केवल कर्तव्य के ही लिए' यह सब ही किसी भी कर्म के लिए पर्याप्त कर्म प्रेरक हो सकता है अर्थात् किसी भी कर्म के लिए इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी कर्म प्रेरक की आवश्यकता नहीं है। किसी भी कर्म के नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के लिए उसका 'कर्तव्य' भाव से ही किया जाना आवश्यक है, किन्तु बात ठीक ऐसी ही नहीं है। वस्तुतः यहाँ दो प्रश्नों में कुछ उलझन सी हो गई है। एक तो यह प्रश्न है कि क्या नैतिकता का आधार किसी ध्येय की प्राप्ति है? दूसरा प्रश्न यह है कि वह ध्येय क्या है? वस्तुतः प्रश्न दो हैं और भिन्न हैं। इनके उत्तर भी भिन्न भिन्न होने चाहिए। इसका तो यह अर्थ हुआ कि कोई भी कर्म, कितने भी अधिक निस्वार्थ भाव से किया गया हो यदि उसका आधार नैतिक नियम के प्रति घनी आस्था, श्रद्धा और आदर नहीं है, यदि वह कर्तव्य के भाव से नहीं किया गया है तो उसका नैतिक मूल्य कुछ भी नहीं हो सकता है। सम्भवतः यह सिद्धान्त कुछ अधिक ही कठोर है। वस्तुतः हमें 'कर्तव्य' विचार के अतिरिक्त भी तो श्रेय के प्रति स्नेह भावना होती ही है। 'कर्तव्य' के लिए हमारे मन में घनी श्रद्धा तो होती ही है किन्तु कर्तव्य के अतिरिक्त 'श्रेय' के लिए भी तो हमारे मन में आदर और स्नेह का

भाव रहता ही है। मानव स्वभाव से ही श्रेय को प्रेम भी तो करता ही है अतः केवलमात्र कर्तव्य ज्ञान को ही कर्म प्रेरक मानना सम्भवतः कुछ भ्रमपूर्ण विचार है अतः यह प्रश्न विचारणीय है कि हम 'सुख के विचार' को कहाँ तक कर्म प्रेरक रूप में एकबारगी अस्वीकृत कर सकते हैं। सम्भवतः कर्तव्य में सुख की भावना भी कहीं न कहीं निहित रहती ही है जैसे कि सुख मे भी तो कर्तव्य ज्ञान कहीं न कहीं से आ ही जाता है। यह भी विचारणीय है कि कान्ट के शुष्क विवेक और बुद्धिवाद में मानव-प्रेम को भी स्थान मिल सकता है अथवा नहीं। क्या श्रेय कर्म का प्रेरक कारण केवल कर्तव्य ज्ञान ही हो सकता है प्रेम भाव नहीं। सड़क के किनारे पड़े हुए दुःखी, पीड़ित, दीन हीन मानव के सहायतार्थ यदि मैं कुछ कर्म करती हूँ अथवा उसे कुछ द्रव्य देती हूँ तो मेरा वह कर्म उस अवस्था में तो उचित और श्रेय होगा जब कि मै केवल इसी भाव से वैसा करूँ कि वैसा करना मेरा कर्तव्य है और उस कर्तव्य ज्ञान में अनु-भूति को कहीं स्थान नहीं मिलना चाहिए किन्तु यदि उसकी वेदना मेरे मन को छू जाती है और मैं आँखों में आँसू भर कर, मानव वेदना से पीड़ित होकर वैसा करती हूँ तो क्या मेरा कर्म नैतिक दृष्टि से हीन हो जायेगा? सम्भवतः कान्ट तो यही मानेंगे। किन्तु क्या ऐसा मानना ही उचित है? क्या इस प्रकार के नैतिक जीवन को आदर्श बना कर सदा सर्वदा उसी के अनुसार चलना किसी भी मानव के लिए साधारणतया सहज और सरल हो सकता है? वस्तुतः नैतिक जीवन में औचित्य को लेकर दृढ़ता और नियमानुसार ही चल पाने की जितनी आवश्यकता है श्रेयत्व को लेकर सौन्दर्य-प्रेम और नैतिक गुणों के प्रति अकृत्रिम रूप से प्रेम रखने की भी तो उतनी ही आवश्यकता है। किसी भी कर्म का नैतिक दृष्टि से मूल्यवान होना उसके श्रेयत्व और औचित्य दोनों पर ही तो निर्भर रहता है अतः मानवता के प्रति समुचित आदर की भावना रखने के साथ ही साथ उसके प्रति प्रेम की भावना रखना भी तो आवश्यक है। वस्तुतः कान्ट ने नैतिक नियम की रूपरेखा मात्र से ही नैतिक आचार-व्यवहार की आधार शिला प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से यह घोषित तो नहीं किया है कि कर्तव्य-ज्ञान अथवा कर्तव्य-चेतना के अतिरिक्त और कोई कर्म का विवेक बुद्धि सम्मत ध्येय हो ही नहीं सकता है किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने और किसी भी ऐसे ध्येय की चर्चा नहीं की है। यही कारण है कि हमें उनके विवेक प्रदर्शित अन्तराज्ञा के सिद्धान्त मे 'वस्तु' नहीं प्राप्त होती है।

उसके लिए तो हमें मानव-प्रकृति, उसकी प्रवृत्तियों और इच्छाओं से ही सहायता प्राप्त हो सकती है। कान्ट के सिद्धान्तों के अनुसार मानव-प्रकृति की सब ही प्रवृत्तियों को अपनी अपनी शक्ति के अनुसार नैतिक-जीवन में नैतिक नियमों के अनुसार स्थान मिलना तो चाहिए किन्तु उनकी शक्ति के अनुपात को जानने के लिए तो हमें अनुभव का आश्रय लेना ही पड़ेगा। विवेक बुद्धि के आधार पर भी उनमें से किसी एक कर्म-मार्ग को चुनने और दूसरे को अस्वीकृत करने के लिए हमें 'कर्तव्य' के अतिरिक्त किसी अन्य ध्येय की ओर इंगित करना ही पड़ेगा। सम्भवतः वह ध्येय आनन्द (happiness) ही हो सकता है किन्तु जब इच्छा ही नहीं होगी तो आनन्द कहाँ से आयेगा। इच्छाओं के सन्तुष्ट होने से ही तो आनन्द का जन्म होता है अतः यह कहना ही पड़ेगा कि जीवन में कदाचित ही हम केवल-मात्र कर्त्तव्य ज्ञान के ही भाव से कर्म कर पाते हों। कर्तव्य ज्ञान तो रहता ही है किन्तु अधिकतर उसके साथ ही साथ मानवता प्रेम, नैतिक गुणों के प्रति प्रेम आदि भावनाएँ भी रहती ही हैं। यदि हम केवल-मात्र नैतिक नियम के प्रति ही अमूर्त श्रद्धा भाव रखे तो नैतिक-कर्म का तो नैतिक महत्त्व ही समाप्त हो जायेगा। सम्भवतः उन्होंने यह मान लिया कि 'विवेक जन्य' कर्मों के अतिरिक्त प्रायः सब ही कर्मों का प्रेरक कारण केवल 'सुख' की भावना ही है और उन्होंने यह भी मान लिया कि विवेक मे वह क्षमता है जिससे कि वह मानव की इच्छा को अपने अधीन कर सके अतः मानव की समस्त इच्छाएँ विवेक के भीतर ही समा जानी चाहिए। सम्भवतः वह मानव की एक इच्छा और दूसरी इच्छा के बीच रहने वाले नैतिक भेद को भी नहीं मान पाते है। यह भी तो सम्भव है कि मानव की एक इच्छा का मूल्य नैतिक दृष्टि से दूसरी इच्छा से अधिक हो। मेरी कुष्ट रोग के रोगियों की निस्वार्थ भाव से सेवा करने की इच्छा का नैतिक मूल्य स्वादिष्ट भोजन करने की इच्छा से अधिक होता है और सम्भवतः कान्ट यह नहीं मान सकेगे। इसी लिए वह सब ही इच्छाओं के नैतिक मूल्य को एकबारगी अस्वीकृत कर देते हैं किन्तु वास्तविक स्थिति इससे भिन्न भी तो हो सकती है। हम किसी भी व्यक्ति के कर्म के नैतिक मूल्य का निश्चय इस आधार पर करते हैं कि वह कर्म किस अनुपात से उस वस्तु की इच्छा के आधार पर चुना गया है जिस वस्तु को विवेक बुद्धि नैतिक दृष्टि से निजी मूल्यवान (intrinsically good) मानती है। अब यह आवश्यक नहीं है कि कर्त्ता ने उस कर्म को केवल इसी आधार पर करणीय मान कर चुना

हो कि विवेक बुद्धि उसे कर्त्तव्य घोषित करती है। किसी और आधार पर चुना जाकर भी वह कर्म नैतिक दृष्टि मे श्रेय नहीं माना जाना चाहिए।

यदि अच्छे कर्म केवल वही कर्म हो सकते हैं जिनका जन्म केवल उन्हीं इच्छाओं के आधार पर होता है जो कि उन वस्तुओं के लिए ही होती है जिन्हें कि विवेक बुद्धि 'श्रेय' मानती है तब फिर कर्त्तव्य ज्ञान की और विवेक प्रदर्शित अन्तरात्मा की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? क्या श्रेयस्कर कर्म को अनिच्छा से, केवल इसी लिए कि हमें नैतिक नियम का पालन करना पड़ रहा है अथवा वैसा करना हमारा कर्त्तव्य है, करना, नैतिक नियमों के अन्तर्गत श्रेयस्कर वस्तुओं को प्रेम करके इच्छापूर्वक श्रेयस्कर कर्म करने की अपेक्षा अधिक नैतिक है, सत्य है, शिव है और सुन्दर है? यहाँ यह कहा जा सकता है कि किसी भी एक 'श्रेय' पर श्रद्धा करने का अर्थ होता है किसी अन्य ऐसे ही श्रेय का त्याग करना अथवा उसके स्थान पर प्रथम श्रेय पर श्रद्धा रखना किन्तु किसी एक 'श्रेय' विशेष की भक्ति न करके 'कर्तव्य' पर श्रद्धा रखने, उसकी ही भक्ति करने का अर्थ होता है विभिन्न प्रकार के श्रेय की भक्ति करना अर्थात् सब ही प्रकार के श्रेय की उसके कर्म से सम्बन्धित नैतिक मूल्य और महत्त्व के अनुसार श्रद्धा भक्ति करना अतः किसी भी श्रेय पर श्रद्धा रखने की अपेक्षा 'कर्तव्य-ज्ञान' का होना और कर्तव्य-भाव पर भक्ति रखना अधिक अच्छा है किन्तु उस अवस्था मे भी कर्तव्य-ज्ञान को, कर्तव्य-चेतना को ही हमारे समस्त व्यवहार का, समस्त कर्मों का एक-मात्र प्रेरक कारण बनाने की क्या आवश्यकता आ पड़ती है। यह भी तो हो सकता है कि कर्ता में यह क्षमता हो कि वह ज्यों ही किसी कर्म के विषय मे यह विश्वास कर ले कि वह उसके कर्तव्य के विरुद्ध है अथवा कर्तव्य का विरोधी है तो वह उस कर्म के करने की इच्छा को त्याग दे। इसके लिए तो कर्तव्य ज्ञान को चेतना की पृष्ठ-भूमिका मे रखना ही पर्याप्त हो सकता है और फिर 'कर्तव्य केवल कर्तव्य के ही लिए' को मानव चरित्र का सर्वोच्च आदर्श माना जाए अथवा अपूर्णता का ही संकेत माना जाए, यह भी विचारणीय समस्या है। वस्तुतः होता तो ऐसा ही है कि हम प्रारम्भ में कुछ कर्म केवल कर्तव्य की भावना से ही करते हैं, कुछ वस्तुओं को केवल मात्र इसी लिए ग्रहण करते है कि वह श्रेय हैं किन्तु ऐसा करते रहने पर कुछ काल पश्चात् हम उन्हें प्रेम ही करने लगते हैं अर्थात् कर्तव्य-ज्ञान अथवा कर्तव्य-चेतना अथवा कर्तव्य के लिए कर्ता में होने वाली श्रद्धा श्रेय के

प्रति प्रेम में परिवर्तित हो जाती है और फिर हम उन वस्तुओं के जिन्हें कि हम प्रेम करते हैं, नैतिक मूल्यांकन की ओर झुकने लगते हैं। क्या इसका यही अर्थ नहीं हुआ कि वास्तव में कर्तव्य-ज्ञान ध्येयों के अनुपातिक बाह्य नैतिक मूल्य को ठीक ढंग से समझ पाना ही है और समझ कर ही तो हम अपने भीतर उसे ग्रहण करने की नैतिक माँग का अनुभव कर पाते हैं और नैतिक चेतना के लिए नैतिक माँग आवश्यक है। वस्तुतः सर्वोच्च कर्तव्य-ज्ञान विवेकजन्य मानव प्रेम अथवा मानवता के प्रेम से कुछ भिन्न नहीं है। सम्भवतः इसी भाव से भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को अपने ही माध्यम से गीता में विश्व-प्रेम का उपदेश देते हैं :—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥६-२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥६-३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥६-३१॥

अर्थात् जिसका आत्मा योग-युक्त हो गया है उसकी दृष्टि सम हो जाती है और उसे सब प्राणियों में मैं और मुझमें सब प्राणी दिखाई देने लगते हैं। जो मुझको सब कहीं और सब को मुझमें देखता है उससे मैं कभी पृथक नहीं होता और न वही मुझसे कभी पृथक होता है। जो सम बुद्धि से अर्थात् सब प्राणियों को एक ही मान कर सब प्राणियों में स्थित मुझे ही भजता है वह योगी सब व्यवहार करता हुआ भी मुझमें ही रहता है। अब यदि कर्तव्य का नैतिक मूल्य है तो मानव प्रेम के द्वारा किए गए कर्तव्य का नैतिक मूल्य क्यों न माना जाए, यही समझ में नहीं आता है। इसी प्रकार 'आनन्द' के मूल्य को तो माना जा सकता है किन्तु यह नहीं माना जा सकता है कि आनन्द का कुछ नैतिक मूल्य भी है। ऐसी अवस्था में कर्तव्य प्रेम अथवा कर्तव्य के करने से ही जो आनन्द प्राप्त होगा उसका नैतिक मूल्य क्यों न माना जाए, यही समझ में नहीं आता है।

कान्ट का दूसरा नैतिक सिद्धान्त भी स्पष्ट सा ही है। जब तक ध्येय का अर्थ सर्वथा स्पष्ट न हो जाए तब तक यह भी तो ठीक से नहीं जाना जा सकता है कि मानव को ध्येय कैसे समझा और माना जाए। तीसरे सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी कठिनाई यह है कि उसका कुछ अर्थ ही नहीं रह जाएगा यदि हम यह न समझें कि दूसरों का 'श्रेय' क्या है क्योंकि

दूसरों के श्रेय को समझ कर ही तो हम उसकी प्राप्ति का प्रयत्न कर पायेंगे और तब ही तो हममें से प्रत्येक की इच्छा विश्व ब्रह्माण्ड के सब ही मानवों के लिए नियामक का कार्य कर सकेगी।

वस्तुत: कान्ट ने जितना ध्यान 'उचित' की ओर दिया उतना 'श्रेय' की ओर नहीं दिया। 'उचित' तो 'श्रेय' प्राप्ति का मार्ग है और श्रेय वह है जो कि होना चाहिए। उचित का सम्बन्ध कर्म से ही है किन्तु श्रेय का सम्बन्ध तो कर्म के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं से भी है। उचित कर्म और विवेकपूर्ण कर्म वही तो है जो श्रेय की इच्छा करे अत: इसके लिए कहीं न कहीं तो अनुभव का आश्रय लेना ही पड़ता है और उचित एवं श्रेय भी तो परस्पर सम्बन्धित है। 'श्रेय' की प्राप्ति 'उचित' है अत: यह दोनों परस्पर सम्बन्धित तो हुए ही। उचित तथा श्रेय दोनों ही अपना निजी मूल्य रखते है अत: इनमे नैतिक मूल्य का अस्तित्व तो मानना ही चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि कर्तव्य और प्रेम दोनों को लेकर ही चलना पड़ेगा। अब यहाँ केवल यह कहा जा सकता है कि आचार-शास्त्र का कार्य तो केवल मात्र नैतिक नियमों की रूपरेखा देना मात्र ही है कुछ उनकी वस्तु अथवा सामग्री देना नहीं किन्तु बात तो ठीक ठीक ऐसी नहीं है। वस्तु के बिना रूपरेखा मात्र से ही तो काम चलेगा नहीं।

कान्ट सर्वोत्तम श्रेय (Summum Bonum) जो कि निजी मूल्य रखता है और पूर्ण श्रेय (Bonum Consummatum) में अन्तर देख पाने का प्रयत्न करते है। वह इच्छा जो कि स्वाभाविक रूप से उचित की ही ओर जाती है निजी मूल्यवान श्रेय (intrinsically good) मानी जा सकती है और यह तो हम देख ही चुके है कि उसके अतिरिक्त अर्थात् श्रेय-इच्छा (good will) के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु निजी मूल्यवान नहीं है। पूर्ण श्रेय वह व्यवस्था है जिसमें कि पूर्ण-तया नैतिक व्यक्तियों को स्थान मिलता है और उनमे से प्रत्येक व्यक्ति अपने नैतिक गुणों के अनुपात से आनन्द की प्राप्ति करता है यद्यपि निजी मूल्यवान श्रेय तो केवलमात्र उचित की इच्छा करना ही है और कर्तव्य ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी भी कारण से किया जानेवाला कर्म उचित हो ही नहीं सकता है किन्तु इस कथन का कितना यथार्थ में मूल्य है, यह हम ऊपर देख ही चुके है। अन्त में केवल यही कहा जा सकता है कि सुखवाद ने सुख और उसकी अनुभूति को अत्यधिक महत्त्व दिया था अत: यह आवश्यक ही था कि उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप विवेक बुद्धि को अत्यधिक महत्त्व दिया जाए और कान्ट ने यही किया।

सम्भवत: ऐसा करने में उन्होंने भी, प्रथम पक्ष ने जैसे दूसरे पक्ष का स था नगण्य मान लिया था, अपनी बारी में प्रथम पक्ष को सर्वथा नगण्य ठहरा दिया किन्तु फिर भी उनके सिद्धान्तों का पर्याप्त मूल्य है ही। मानव के नैतिक जीवन में कर्तव्य का बहुत बड़ा स्थान है, इस सत्य को तो कोई भी आचारशास्त्र के विचारक एकबारगी अस्वीकृत नहीं करेंगे। विवेक बुद्धि का भी महत्त्वपूर्ण स्थान मानव के नैतिक जीवन में है ही प्रश्न अब केवल इतना ही रह जाता है कि आनन्द और सुखानुभूति का मानव के नैतिक जीवन में क्या और कैसा स्थान होना चाहिए। कान्ट ने इस ओर बिलकुल भी ध्यान नहीं दिया है। हम 'कर्तव्य केवल कर्तव्य के लिए ही होना चाहिए' इस सिद्धान्त को कितना भी नैतिक दृष्टि से महत्त्व क्यों न दें इस सत्य को अस्वीकृत तो कर ही नहीं सकते हैं कि उसमें मानव सुलभ प्रवृत्तियाँ और सुख की अनुभूति भी रहती ही है अत: विवेक और प्राकृतिक प्रवृत्तियों को लिए दिए ही तो मानव अपने कर्तव्य के विषय में सोच पाता है अत: विवेक द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलने का अर्थ सम्भवत: यह होता है कि उसे अपनी कुछ प्राकृतिक प्रवृत्तियों का बलिदान करना ही पड़ता है और ऐसा कर पाने के लिए ही तो उसे कर्तव्य ज्ञान की आवश्यकता है। इन्हीं स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अस्तित्व को कान्ट विस्मृत ही बनाये रखना चाहते है। कम से कम उन्हे विवेकवान व्यक्ति के लिए कर्म-प्रेरक का स्थान देने के लिए तत्पर नहीं है, उनके 'कर्तव्य केवल कर्तव्य के लिए ही' सिद्धान्त में उन प्रवृत्तियो के लिए स्थान नहीं है किन्तु वे प्रवृत्तियाँ ही तो मानव को कर्ता रूप मे नैतिक महत्त्व दिलाती हैं। उनका दमन करके अथवा उन्हें समुचित रीति से यथास्थान विवेक द्वारा संयमित रखकर ही तो मानव कर्तव्य का पालन भी कर पाता है।

भगवद्गीता और विवेकवाद—भगवद्गीता में मानव के मन में आदिकाल से आज पर्यन्त उत्पन्न होनेवाले प्रश्न का उत्तर दिया गया है। प्रश्न यह है कि मानव आध्यात्मिक पूर्णावस्था को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है और उसका उत्तर यह दिया गया है कि यथाशक्ति और यथाधिकार निष्काम कर्म करते रह कर वह शुद्ध बुद्धि हो सकता है और ऐसी बुद्धि प्राप्त हो जाने पर सिद्धावस्था दूर नहीं रह जाती है। तथा गीता में कर्म-संन्यास अर्थात् कर्म त्याग की अपेक्षा कर्म योग का महत्त्व अधिक माना है। वस्तुत: मानव शरीरधारी होते हुए कर्म का पूर्णतया त्याग तो कर सकता ही नहीं है (गी० ३. ५) अत: उसे कर्म ही ऐसे ढंग से करना चाहिए कि वह उसके बन्धन का कारण न बन सके।

वस्तुतः भारतीय दर्शन शास्त्रों में कर्म के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत मिलते हैं। कुछ विचारक तो कर्म त्याग (सांख्य अथवा संन्यास) के पक्ष में जान पड़ते है और अन्य कुछ कर्म योग के पक्ष में किन्तु गीता के मतानुसार कर्म योग ही विशेष है क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना अधिक श्रेयस्कर है (गी० ३.८, ५. २)। इसी मार्ग पर चलने का श्रीकृष्ण अर्जुन को आदेश भी देते हैं (गी० २. ४७, ५०;३. ७, ८, ४. १५, ४. ४२ आदि आदि) अतः किसी एक सीमा तक यह तो माना ही जा सकता है कि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना अधिक श्रेयस्कर है किन्तु कर्ता को कर्म निष्काम भाव से करना चाहिए तव ही उस कर्म का नैतिक महत्त्व होगा और तव ही वह कर्ता के लिए बन्धन का कारण नहीं बन सकेगा। निष्काम कर्म का अर्थ है :—'सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। (गी० २. ३८)' सुख दुःख, लाभ हानि और जय पराजय को एक ही समान मानकर कर्म करना और ऐसा करना इसलिए आवश्यक है कि कर्म फल मानव के अधिकार में है ही नहीं अतः 'वह मेरे अधिकार में है' इस प्रकार की मिथ्या भावना रखने से मानव ठगा ही जाता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ (भग० गी० २. ४७)

अर्थात् तेरे अधिकार मे तो कर्म करना मात्र ही है फल का मिलना अथवा न मिलना नहीं अतः तू फल की इच्छा रख कर काम न कर और कर्म न करने के लिए भी आग्रह न कर। किसी भी अवस्था में कर्म के श्रेयत्व अथवा औचित्य का आधार उसका फल नहीं हो सकता है क्योंकि कर्म फल कर्ता के अधिकार में नहीं है और कर्म फल का सम्पूर्ण दायित्व भी कर्ता पर नहीं है क्योंकि किसी भी कर्म के कर्ता के अतिरिक्त भी चार अन्य कारण होते है :—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
(भग० गी० १८. १४)

कर्म के पाँच कारण इस प्रकार होते हैं, स्थान, कर्ता, साधन, कर्ता की विभिन्न चेष्टाएँ, उसके विभिन्न व्यापार और दैव। ऐसी अवस्था में जो कर्ता के अधिकार में है ही नहीं और जिसके लाने के लिए कर्ता ही एक-मात्र उत्तरदायी नहीं है उसे सम्मुख रख कर कर्ता अपने कर्म का चयन भी किस प्रकार कर सकता है अतः कर्ता को उचित है कि वह—

'योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय !
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥'

(गी० २. ४८)

के अनुसार कर्म करे अर्थात् कर्म की सिद्धि अथवा असिद्धि सम्बन्धी आसक्ति अथवा मोह को त्याग कर, दोनों को ही समान मान कर योगस्थ होकर कर्म करे और इस प्रकार की समता की मनोवृत्ति को ही योग कहते है। ऐसा होना तब ही सम्भव हो सकता है जब कि कर्ता स्थित प्रज्ञ हो, समबुद्धि हो। ऐसे व्यक्ति का वर्णन इस प्रकार आता है।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ (गी० २. ५५)

अर्थात्—हे पार्थ ! जब कोई भी व्यक्ति अपनी समस्त वासनाओं को त्याग कर अपने आप में ही सन्तुष्ट होकर रहता है तब उसको स्थित-प्रज्ञ कहते है।

जो व्यक्ति समस्त वासनाओं का त्याग कर पायेगा अथवा उन्हे किसी न किसी प्रकार अपनी विवेक बुद्धि के अधीन कर पायेगा वह दुःख और सुख की अनुभूति तो सम्भवतः करेगा ही किन्तु उन्हें अपने लिए कर्म चयन करने में कोई महत्वपूर्ण भाग नहीं लेने देगा अर्थात् जब वह अपने लिए करणीय कर्म का चुनाव करेगा तो केवल कर्तव्य भाव से ही करेगा। सुखानुभूति अथवा दुःखानुभूति की कल्पनाओं से प्रभावित होकर नहीं करेगा। (गी० २. ५६-५९)

नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास का तथा सच्चे सुख अथवा चिरन्तन आनन्द की प्राप्ति का यही एक मार्ग भी है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

(गी० २. ६६)

अर्थात् जो व्यक्ति इस प्रकार से योगयुक्त नहीं हो जाता है उसकी स्थिर बुद्धि नहीं रहती है और ऐसा न होने पर उसे शान्ति नहीं मिलती है। जब शान्ति नहीं है तो उसे सुख मिलेगा ही कैसे ? और बुद्धि की स्थिरता के लिए उसे इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को हटाना ही पड़ेगा (गी० २. ६८)। और ऐसा कर पाने का अर्थ है निरहंकार हो जाना। जिसे ममत्त्व नहीं होता जो निरहंकारी है उसे ही शान्ति मिलती है। (गी० २. ७१) और यही कर्मयोग है (गी० ३. ७)। इसके कर्ता को शान्ति इसीलिए प्राप्त होती है कि वह कर्मफल का आश्रय

न लेकर कर्तव्य मान का ही कर्म करता है (गी० ६. १,४)। और इस प्रकार वह स्वयं अपने आपको जीत कर अपने पर शासन करता है (गी० ६. ५-७)। इस प्रकार करके कर्ता अपना लक्ष्य, ध्येय तो सम्भवतः सुख को रख कर नहीं चलता है किन्तु उसे ऐसा करने में उसे सुख की प्राप्ति होती है यद्यपि वह सुख वासनात्मक सुख नहीं होता तथापि

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

(गी० ६. २०, २१)

योगानुष्ठान में रतचित्त जहाँ रम जाता है और जहाँ स्वयं आत्मा को देखकर आत्मा में ही सन्तुष्ट होकर रहता है, जहाँ बुद्धिगम्य और इन्द्रियों को अगोचर अत्यन्त सुख का उसे अनुभव होता है और जहाँ वह एक बार स्थिर होने पर कभी तत्व से नहीं डिगता है किन्तु इस प्रकार के इन्द्रिय अगोचर अत्यन्त सुख की प्राप्ति के लिए केवलमात्र वासनाओं और कामनाओं के त्याग और धैर्ययुक्त बुद्धि की सहायता से मन द्वारा इन्द्रियों के संयम मात्र की ही आवश्यकता नहीं है वरन् आवश्यकता है मन को आत्मा में स्थिर करने की, उसके अधीन करने की (गी० ६. २४-२६)। आत्मा 'अहं' भी नहीं है और मनस भी नहीं अतः ऐसा कर पाने के लिए हमें आचार शास्त्र की सीमाओं को पीछे छोड़ कर तत्वज्ञान एवं आध्यात्मिक जगत् तक जाना पड़ता है जो कि इस समय हमारा न तो क्षेत्र ही है और न उस तक जाना हमारा ध्येय ही है किन्तु इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि मानव को सब ही कर्म अपने कर्तव्य मान कर करने चाहिए और निष्काम भाव से अर्थात् फलाशा त्याग कर करने चाहिए (गी० १८. २)। ऐसा कर पाना उसके लिए तब ही सम्भव हो सकता है जब कि उसकी बुद्धि स्थिर हो, सम हो, शुद्ध हो और ऐसा कर पाने के लिए उसे सब ही वासनाओं को लक्ष्य रूप मे, ध्येय रूप मे त्याग कर इन्द्रियों को आत्मा के अधीन कर देना होगा। ऐसा कर पाने पर ही वह यथार्थ सुख, इन्द्रियों को अगोचर अत्यन्त सुख प्राप्त कर सकेगा तथा कर्म के बन्धन से भी छुट सकेगा क्योकि तब वह सात्विक कर्ता होगा।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ (गी० १८. २६)

अर्थात् आसक्ति रहित, कर्म सम्बन्धी सिद्धि अथवा असिद्धि के विकार-युक्त विचारों से युक्त धैर्य और उत्साह से कर्म करता है। तव उससे किया गया कर्म भी सात्विक ही होता है (गी० १८. २३)। उसकी वुद्धि भी सात्विक ही होती है (गी० १८. ३०) । सात्वक बुद्धिवाला कर्ता अत्यधिक प्रसन्न रहता है क्योंकि वह ब्रह्मभूत होता है।

ब्रह्म भूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। (गी० १८. ५४)

अर्थात् ब्रह्मभूत हो जाने पर वह प्रसन्नचित्त होकर न किसी से द्वेष ही करता है और न किसी की आकांक्षा ही।

क्योंकि "यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकन्न हन्ति न निबध्यते।" (गी० १८. १७)

जिसकी वुद्धि अलिप्त है और जो निरहंकार है वह यदि लोगों को मार भी डाले तो भी यही समझना चाहिए कि उसने किसी को भी नहीं मारा क्योंकि कर्म उसके लिए बन्धन का कारण नहीं हो सकते हैं।

इस सब का तो तात्पर्य यह हुआ कि मानव को कर्म तो करना ही पड़ता है और अपने कर्म के फल के ही कारण वह अपने लिए सुख अथवा दुःख की सृष्टि भी करता है किन्तु कोई भी व्यक्ति दुःख नहीं प्राप्त करना चाहता यद्यपि सुख प्राप्ति की इच्छा सब ही को होती है अतः सुख प्राप्ति की चेष्टा तो करना ही चाहिए किन्तु ऐसे सुख की प्राप्ति की चेष्टा करना चाहिए जो कि नाशवान न हो और अत्यधिक सुख हो। ऐसा सुख इन्द्रिय-जन्य सुख तो हो ही नहीं सकता क्योंकि वह दुःख से सर्वथा पृथक नहीं हो पाता है अतः कामना अथवा इच्छा से उत्पन्न होनेवाले वासनात्मक सुख का तो अत्यधिक, अति उच्च सुख के लिए बलिदान करना ही होगा क्योंकि ऐसा किए बिना मनुष्य कर्म का आधार उसी दुख से मुक्ति अथवा सुख की आशा को बना बैठेगा और उसका परिणाम कुछ भी नहीं होगा क्योंकि कर्म फल उसके अधीन तो है ही नहीं अतः ऐसी अवस्था मे जो अपने अधीन नहीं है उसकी आशा पर ही कर्म करने से निराशा और दुःख के ही हाथ लगने की अधिक सम्भावना है। विवेक जो मार्ग हमे प्रदर्शित करता है उससे तो यही जान पड़ता है कि कर्ता को कर्म फल की आशा को कर्म प्रेरक किसी भी अवस्था में नहीं बनाना चाहिए। तव फिर कर्म प्रेरक क्या हो? इस प्रश्न का उत्तर खोजने से पूर्व कर्ता की मानसिक अवस्था का भी विश्लेषण कर लेना चाहिए और वह होगी फलाशा रहित, वासना एवं विकार रहित। ऐसी अवस्था ही शुद्ध वुद्धि की, सम वुद्धि की अवस्था

होगी और वह होगी स्थित प्रज्ञ की अवस्था। उस अवस्था तक पहुँच पाने के लिए ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग अथवा कर्म योग में से किसी एक का आश्रय लेना ही होगा। प्रथम दोनों को छोड़कर हम यहाँ केवल तीसरे की ही बात करेंगे और उसका अर्थ होगा निरहंकार, निर्लिप्त बुद्धि होना जो कि कर्मयोग के अभ्यास के द्वारा सम्भव हो सकता है।

मूल्यांकन—इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीता के कर्मयोग में कर्तव्य-भावना प्रधान है और वासनात्मक सुखों का त्यागना ही उचित ठहराया गया है किन्तु 'इन्द्रिय अगोचर अत्यन्त सुख' को भी यथोचित स्थान दिया गया है। सम्भवतः यह भी आशा नहीं की गई है कि निष्काम कर्म के परिणामस्वरूप भी कर्ता को सुख की अनुभूति नहीं होना चाहिये यद्यपि उसे सुख और दुःख को एक ही समान मान कर अपने कर्तव्य के चयन करने का आदेश दिया गया है। कर्म के फलस्वरूप सुख अथवा दुःख होगा ही यह तो माना ही गया है और सम्भवतः यह मान कर ही यह उपदेश दिया गया है कि यद्यपि वह आयेगा किन्तु उसे सम भाव से ग्रहण करना चाहिए। कर्तव्य के निर्धारित करने मे कहीं सुख और कहीं दुःख की अनुभूतियाँ ही प्रधान कर्म प्रेरक न बन बैठे इस भय से उन्हे आत्मा के अधीन कर देना आवश्यक माना गया है किन्तु ऐसा कर पाने के लिए कर्ता को प्रत्येक क्षण सजग रहकर 'कर्तव्य केवल कर्तव्य के ही लिए हो' यह सोचते रहने की आवश्यकता नहीं है वरन् उसे अपनी बुद्धि से ही एक विशेष प्रकार के अनुशासन मे दीक्षित कर देना होगा और वह हो जायेगा सम्भवतः कर्ता का आत्म-परिचय, उसका आत्म-ज्ञान यद्यपि यह अहं-ज्ञान से सर्वथा भिन्न होगा और इसका आधार बन जाता है 'केवलाद्वैत', तत्त्वज्ञान का एक सिद्धान्त। निष्काम कर्म का किसी एक सीमा तक आधार तात्त्विक है, दार्शनिक है किन्तु उस भाग को विशेष रूप से न लेकर भी हम इतना तो देख ही लेते है कि गीता केवल-मात्र निष्काम कर्म को ही नैतिक दृष्टि से श्रेय और उचित मानती है और सम्भवतः मानव के नैतिक ध्येय के स्थान पर उसके अपने 'चरम-सुख' को 'चिरन्तन और अत्यधिक सुख अथवा आनन्द' को रखती है यद्यपि उसी के अन्तर्गत उसके साधन-स्वरूप केवलाद्वैत का दार्शनिक सत्य भी किसी न किसी रूप में आ ही जाता है और ऐसी अवस्था में वह ध्येय केवलमात्र नैतिक ही न रह कर आध्यात्मिक भी बन जाता है किन्तु फिर भी गीता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य (धर्म) की खोज करनी ही पड़ती है और उसे निस्संकोच भाव से अपने धर्म

(कर्तव्य)का पालन ही करना चाहिए। मानव के जीवन में इन्द्रिय-जन्य सुख-प्राप्ति की प्रवृति भी है ही और उच्च सुख प्राप्ति की आकांक्षा भी। उसके लिए श्रेयस्कर पथ यही है कि वह इन्द्रिय-जन्य सुख वासनात्मक सुख अथवा निम्न कोटि के सख का उच्च कोटि के सुख की प्राप्ति के लिए बलिदान कर दे। ऐसा करके ही वह उच्च सुख की प्राप्ति कर सकता है और ऐसा करना ही उसके लिए उचित है और ऐसा कर पाने के लिए ही उसे किसी भी कर्म को कर्तव्य भाव से, समबुद्धि से ग्रहण करना चाहिए। वही कर्म जो कि समबुद्धि से किया जायगा उसके लिए हितकर हो सकता है किन्तु उसका अपना हित भी तो सब के हित की नींव पर खड़ा होता है क्योंकि समबुद्धि तो उसे सब ही विश्व ब्रह्माण्ड के प्राणियों को 'आत्मवत्' देखना सिखाती है। यही है गीता का निष्काम कर्म और कर्मयोग किन्तु भगवद्गीता में तो कर्म योग के अतिरिक्त भक्ति-योग और ज्ञान योग को भी स्थान दिया गया है तथा तात्त्विक आधार को लेकर प्रायः सब ही आध्यात्मिक विषयों पर प्रकाश डाला गया है किन्तु उन सब की चर्चा यहाँ पर नहीं की जा सकती है। हमारी चर्चा का विषय तो यहाँ निष्काम कर्म ही है और उसी का नैतिक मूल्य भी आचार-शास्त्र में माना जा सकता है। महाभारत में अन्य स्थलों पर भी निष्काम भाव से कर्तव्य करने का आदेश दिया गया है। शान्ति पर्व में इसी प्रकार का उपदेश व्यास जी युधिष्ठिर को देते हैं :—

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥

अर्थात् सुख हो अथवा दुःख, प्रिय हो अथवा अप्रिय, जो जिस समय जैसा प्राप्त हो उसे उस समय वैसे ही कर्तव्य मान कर ग्रहण करते रहो। इसका स्पष्ट यही तात्पर्य होगा कि कर्म का सदा सर्वदा प्रेरक कारण 'सुख प्राप्ति की आशा और उसके कारण होनेवाली इच्छा' नहीं होना चाहिए क्योंकि कर्तव्य तो ऐसे कर्म भी हो सकते है जो कि साधारणतया सुखदायी नहीं होते है अतः कर्म का प्रेरक कारण केवल कर्तव्य-ज्ञान ही होना चाहिए और ऐसा कर पाने के लिए यह आवश्यक है कि फलाशा का त्याग किया जाए किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि क्या फलाशा का सर्वथा त्याग करना कर्ता के लिए सम्भव है? हो सकता है कि सम्भव न भी हो किन्तु फलाशा को कर्म प्रेरक का स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। सम्भवतः इतने से भी हमारा आशय सिद्ध हो सकता था किन्तु उस अवस्था में कर्ता के डिग जाने का भी भय रह ही जाता है अतः बुद्धि को

ही ऐसी अवस्था में स्थित कर लेना, दीक्षित कर लेना ही उचित है जहाँ से कि उसे सुख और दुःख समान ही दिखाई दें और यही स्थित प्रज्ञ का लक्षण है। निष्काम कर्म कर सकने के लिए कर्ता का स्थित-प्रज्ञ, सम बुद्धि होना आवश्यक है किन्तु इतना ही नहीं कर्ता को यह भी तो जानना चाहिए कि कर्तव्य क्या है अन्यथा वह कर्तव्य को पहचानेगा किस प्रकार और विना पहचाने कर्तव्य का किस प्रकार पालन कर पाएगा। उसके लिए भी एक सरल मार्ग सम्मुख रख दिया गया है कि अपने ही समान अथवा अपने उपास्य को ही सब मानवों में समझ कर कर्म करो। निस्वार्थ, निर्लिप्त और निरंहकार बुद्धि हो जाने पर कोई भी कर्म मानवमात्र के लिए अहितकर तो हो ही नहीं सकेगा। यही नहीं, ऐसे कर्म से स्वयं कर्ता को भी अनन्त सुख की प्राप्ति होगी अतः इस प्रकार का कर्म ठीक ठीक उसी अर्थ मे 'कर्तव्य केवल कर्तव्य के लिए' नहीं है जिस अर्थ से कि कान्ट उसे समझते हैं और निष्काम कर्म का अर्थ भी ठीक यही नहीं है कि इच्छाओं का संयम करके ही कर्म किया जाए वरन् उससे कुछ अधिक भी है तथा उसे करने पर सुख प्राप्ति भी होती है यद्यपि इस प्रकार का सुख चिरन्तन और अत्यन्त सुख है। इस प्रकार का सुख विषयोपभोगजन्य सुख से सर्वथा भिन्न है। विषयोप-भोगजन्य सुख आत्मा के लिए श्रेय नहीं है। वस्तुतः आत्मबुद्धिप्रसाद से अथवा विवेकबुद्धिजन्य सुख को ही अधिकांश भारतीय विचारक प्राप्त करने योग्य सुख मानते है। उनके विचारानुसार यही सुख स्व-तन्त्र, नित्य और श्रेष्ठ है। इसी लिए इसी को प्राप्त करने का मानव को प्रयत्न करना चाहिए और यह निष्काम भाव से किये गये कर्म मे ही प्राप्त हो सकता है। इसी से आत्मा को सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है और उसी की प्राप्ति मानव का ध्येय होना भी चाहिए। इसी आधार पर गीता मे कार्य अकार्य की चर्चा भी की गई है और निष्काम कर्म द्वारा सुख प्राप्ति का उपदेश भी दिया गया है। यद्यपि गीता के उस उपदेश को केवल विवेकबुद्धिवाद नहीं कहा जा सकता है फिर भी 'निष्कामकर्म के सिद्धान्त' का आधार किसी एक सीमा तक यह भी रहा।

अध्याय ९

अन्तः शक्तिवाद (Intuitionism)

नैतिक पथ प्रदर्शन—भीतर से कुछ विचारक यह विश्वास करते हैं कि मानव सदा सर्वदा सुख, दु:ख, कर्तव्य, अकर्तव्य आदि की गणना करके ही कर्म नहीं किया करता है। कर्म का चयन करते समय भी गणित के नियमों के अनुसार हिसाब किताव नहीं किया जाता है कि किस कर्म से अधिक सुख मिलेगा अथवा दु:ख और यह भी ठीक ठीक निर्णय करना सदा सम्भव नहीं होता है कि यह मेरा कर्तव्य है इसी लिए मैं इसे करूँ। सम्भवत: वह व्यवसायी जो कि व्यवसाय में सचाई का व्यवहार करता है न तो प्रत्येक क्षण यह ही सोच कर ऐसा करता है कि ऐसा करने से उसे सुख अधिक प्राप्त होगा और न यह ही सोच कर करता है कि ऐसा करते रहना मेरा कर्तव्य है और न यह ही सोचता है कि इससे किसी का भी हित हो रहा है वरन् अपने अन्त:करण की पुकार अथवा उदात्त मनोवृत्तियों के कारण ही वैसा करना उसके लिए सम्भव होता है। वस्तुत: मानव के भीतर कुछ उदात्त मनोवृत्तियाँ पलती रहती हैं। ये मनोवृत्तियाँ नैसर्गिक अथवा स्वाभाविक होती हैं। इन सब का वास अन्तर में ही होता है अत: मानव के भीतर ही एक ऐसी शक्ति रहती है जो कि 'सदसद्विवेकवान' होती है। यदि मानव अपनी, अपने अन्तर की इस 'सदसद्विवेक शक्ति' (Conscience) का आश्रय लेकर चले तो उसे 'श्रेय' और 'अश्रेय', 'उचित' और 'अनुचित', 'कर्तव्य' और 'अकर्तव्य' में भेद करते हुए धोखा नहीं खाना पड़ता है।

सदसद्विवेकवाद और अन्त:करण—सम्भवतः इसी प्रकार की विचारधारा के प्रभाव में मनु ने भी कहा है "मन: पूतं समाचरेत्" (मनु० ६.४६) मन को जो पुनीत जान पड़े वही करना चाहिए। अथवा :—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मन: ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥

जिसके कर्म के करने से हमारा अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो उसे प्रयत्न करके करना चाहिए किन्तु जो कर्म इसके विपरीत हो उसे नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार की चर्चा कालीदास भी करते हैं :—

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

(शाकु० १. २०)

अर्थात् सत्पुरुष अपने अन्तःकरण (Moral sense) की साक्षी को ही प्रमाण मानते हैं। इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अन्तःकरण को नैतिक पथ प्रदर्शक माना जा सकता है। प्रायः विचारकों ने यह माना है कि मानव अपने भीतर ही एक ऐसी शक्ति पाता है जो कि उसके नैतिक पथ प्रदर्शक का कार्य करती है और कुछ विचारक तो उसे अन्य इन्द्रियों की भाँति एक ऐसी इन्द्रिय तक मानने को तत्पर दिखाई देते हैं जो कि हमें नैतिक दृष्टि से कर्म चयन में सहायता करती है।

यूरुप में अन्तःशक्तिवाद के समर्थकों का अभाव कभी भी नहीं रहा। वस्तुतः अन्तःशक्तिवाद एक विचारधारा है। इसके समर्थक यह विश्वास करते हैं कि किसी भी कर्म के फल की ओर तनिक भी ध्यान दिए बिना ही केवलमात्र मानव अन्तःशक्ति के सहारे ही उस कर्म के विषय में नैतिक निर्णय दिया जा सकता है। प्रोफेसर सिजविक इस प्रकार की विचारधारा को दो भागों में विभक्त करके देखते हैं। उनके मतानुसार अन्तःशक्तिवाद के कुछ समर्थक यह मानते हैं कि अन्तःशक्ति द्वारा मानव के आचार व्यवहार-विशेष अथवा कर्म-विशेष पर नैतिक निर्णय दिया जा सकता है। इन्हें अदार्शनिक अन्तःशक्तिवादी कहा जा सकता है और इनके पक्ष को अदार्शनिक अन्तःशक्तिवाद (Unphilosophical Intuitionism) कहा जा सकता है। एक अन्य पक्ष के विचारक यह विश्वास करते हैं कि प्रत्येक कर्म पर अन्तःशक्ति द्वारा नैतिक निर्णय न तो दिया ही जाता है और न दिया जाना सम्भव ही है वरन् अन्तःशक्ति 'श्रेय' अथवा 'अश्रेय', 'उचित' अथवा 'अनुचित' कहकर मानव व्यवहार के नियमों के ही सम्बन्ध में अपना निर्णय देती है और इन्हीं नियमों के आधार पर कर्म-विशेष अथवा व्यवहार-विशेष के विषय में नैतिक निर्णय दिया जा सकता है। इसे दार्शनिक अन्तःशक्तिवाद (Philosophical Intuitionism) कहा जा सकता है। प्रत्येक कर्म पर अन्तःशक्ति द्वारा निर्णय माँगने की अपेक्षा नैतिक नियम अथवा नैतिक आचार व्यवहार सम्बन्धी नियमों के सम्बन्ध में अन्तः शक्तिद्वारा निर्णय-प्राप्त करना कहीं अधिक सुन्दर और ठीक जान पड़ता है। भले ही इस प्रकार के निर्णय विवेकबुद्धि (Reason)

द्वारा दिए जाएँ अथवा सदसद्विवेकशक्ति (conscience) द्वारा अथवा अन्तःकरण (Moral sense) द्वारा। यहाँ पर हम प्रायः अन्तिम दोनों की ही चर्चा करेंगे क्योंकि 'प्रथम' की चर्चा तो कान्ट को लेकर की ही जा चुकी है। इस विचारधारा का आधार यह तो है ही कि आचार सम्बन्धी बाह्य नियम सदा सर्वदा ठीक ही होते हों ऐसी बात नहीं है किन्तु मानव ऐसा होते हुए भी सर्वथा असहाय नहीं है वह स्वयं अपने ही भीतर से नैतिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है और यह ज्ञान बाह्य कारणों द्वारा प्राप्त नैतिक ज्ञान से कहीं अधिक शुद्ध और विश्वसनीय होगा। इस प्रकार की विचारधारा का जन्म होना कुछ इसलिए भी आवश्यक हो गया था कि प्रकृतिवादी (Nationalists) इस प्रकार के सिद्धान्तों का प्रबल प्रचार कर रहे थे कि नैतिक विचार और नैतिक नियम बाह्य जगत् अथवा प्रकृति के नियमों से ही प्राप्त किए जा सकते है। हाब्स ने तो स्पष्ट ही कह दिया कि नैतिक नियम मानव के आत्मरक्षा और आत्म-महत्त्व (self preservation and self assertion) के नैसर्गिक संस्कारों के आधार पर ही बनते है और उन्हीं के आधार पर बनाये जा सकते हैं। ह्यूम भी उन्हे सुख सहानुभूति आदि विविध अनुभूतियों के अतिरिक्त अन्य आधार न दे पाए। स्पेन्सर भी अधिक से अधिक सहानुभूति तक ही पहुँचे अतः वह भी नैसर्गिक संस्कारों से आगे न बढ़े। इन सब ऐसी विचारधाराओं का जो कि नैतिक नियमों की आधारशिला बाह्य जगत् मे ही खोजती थीं, प्रभाव यह हुआ कि कुछ अन्य विचारकों ने नैतिक नियमों का आधार एकबारगी मानव के अन्तर में ही खोजना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार के विचारकों मे राल्फ कडवर्थ, डा० सैमुयल क्लार्क, कान्ट, शैफ्टसबरी, हचसन, एडम स्मिथ आदि का नाम लिया जाता है किन्तु इन विचारों का पूर्ण स्पष्टीकरण जोसफ बटलर और मार्टीन्यू ने किया।

विवेकबुद्धिवादी अन्तःशक्तिवाद—कडवर्थ तो किसी एक सीमा तक यह मानते थे कि व्यापक विचारो (Universal concepts) विवेकबुद्धि द्वारा ही पहचाने जा सकते है। क्लार्क के मतानुसार ईश्वर भी तो चिरन्तन नैतिक नियमों के अनुरूप ही कार्य करता, करवाता है अतः ईश्वरीय उद्देश्य विश्व में व्यवस्था रखना ही है। वैदिक ऋत के सिद्धान्त के अनुसार वह भी विश्व ब्रह्माण्ड मे नैतिक व्यवस्था ही देखना चाहते हैं और उसकी दृष्टि मे नैतिक नियम ठीक गणित के नियमों की भाँति ही मानव की विवेक बुद्धि के निकट स्पष्ट रहते हैं अतः औचित्य के नियमों

के लिए भी हमें 'अन्तर' ही में खोजना चाहिए। उसके लिए हमें किसी प्रकार की बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं होती है। कान्ट के विचार तो हम देख ही चुके है। उन्हें भी किसी एक सीमा तक अन्त:वाद का समर्थक कहा जा सकता है। इन सब विचारकों की विचारधारा विवेक बुद्धिवादी अन्त:शक्तिवाद (rational intuitionism) है।

सौन्दर्यवादी अन्त:शक्तिवाद—शैफ्टसबरी यद्यपि 'जन-हित' को उचित और अनुचित का अन्तिम मापदण्ड मानते है तथापि यह भी मानते है कि किसी भी वस्तु का श्रेयत्व उसके तथा सम्पूर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध को देखते हुए ही निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार के श्रेयत्व को अथवा नैतिक गुण को अन्त:करण के द्वारा जाना जा सकता है किन्तु उसका निजी मूल्य और महत्त्व है। अन्त:करण ही हमसे श्रेयत्व को स्नेह कराता है। नैतिक दृष्टि से श्रेयत्व अपने भीतर सौन्दर्य को भी रखता है क्योंकि व्यवस्था में एक प्रकार का सौन्दर्य होता ही है और अन्त:करण के द्वारा ही हम न्याय, संयम आदि नैतिक गुणों से स्नेह करना सीखते है। व्यवस्था नैतिक गुण तक ले जाती है जिससे कि सुख प्राप्त होता है। हचसन यह विश्वास करते है कि अन्त:करण द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलना घोर स्वार्थ और पूर्णतया विवेक बुद्धि के अधीन रहने के बीच का मार्ग है किन्तु यह सौन्दर्य ज्ञान की भाँति अपनी विषय-वस्तु का आभास नहीं कराता है। यह तो विस्तृत एवं व्यापक अनुभव के साथ साथ परिवर्तित भी होता रहता है। ह्यूम के साथ साथ वह तो यह मानते हैं कि विवेकबुद्धि एकबारगी सैद्धान्तिक है और अधिक से अधिक वह हमें साधन दिखा सकती है अथवा दो ध्येयों का तुलनात्मक अध्ययन करा सकती है किन्तु कर्म के लिए प्रेरककारण उपस्थित नहीं कर सकती है। इच्छा को बनानेवाले तो आत्मप्रेम, विश्व-प्रेम और अन्त:करण ही हो सकते हैं और अन्त:करण उनके मतानुसार अन्तर्ज्ञान द्वारा ही अनुभव करना और तदानुसार कार्य करना तथा उस कार्य को श्रेय अथवा अश्रेय मान 'करना ही चाहिए' ऐसा निर्णय देता है। इस प्रकार अन्त:करण द्वारा प्रेरित इच्छा 'अन्तरात्मा की आज्ञा' ही होती है। विवेक बुद्धिवादी अन्त:शक्तिवाद ने यह भूल की थी कि वह यह नहीं समझ सके कि श्रेय तो एक अमूर्त व्यापक सत्य है जो कि विशेष मूर्त अनुभवों में नहीं जाना जा सकता। शैफ्टसबरी, हचसन आदि ने इसे समझने का प्रयत्न किया। इनके विचारों को सौन्दर्यवादी अन्त:शक्तिवाद (Aesthetic Intuitionism) कहा जा सकता है। एडमस्मिथ

ने सदसद्विवेक शक्ति के द्वारा मानव को स्वयं अपने ही कर्मों पर नैतिक निर्णय दे सकने योग्य माना।

सहानुभूतिवादी अन्तःशक्तिवाद—एडम स्मिथ यह विश्वास करते हैं कि सर्वप्रथम हम दूसरे लोगों के चरित्र पर नैतिक निर्णय देना आरम्भ करते है। तत्पश्चात् नैतिक निर्णय का वही मापदण्ड जो कि हम दूसरों के चरित्र तथा कर्म पर नैतिक निर्णय देते समय प्रयोग में लाते है अपने पर भी लागू करने लगते है। इसी प्रकार से समाज में नैतिक निर्णय देना सम्भव हो पाता है। मैं स्वयं ही अपने लिए कर्ता भी होता हूँ और निर्णायक भी। वस्तुतः सद-सद्विवेकशक्ति व्यक्ति के भीतर ही निहित रहती है। उसे व्यक्ति अन्य मानवों की इस प्रकार की शक्ति के साथ लगातार सम्बन्धित रख कर ही जीवित रख सकता है। यद्यपि इस प्रकार की विचारधारा का सबसे वड़ा महत्त्व तो उसके 'स्व' अपने निर्णायक हो सकने के सिद्धान्त में है। मानव स्वयं अपना ही निर्णायक है यही तो उसका महत्त्व है। किन्तु सहानुभूति को ही अपराधी और समाज दोनों का ही आधार वना देना कठिनाई अवश्य उपस्थित कर देता है।

स्वविधायकअन्तःशक्तिवाद—जोसफ वटलर आचारशास्त्र का मुख्य आधार मानव प्रकृति से सम्बन्धित तथ्यों को मानते है। इन्हीं तथ्यों के आधार पर ध्येय की खोज की जा सकनी है और सच्चा सुख उस ध्येय तक पहुँचने के लिए कार्य करने में ही प्राप्त हो सकता है। यह मनाते है कि 'मानव स्वयं अपने लिए विधि है।' (Man a law to himself) उनका विश्वास है कि मानव के भीतर ही उसकी 'सदसद्वि-वेक शक्ति' (Conscience) रहती है और यही उसका वास्तविक-स्व (true-self) है। यह एक ऐसा संचालक सिद्धान्त है जिसे कि हमारी प्रकृति की सव ही मूर्त एवं सशक्त प्रवृत्तियों के बीच सामंजस्य (harmony) स्थापित करना ही चाहिए। उनके मतानुसार तो मानव प्रवृत्तियों में उन्हे उनके विषयों से पृथक करके स्वार्थमय और निःस्वार्थ कह कर भेद नहीं किया जाना चाहिए और इस प्रकार से उन्हे नैतिक निर्णय का विषय भी नहीं वनाना चाहिए क्योंकि वे तो अपने विषयों के साथ ही सम्बन्धित होती है और उन्हीं से उन्हे नैतिकता भी प्राप्त होती है। यद्यपि उन्होंने विशेष प्राकृतिक माँगों (particular appetites) स्वार्थ अथवा स्वहित (Self-love) और सदसद्विवेक शक्ति

(Conscience) को सशक्त प्रवृत्तियों (active principles) के वर्ग (classes) ही माना है तथा इस प्रकार मानव की वासनाओं तथा वर्ग के सज्ञान संचालक सिद्धान्त स्वार्थ को सदसद्विवेक शक्ति के अधिकार के भीतर ही कर दिया है क्योंकि सदसद्विवेक शक्ति को ही सर्वोपरि अधिकार (Supreme authority) दिया है। फिर भी जब तक हम स्वार्थ और सदसद्विवेक शक्ति द्वारा स्वीकृत कर्मों को एक ही न मान लें हमें सदसद्विवेक शक्ति भी सर्वोपरि आन्तरिक अधिकार तथा मानव के स्वार्थ अथवा स्थायी स्वहित के अधिकार के बीच होने वाले संघर्ष से भाग निकलने का कोई मार्ग दिखाई नहीं देता है। यद्यपि वह कर्तव्य और हित इन दोनों को एक मानने का प्रयत्न करते हैं तथापि इनमें से प्रत्येक का निजी अस्तित्व भी उन्हे मानना ही पड़ता है और इस कठिनाई का सामना वे मानव प्रकृति का अध्ययन करके नहीं वरन् यह कहकर करते है कि यदि ईश्वर का उद्देश्य मानव में इन दोनों का सामञ्जस्य करना न होता तो वह इन्हे मानव को देता ही क्यों? वस्तुत: वह अपनी सम्पूर्ण विचारधारा में अपने अन्त:शक्तिवादी विचारो को निवाह भी नहीं सके अत: उन्हे विवेकपूर्ण स्वार्थ के सुझावों को भी सदसद्विवेक शक्ति के सुझावों का समकक्ष किसी न किसी रूप मे मानना ही पड़ गया।

समन्वय—अन्त:शक्तिवाद के अन्तर्गत आनेवाली विचारधाराओं के सूक्ष्म भेदों को जोड़कर यदि इस सम्पूर्णवाद पर दृष्टि डाली जाय तो यह एक मध्य मार्ग सा दिखाई देता है। इसके अनुसार यह माना जाता है कि नैतिक निर्णय का आधार कोई भी बाह्य तथ्य अथवा ध्येय न होकर, होता है मानव का अन्तर। किसी भी कर्म को सम्मुख पाकर अथवा कल्पना मे उसका रूप देख कर अथवा सैद्धान्तिक आधार पर किसी आचार व्यवहार का रूप देख कर मानवान्तर उसकी भीतरी शक्ति (सदसद्विवेक शक्ति अथवा अन्त:करण) उस पर नैतिक निर्णय देती है। मानव के भीतर की यह सदसद्विवेक शक्ति अत्यन्त सरल एवं स्वयंभू होती है। इस प्रकार के नैतिक निर्णयों को स्वीकार करने के लिए किसी प्रकार के तर्कादि की आवश्यकता नही होती। इस प्रकार के निर्णय मे अपने ही ढंग का अधिकार बल होता है। उसे किसी प्रकार के 'उपयोग' अथवा 'सुख' के सिद्धान्त का आधार नहीं लेना पड़ता है तथा किसी भी अवस्था में कर्म फल पर विचार करने की आवश्यकता का भी अनुभव नहीं करना पड़ता है। यह व्यापक शक्ति है और सब ही जातियों,

देशों आदि के मानवों में होती है यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि यह हर कहीं एक ही सी विकसित पाई जाए। विकास इसका चाहे कहीं कितना भी हो किन्तु यह है नैसर्गिक ही और प्रायः उसी प्रकार जिस प्रकार कि देखने, सुनने, स्पर्श करने आदि की शक्तियाँ मानव में होती हैं।

सदसद्विवेक शक्ति में जैसा कि स्पष्ट ही है बौद्धिक तत्त्व तो है ही अर्थात् मानव के भीतर एक ऐसी शक्ति है जो कि सद् और असद् में भेद कर सकती है, उन दोनों का ज्ञान कर सकती है, उनकी पहचान कर सकती है और सो भी बिना किसी कार्य के फल को देख सुन विचार करके वरन् स्वयं अपने आप ही और तुरन्त ही उसे सद् और असद् का ज्ञान, आभास और भान हो जाता है किन्तु यह ज्ञान केवल तार्किक ज्ञान ही नहीं है, पहचान मात्र भी नहीं है, तथ्यों का संग्रह मात्र भी नहीं है वरन् एक निर्णय है, अधिकार पूर्ण वैसा ही निर्णय है जैसा कि न्यायाधीश का दिया गया निर्णय होता है। 'अन्तःशक्ति' का महत्व इसी प्रकार के 'श्रेय' 'अश्रेय' विषयक निर्णय देने में ही है। नैतिक निर्णायक के रूप में मानव के अन्तर को, उसकी अन्तःशक्ति को पूरा पूरा न्यायाधीश का ही कार्य करना पड़ता है। कुछ विचारकों की दृष्टि में तो यह शक्ति मानव के भीतर उसका एक अंग सी बन जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विचारक अन्तःशक्ति में अनुभूति का भी अंश मानते हैं और अन्तःशक्ति ऐसी अवस्था में बहुत कुछ एक अनुभूति अथवा गहन नैतिक अनुभूति ही बन जाती है।

आलोचनात्मक दृष्टि—अब देखना यह होगा कि अन्तःशक्तिवाद के अन्तर्गत आनेवाले सदसद्विवेक शक्ति तथा अन्तःकरण के सिद्धान्तों को कहाँ तक अन्तिम नैतिक स्तर अथवा मापदण्ड के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

वस्तुतः जब तक विवेक-बुद्धि (vason) और सदसद्विवेक शक्ति अथवा अन्तःकरण के प्रदर्शित पथ एक ही रहते हैं तब तक तो कोई कठिनाई नहीं होती किन्तु सदा सर्वदा ऐसा ही होता रहेगा यह तो हम कह नहीं सकते है और ऐसा कभी कभी ही हो पाता है। जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ कठिनाई आती है। यदि विवेक बुद्धि हमें जीवन का एक पथ दिखाती है, व्यवहार के आचार के एक ढंग की ओर ले जाती है और अनुभूति अथवा अन्तर की सदसद्विवेक शक्ति द्वारा प्राप्त नैतिकानुभूति उसे उचित, श्रेय नहीं मानती तो हमारे लिए इस मनोद्वन्द्व अथवा अन्तर संघर्ष से निकलने का कौन मार्ग शेष रह जाता है। ऐसी अवस्था में हम दोनों

अन्तःशक्ति प्रदत्त नैतिक नियम न तो उतने स्पष्ट ही होते हैं और न उनकी पूर्णतया सुविस्तृत व्याख्या, विश्लेषण आदि ही किया जा सकता है। ऐसा भी तो होता है कि हम केवल यही कह पाते हैं कि मेरा अन्तःकरण मुझे यह कार्य नहीं करने देता किन्तु उसका कोई समुचित कारण हम नहीं दे पाते हैं और यदि ऐसी अवस्था में हमें अपवाद का निश्चय करने की आवश्यकता पड़ जाए तो अवस्था और भी कठिन हो जाती है क्योंकि अपवाद का निश्चय तो परिस्थितियों पर विचार करके ही किया जा सकता है किन्तु अन्तःशक्ति के ही निर्णय को स्वीकार करने के लिए यह नहीं जान पड़ता है कि कब और कहाँ परिस्थितियों पर विचार किया जाए। अन्तःकरण किसी भी कार्य को 'अश्रेय' 'अनुचित' मान सकता है किन्तु क्या ऐसा सब ही परिस्थितियों में होगा अथवा कुछ अपवाद भी विशेष परिस्थितियों में हो सकते हैं यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाता है। और यूँ भी कुछ न कुछ परिणाम का विचार तो प्रायः सब ही नैतिक नियमों मे रहता है। यदि हम मदपान के परिणाम की ओर से सर्वथा आँखें बन्द किए रहे तो भला उसमें दोष ही क्या हो सकता है और वह अनुचित भी क्यों माना जाना चाहिए ? परस्पर विरोधी नैतिक माँगें भी तो मानव को परिणामों पर विचार करने के लिए विवश कर देती है। मानव को मानवमात्र को प्रेम करना चाहिए किन्तु स्वयं अपने को भी तो प्रेम करना चाहिए। यह दोनों ही उसके निकट नैतिक माँगें हैं। बटलर इनकी चर्चा भी करते है। ये दोनों ही उसे अपने भीतर ही मिलती है। अन्तःशक्ति द्वारा उसे इनका ज्ञान होता है। अब इन दोनों में से किनको किस अनुपात से पूरा किया जाए यह देखने के लिए तो उसे कर्म फल का विचार करना ही पड़ेगा। इसी प्रकार परहित और समता तथा न्याय के नैतिक नियमों में अन्तर्द्वन्द्व हो सकता है। इस अन्तर्द्वन्द्व के बीच से पथ खोज पाने के लिए हमें किसी 'व्यापक श्रेय' की प्राप्ति की ओर इंगित करना पड़ेगा जो कि हमें ध्येय की ओर ले जायेगा अतः प्रश्न यह आ जायेगा कि क्या हम नैतिक कर्मों के श्रेयत्व का आधार नैतिक ध्येय में खोजें ?

वस्तुतः मानव बुद्धि किसी भी तर्क रहित सत्य को केवल इसी आधार पर ग्रहण करने को तत्पर नहीं होती है कि वह मानव की अन्तः-शक्ति ने स्वीकार किया है अथवा तत्सम्बन्धी श्रेयत्व अथवा औचित्य की घोषणा उसने की है और इस प्रकार की घोषणा में तर्क के लिए स्थान भी नही है। 'अन्तःकरण' अथवा 'सदसद्विवेक शक्ति' के निजी अस्तित्व को भी सिद्ध कर पाने के लिए हमें विवेक बुद्धि एवं

तर्क का आश्रय लेना ही पड़ता है अतः जिसके अस्तित्व के लिए बुद्धि का आश्रय लेना पड़े उसके दिए हुए नैतिक निर्णय को किस प्रकार बिना विवेक बुद्धि की सहायता के स्वीकार कर लिया जाए यह समझना कठिन है। सम्भवतः इसी दृष्टि से गीता ने कर्म करने से पूर्व पथ-चयन का कार्य बहुत कुछ सात्विक बुद्धि के ही हाथ में रहने दिया है :—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

(भग० गी० १८-३०)

अर्थात् जिसे यह ज्ञान है कि कौन सा कार्य करना चाहिए और कौन सा नहीं करना चाहिए, किस बात से भय खाना चाहिए और किससे निर्भय रहना चाहिए, किसमें बन्धन है और किसमें मुक्ति, वही बुद्धि सात्विक बुद्धि है।

यद्यपि राजसी बुद्धि जो कि ठीक-ठीक निर्णय नही कर पाती है और तामसी बुद्धि जो उलटा ही निर्णय करती है, इन दोनों का भी वर्णन किया गया है किन्तु सदसद्विवेक और तत्सम्बन्धी नैतिक निर्णय करने का अधिकार किसी अन्तर स्थित शक्ति को न देकर, अन्तः-करण मात्र पर भी न छोड़ कर, दिया है सात्विक बुद्धि को और जब बुद्धि ही मानव के कर्मों का चयन आदि करती है तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि बुद्धि को शुद्ध कैसे रखा जाए अथवा कैसी बुद्धि सात्विक कहाती है तथा उसे सात्विक बनाने का क्या उपाय है किन्तु शुद्ध, निर्मल सात्विक बुद्धि ही सदसद्विवेक कर सकती है और इसी लिए स्थित प्रज्ञ अथवा शुद्ध बुद्धि वाला व्यक्ति शुभ कर्म कर पाता है ऐसा माना गया है। इसी लिए गीता में बुद्धि की स्थिरता और उसे शुद्ध करने की आवश्यकता पर ध्यान दिया गया है। सब ही प्रकार से निष्काम कर्म कर पाने के लिए बुद्धि का सात्त्विक होना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। मन का भी अपना एक स्थान है किन्तु वह इतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि बुद्धि का। अन्तः-करण का भी यत्र तत्र वर्णन तो मिलता है किन्तु उसे भी मानव के लिए पूर्णतया नैतिक निर्णायक का स्थान नहीं दिया गया है। भारतीय आचार शास्त्र में बुद्धि से सर्वथा पृथक तो 'सदसद्विवेक शक्ति' जैसी आन्तरिक शक्ति को माना ही नहीं गया है। यदि कोई ऐसी एक शक्ति मानी जाती तो उसका सम्बन्ध मानव की अन्य सब ही शक्तियों आदि के साथ स्पष्ट करना ही पड़ता। हम देख ही चुके है कि इस प्रकार की शक्ति को जिन

योरुप के विचारकों ने माना था उन्हें उसे मानव के 'स्व' का सम्पूर्ण मानें अथवा अंश इस प्रश्न को लेकर उलझन में पड़ना ही पड़ा यह विचारणीय है कि क्या इसे मानव के सम्पूर्ण नैतिक जीवन का निर्णायक माना जा सकता है ? यदि माना जाय तो इसका यह अर्थ होगा कि मानव को सदा सर्वदा इस शक्ति की आज्ञा में ही चलना चाहिए और इसी में उसकी नैतिकता होगी अर्थात् मानव का 'स्व' उसकी सदसद्विवेक शक्ति के साथ सम्पूर्ण अथवा आंशिक रूप में लय होकर बना रहेगा। किसी भी अवस्था में इस शक्ति की आज्ञा मानने का अर्थ होगा मानव का अपने उच्च-स्व (higher-self) की आज्ञा मानना और उसकी आज्ञा होगी नैतिक विधि (moral law) इस सब का तात्पर्य यह होगा कि नैतिक विधि ही सर्वोपरि नहीं है, वही एक मात्र नैतिक मापदण्ड अथवा स्तर नहीं है, उसका निजी महत्त्व भी उतना नहीं है। उसका महत्त्व तो इतना ही है कि वह मानव के उच्च 'स्व' से सम्बन्धित है, उसकी आज्ञा है, उसका आदेश है और इस आज्ञा अथवा आदेश के पालन करने के माध्यम से वस्तुतः नैतिक उद्देश्य अथवा ध्येय है उस 'उच्च स्व' का ज्ञान—आत्म ज्ञान (self realisation)। यद्यपि यहाँ आत्म ज्ञान से हमारा तात्पर्य केवलमात्र मानव के अपने सम्पूर्ण उच्च 'स्व' के ज्ञान प्राप्त करने से ही है और इसी अर्थ में हम यहाँ 'आत्म' शब्द का भी प्रयोग कर रहे हैं अतः मानव के सम्पूर्ण नैतिक जीवन का भार केवल मात्र उसके 'अन्तर' और उसकी आज्ञा मात्र पर बिना किसी तर्क आदि के, बिना विवेक बुद्धि के पथ प्रदर्शन के छोड़ देना कुछ सरल नहीं है और स्वभावतः मानव बौद्धिक जीव होने के कारण प्रत्येक बात को विवेक बुद्धि की कसौटी पर कसना ही चाहता है, ऐसा किए बिना उसे पूर्ण सन्तोष होता भी नहीं है। इसके अतिरिक्त कोई ऐसा प्रमाणिक कारण भी नहीं है कि जिसके आधार पर मानव आँख मूँद कर अपने अन्तर की पुकार पर, उसके आदेश पर चलता ही जाए।

अध्याय १०

नैतिक ध्येय-व्यापक-श्रेय

अन्तिम ध्येय की चर्चा—इतना तो हम देख ही चुके हैं कि सुखवाद, विकासवादी सुखवाद विवेक, बुद्धिवाद और अन्त: शक्तिवाद आदि के समर्थकों ने मानव के नैतिक जीवन का अन्तिम ध्येय, नैतिक कर्म का लक्ष्य खोजने के प्रयत्न तो किये किन्तु वह नैतिक ध्येय को क्रमश: प्रथम दो वाद सुख, अथवा अधिकांश व्यक्तियों का अत्यधिक सुख सर्वजन सुख मानकर ही रह गये जब कि अन्तिम दो पक्षों के समर्थकों ने नैतिक जीवन का आधार क्रमश: विवेक बुद्धि द्वारा प्राप्त नैतिक नियमों और मानवान्तर की शक्तियों आदि को माना किन्तु इनमें से किसी ने भी मानव के नैतिक जीवन का परम पुनीत, अन्तिम ध्येय मानव मात्र का 'व्यापक-श्रेय' अथवा 'विश्व-हित' नहीं माना। अभी तक जिन नैतिक सिद्धान्तों का हम अध्ययन कर चुके हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नैतिकता के स्तर और मापदण्ड को खोजने के लिए हमें नैतिक ध्येय को देखना चाहिए, नैतिक नियमों को नहीं क्योंकि नैतिक नियम नैतिकता की, नैतिक कर्मों की रूपरेखा को तो स्पष्ट कर सकते है किन्तु उसका स्तर अथवा मापदण्ड तो दे नहीं पायेंगे और फिर किसी भी नैतिक नियम का अपने आप में ही तो महत्त्व होता नही है। उसके महत्त्व का भी तो आधार वह नैतिक ध्येय ही होता है जिसकी प्राप्ति के लिए उस नियम की आवश्यकता होती है। नैतिक ध्येय की आवश्यकता तो इसलिए पड़ेगी ही कि हमें किसी भी नियम की आवश्यकता केवल मात्र उसके अनुसार चलने के ही लिए नहीं होती है वरन् वैसा करने के लिए कोई उद्देश्य, कोई लक्ष्य होता है जिसक पूर्ति के लिए उस नियम का पालन करना पड़ता है अत: किसी भी नियम का पालन करना, भले ही वह नैतिक नियम हो अपने आप में पूर्ण अथवा अन्तिम ध्येय नहीं हो सकता है यहाँ तक कि यह नियम भले ही मानव के अन्तर की ही पुकार क्यों न हो अन्तिम ध्येय नहीं हो सकेगा। यदि यह निश्चित रूप से मान ही लिया जाये कि नैतिक

नियमों की हमें आवश्यकता तो है और मानव के नैतिक जीवन में उनका स्थान भी है और वह महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु फिर भी वह मानव के नैतिक जीवन का अन्तिम ध्येय नहीं है, केवल उस ध्येय तक पहुँचने का मार्ग, माध्यम, साधन ही है, तब फिर यह भी मानना होगा कि वह अन्तिम नैतिक ध्येय जीवन का आदर्श ही हो सकेगा। अब खोजना यह है कि वह जीवनादर्श कौन-सा हो सकता है। वस्तुतः हमारे सब ही सचेतन कर्मों में यह आकांक्षा अवश्य निहित होती है कि उस कर्म के द्वारा किसी न किसी रूप में श्रेय की उपलब्धि की जाय अर्थात् हमारे प्रत्येक सचेतन कर्म का उद्देश्य किसी न किसी रूप में, किसी न किसी अंश में श्रेय प्राप्ति की ओर बढ़ना होता ही है किन्तु श्रेय प्राप्ति अथवा श्रेय तक पहुँच पाने को कर्म का उद्देश्य अथवा लक्ष्य बना सकना तब ही सम्भव हो सकता है जब कि कर्ता ने सोच-विचार कर अपने ज्ञान और चेतना में उस श्रेय को ग्रहण किया हो, जाना-पहचाना हो और इसका अर्थ होगा कि कर्ता का 'स्व' किसी न किसी प्रकार से श्रेय को अपने भीतर ही खोज पायेगा अथवा कर्ता का आत्म-ज्ञान प्राप्त करना। यह तो हुई किसी श्रेय की बात किन्तु श्रेय को सर्वांग रूप से, सम्पूर्ण जीवन मे नैतिक गुण के रूप मे प्राप्त करने का अर्थ तो उदार अर्थों में आत्म-ज्ञान (Self-realisation) प्राप्त करना होगा, यद्यपि यहाँ मैं 'आत्म-ज्ञान' शब्द का प्रयोग ब्रह्म ज्ञान अथवा आत्म-विद्या के ज्ञान के अर्थ में नहीं कर रही हूँ और न ही यहाँ मेरा तात्पर्य आत्म-दर्शन अथवा किसी भी प्रकार की दार्शनिक पृष्ठ भूमिका से ही है। फिर भी इसका यह अर्थ अवश्य हो जायेगा कि सर्वोच्च अथवा सर्वाधिक श्रेय को ध्येय मान कर चलने का अर्थ होगा पूर्णरूपेण आत्म-ज्ञान प्राप्त करना। किन्तु ऐसा कर पाने के लिए हमे अपने 'स्व' के एक भाग को दूसरे भाग के आधीन करना पड़ेगा अर्थात् 'स्वाधीन' होना होगा। अपनी प्रवृत्तियों, वासनाओं आदि को अपने सम्पूर्ण 'स्व' के निकट अधीन भाव से रखना होगा किन्तु सम्पूर्ण 'स्व' के ज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान के अर्थों को भी यहाँ स्पष्ट तो कर ही देना चाहिए। आत्म-ज्ञान से एक ओर तो यह तात्पर्य हो सकता है कि मानव की उन भीतरी प्रवृत्तियों, गुणों आदि का ज्ञान किया जाये जिनसे कि कर्ता परिचित नहीं है किन्तु ऐसा करना तब तक सम्भव नही है जब तक कि उन गुणों आदि का विकास न किया जाये अर्थात् आत्म-विकास न किया जाये। इसका तो यह अर्थ हुआ कि आत्म-ज्ञान के लिए आत्म-विकास की आवश्यकता है और किसी एक प्रवृत्ति अथवा गुण का विकास

किसी दूसरी प्रवृत्ति अथवा गुण को पीछे रखकर अर्थात् बलिदान करके ही किया जा सकता है अर्थात् आत्म-ज्ञान (Self-realisation) के लिए आत्म बलिदान (Self-sacrifice) अथवा 'स्व' के किसी अंश के बलिदान की आवश्यकता पड़ती ही है और ऐसा कर पाने के लिए मानव अपने अपेक्षाकृत निम्न स्व (Lower self) का उच्च स्व (Higher self) के लिए बलिदान करना चाहता है अथवा निम्न प्रवृत्तियों आदि को उच्च प्रवृत्तियो के अधीन करके ही रखना चाहता है। मानव की किन्हीं भी प्रवृत्तियों को नष्ट कर देना न तो ठीक ही है और न सम्भव ही किन्तु उन्हे उच्च 'स्व' के अधीन कर देना, संयमित रखना उतना कठिन नहीं है। सम्भवतः इसी दृष्टि से गीता मे मन द्वारा इन्द्रियों के आकलन करने की शिक्षा दी गई है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ भग० गी० ३.७ ॥

अर्थात् उसकी योग्यता विशेष है जो कि मन से इन्द्रियों का संयम करके, कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्त बुद्धि से कर्मयोग करता है और सम्भवतः इसीलिए मन को इन्द्रियों से अधिक महत्त्व भी दिया गया है। बुद्धि को मन की अपेक्षा अधिक उच्च माना गया है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ भग० गी० ३-४२॥

अर्थात् इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों की अपेक्षा परे हैं, इन्द्रियों के परे मन है, मन से भी परे बुद्धि है और जो बुद्धि से भी परे है वह आत्मा है। आध्यात्मिक दृष्टि से समझी जानेवाली आत्मा की बात यदि छोड़ भी दी जाये तो भी यह तो किसी एक सीमा तक मानना ही पड़ता है कि मानव के भीतर ही कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी होती है जिन्हें निम्न माना जाता है और अन्य प्रवृत्तियों को अपेक्षाकृत अधिक उच्च भी माना जाता है। अतः निम्न प्रवृत्तियों को पूर्णतया उच्च प्रवृत्तियों के आधीन कर पाना मानव के लिए नैतिक दृष्टि से आवश्यक है किन्तु ऐसा कर पाने के लिए हमे मानव के 'स्व' के निर्वाण और उसकी मानसिक और भावात्मक आवश्यकताओं की बात भी तो सोचनी पड़ेगी ही क्योंकि मानव कर्ता अथवा मानव 'स्व' सर्वथा एकाकी अहंवादी ही होता हो ऐसी बात नहीं है। मानव तो एक समाज का सदस्य भी होता है और उसके कर्तृत्व की सीमाएँ उसके एकाकी व्यक्तित्व तक ही सीमित न रहकर उसके आसपास के वातावरण अथवा समाज तक भी तो जाती ही है।

मानव के भीतर—स्वार्थ, परार्थ—मानव को एकबारगी समाज से पृथक् करके उसके एकान्त व्यक्तित्व को अथवा उसे एकाकी रूप में तो देखा भी नहीं जा सकता है। मानव सामाजिक जीव तो है ही और नैतिक दृष्टि से ही यद्यपि उसके कर्तृत्व का आधार उसका व्यक्तित्व ही है फिर भी उस कर्तृत्व के आधार 'कर्ता' अथवा मानव 'स्व' को तो एकबारगी एकाकी करके नहीं देखा जा सकता है। यद्यपि कुछ काल पूर्व तक कुछ विचारक मानव को स्वभावतः स्वार्थी (egoistic) मानने और मनवाने का प्रयत्न करते रहे फिर भी दूसरी ओर ऐसे भी विचारक दिखाई देते ही रहे जो कि उसके स्वभाव के स्वार्थपूर्ण अंश के साथ ही साथ उसमें परार्थ (altruistic) की प्रवृत्तियाँ भी देखते, पाते रहे। यदि मानव स्वरक्षा, अहंकार, स्वमहत्त्व आदि प्रवृत्तियाँ अपने भीतर पाता है तो उसमें अन्य व्यक्तियों से प्रेम करने, सहानुभूति करने की प्रवृत्तियाँ भी तो होती ही हैं। हम मानव के भीतर ही उसकी स्वार्थ और परार्थ प्रवृत्तियों में भेद कर पाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने का यह अर्थ होता है कि हम मानव की इच्छाओं, उसकी प्रवृत्तियों, उसके अन्तर को दो भागों में विभक्त कर देते हैं। इनमें से एक होता है स्वार्थ और दूसरा परार्थ। मानव के अधिकारों की चर्चा करते हुए भी हम उसे 'व्यक्ति' और 'सामाजिक जीव' इन दो रूपों मे लेने का प्रयत्न करते हैं। मानव के व्यक्तिगत अधिकार, उसके स्वातन्त्र्य, राष्ट्र के अधिकार आदि की चर्चा करते हुए हम दूर तक चले जाते हैं। यही नहीं, व्यक्ति और राष्ट्र के अधिकारों की चर्चा भी इस प्रकार की जाती है मानो मानव के दो व्यक्तित्वों मे भी कोई मौलिक भेद है। अब प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार के भेदों का आधार स्वयं मानव के विभिन्न व्यक्तित्व है।

व्यक्ति और समाज—क्या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव को 'व्यक्ति' और 'सामाजिक व्यक्ति' करके बाँटा जा सकता है? क्या व्यक्ति के भीतर 'स्वार्थी' और 'परार्थी' दो विभिन्न व्यक्तियो का, 'स्व' का निवास है? क्या उसकी स्वार्थपूर्ण और परार्थपूर्ण इच्छाएँ भिन्न-भिन्न हैं और उनमें भेद किया जा सकता है? यदि इन दोनों के बीच मौलिक भेद मान लिया जाये तो इसका यह अर्थ होना चाहिए कि व्यक्ति की स्वार्थ और परार्थ प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं और यही स्वाभाविक भी है किन्तु इन दोनों के बीच क्या हम भेद कर सकते हैं? सम्भवतः स्वार्थ का सर्वाधिक स्पष्ट उदाहरण होगा आत्म-प्रेम अथवा स्वमोह अथवा अहं के प्रति प्रेम किन्तु क्या मानव कभी अपने 'स्व' को एकान्त भाव से प्रेम करता

है ? क्या वह अपने निजी अस्तित्व को अन्य सब ही व्यक्तियों से पृथक् करके रख पाता है ? क्या वह ऐसा करने से सुख प्राप्त करता है ? बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने यह तो कहा है :—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति ......

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति॥' (बृ० २. ४. ४. ५)

कि हम स्त्री-पुत्र आदि सबको इसीलिए प्रेम करते हैं कि वह हमारे हैं अथवा हम अन्य व्यक्तियों को इसलिए प्रेम करते हैं कि वह इस व्यक्ति के, कर्ता के, मेरे 'स्व' से सम्बन्धित है किन्तु इसका अर्थ भी तो बहुत कुछ यही हो जायेगा कि उन सबके अस्तित्व से पृथक् होकर इस 'स्व' का अस्तित्व भी तो प्रिय न रह जायगा। हम सब ही सम्बन्धित व्यक्तियों आदि को लेकर ही तो अपने आप की भी कल्पना कर पाते है। सबसे पृथक् करके देखने पर तो सम्भवतः हमें अपना 'अहं' 'स्व' भी प्रिय न जान पड़ेगा। अतः हमारे स्वार्थ में भी तो किसी अंश तक दूसरे लोगों का भी स्वार्थ निहित रहता है क्योंकि एकबारगी अन्य व्यक्तियों से पृथक् हमारे 'स्व' का स्वरूप निर्धारित करना भी हमें स्वयं ही कठिन जान पड़ता है और अन्य सब ही व्यक्तियों के सुख, उनके हितादि से परे अपने सुख और हित की कल्पना करना भी कठिन हो जाता है। इसी प्रकार दूसरी ओर परार्थ भी अनिश्चित नहीं होता है। परार्थ में भी तो किसी अश तक स्वार्थ सम्मिलित रहता ही है क्योंकि हम परार्थ चिन्तन तब ही तो कर पाते हैं, जब कि उस पर स्वार्थ को हम अपने ही स्वार्थ में किसी एक सीमा तक सम्मिलित कर लेते हैं। यदि मैं अपने किसी एक परिचित का हित चिन्तन करती हूँ तो इसीलिए तो कि यह मेरे जीवनादर्श के अन्तर्गत आता है और उस जीवनादर्श पर चलना मेरा निजी श्रेय है। मैं मार्ग में चलते हुए किसी एक दीन-हीन व्यक्ति के हित की साधना करने लगती हूँ। क्यों ? इसलिए नहीं कि मेरा, मेरे निजी श्रेय का, हित का उस कार्य से सर्वथा कोई संवन्ध है ही नहीं वरन् इसी लिए तो कि वह मेरे जीवनादर्श के अनुकूल है अतः मेरे निजी श्रेय मे सम्मिलित हो जाता है अतः न तो स्वार्थ ही एक बारगी एकान्त भाव से शुद्ध स्वार्थ होता है और न परार्थ ही एकबारगी अमिश्रित परार्थ होता है। ऐसी दशा में इन दोनों मानव प्रवृत्तियों के वीच भेद खड़ा करना जॅचता नहीं है। यही नहीं, मूते रूप में स्वार्थ और परार्थ मानव प्रवृत्तियों के बीच भेद करना भी कठिन हो जाता है। परसेवा परार्थ कर्म माना जाता है किन्तु उसमें कर्ता का घोर स्वार्थ नहीं है यह कैसे कहा

जा सकता है। मैं किसी दुःखी को देखती हूँ और मेरा हृदय उसके प्रति संवेदना से भर जाता है, उसका दुःख मेरे नेत्र में जल और हृदय में अपार वेदना भर देता है और मैं उसकी सेवा करने लगती हूँ इसलिए नहीं कि मैं उसके कष्ट को घटाना चाहती हूँ अथवा उसका हित करना चाहती हूँ वरन् इसलिए कि मैं उसकी दशा देख कर उत्पन्न हुई अपनी वेदना कम करना चाहती हूँ, अपने दुःख से मुक्ति चाहती हूँ। ऐसी अवस्था में मेरी परसेवा तो घोर स्वार्थ हुई और इसी प्रकार स्वार्थमूलक, स्वार्थजन्य प्रवृत्तियाँ भी कभी कभी परार्थ की सीमा को पार कर जाती हैं। वह व्यक्ति जो कि अपने देश के असंख्य प्राणियों की सेवा में प्राण-पण से जुट जाता है केवल इसी भावना से कि वह उसके हैं, उसके देश-वासी हैं, उनकी सेवा करके वह अपने देश की, अपनी ही सेवा तो कर रहा है। स्वार्थमूलक अर्थात् निजी सम्वन्ध से अपने 'स्व' से सम्वन्धित होने के कारण ही तो वह एक देश विशेष के मानवों की सेवा कर रहा है जब कि उस देश के अतिरिक्त वह अन्य कहीं के भी मानवों की सेवा नहीं करना चाहता है क्योंकि वह परार्थ हो जायेगा। वह इस प्रकार के स्वार्थ को लेकर भी तो परार्थ के क्षेत्र में दूर तक पहुँच ही गया है अतः एक ही व्यक्ति में स्वार्थ और परार्थ को भिन्न करना, उनमें भेद करके देख पाना सम्भव नहीं है।

व्यक्ति और समाजके परस्पर संवन्धों, अधिकारों आदि की चर्चा करते हुए भी हम व्यक्ति की प्रवृत्तियों को उसके हित की दृष्टि से स्वार्थ और परार्थ में बाँट कर नहीं देख पाते है। वस्तुतः इस प्रकार का भेद करना मूलतः ठीक नहीं है। यह भेद किसी एक सीमा तक कृत्रिम है मौलिक नहीं। राजनीतिक अधिकारों तक की चर्चा करते हुए जिन व्यक्तिगत नागरिक अधिकारों की ओर संकेत किया जाता है क्या वह एकबारगी 'व्यक्ति के हित' की ही वात लेकर चलते हैं? क्या वहाँ भी व्यक्ति के श्रेय, उसके हित को समष्टि के श्रेय, सार्वजनिक हित से एकवारगी पृथक् करके देखा जा सकता है? क्या व्यक्ति का श्रेय, उसका हित, उसके अधिकारों का आधार 'समाज' से भिन्न किसी अन्य धरातल को लेकर चलता है? वस्तुतः बालक तो जन्म भी पूर्णतया 'एकाकी' रूप में नहीं लेता है। जन्म लेते ही जो उसे सामाजिक, पैतृक सांस्कृतिक संपत्ति उत्तराधिकार में मिलती है वह उसे एकाकी कहाँ रहने देती है? समाज के बीच पनपने, विकासित होनेवाले उसके व्यक्तित्व, उसके 'स्व' से भिन्न 'स्व' उसके पास होता ही कहाँ है? सद्यजात बालक का 'मनस' लॉक की श्वेत टिकिया, श्वेत पत्र

(tabula rasa) भी कहाँ है जिस पर सब कुछ प्रतिछबि के ही रूप में अनुभवों के द्वारा लिखा जायेगा। सब ही कुछ, यहाँ तक कि उसे अपने व्यक्तिगत अधिकार भी तो इस सामाजिक, सांस्कृतिक सम्पत्ति के ही आधार पर मिलते हैं। आज के युग के विचारक यह समझ गये हैं कि 'व्यक्ति' को एकबारगी सब ही प्रभावों से नितान्त मुक्त 'व्यक्ति' के रूप में देखा ही नहीं जा सकता है। अब तक तो यह माना जा चुका है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अपने सामाजिक वातावरण पर आश्रित रहता है।

मानव को अपने अधिकारों का ज्ञान भी तो शिक्षा, सामाजिक चेतना, राजनीतिक जागरुकता आदि के अनुसार ही होता है और इस प्रकार के अधिकार उसे समाज के विरुद्ध तो कुछ शक्ति दे नहीं देते हैं। यूँ व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को लिये दिये भी तो 'समाज' पर आश्रित होता ही है अतः एकान्त रूप से 'स्व' और 'मम' मान कर तो सम्भवतः व्यक्ति में कुछ भी नहीं होता है। यहाँ तक कि जिन विचारों को लेकर कोई भी व्यक्ति अपनी विचार-धारा एवं अपने सिद्धान्तों के मौलिक होने का दावा करता है वे भी केवल मात्र उसी के नहीं होते हैं। उन पर भी तो उस समाज की छाप रहती ही है जिसमें कि वह व्यक्ति जन्म लेता है। अतः व्यक्ति का व्यक्तित्व, उसके विचार, उसके सिद्धान्त आदि सब ही कुछ तो उसे उस सामाजिक वातावरण एवं संस्कृति से प्राप्त होता है जिसमें कि वह जन्म लेता है अतः 'स्व' और 'पर', 'स्वार्थ' और 'परार्थ' अर्थात् मानव के 'निजी' और 'अन्य व्यक्ति से सम्बन्धित' हित-सम्बन्धी विचारों एवं भेदों को कृत्रिम ही कहना पड़ता है क्योंकि मानव तो अपने व्यक्तित्व के लिए पूर्णतया समाज अर्थात् अन्य व्यक्ति अथवा अपने पूर्वजों से लेकर समकालीन व्यक्तियों तथा उनकी सांस्कृतिक देन आदि पर आश्रित होता ही है अतः वह अपने स्वहित को परहित से सर्वथा पृथक्, सर्वथा भिन्न करके रख ही कैसे सकता है। यह मानना ही पड़ता है कि व्यक्ति का 'व्यक्तित्व' समाज से, पूर्ण वातावरण से पृथक् रखकर देखा ही नहीं जा सकता है। उसे ठीक से समझने के लिए तो यह आवश्यक होगा कि उसे 'पूर्ण' में समाज में उसके यथोचित स्थान पर रखकर ही देखा जाये। वस्तुतः व्यक्ति का व्यक्तित्व तो पूर्ण समाज में उसके निर्धारित स्थान को देखने-समझने से ही ठीक ढंग से जाना-समझा जा सकता है। वस्तुतः पूर्ण इकाई के अमूर्त रूप में अपनी पूर्णता को लिये दिये रहता है और इकाई पूर्णरूप मे अपने निश्चित स्थान को लेकर उसकी

पूर्ति के लिए आवश्यक रूप से रहती है अतः इकाई का, पूर्ण का परस्पर घनिष्ठ और अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध होता है। व्यक्ति समाज का अंश होता है, अंग होता है। व्यक्तियों को लेकर ही समाज बनता है अतः व्यक्ति को समाज से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता है और समाज प्रत्येक व्यक्ति में अमूर्त रूप में, विचार रूप में रहता भी है। यही कारण है कि व्यक्ति, समाज के साथ अपने व्यक्तित्व को मिला कर देखता है, देख पाता है और सम्भवतः देखना चाहता भी है। व्यक्ति समाज का ऐसा अंग है जो कि उससे पृथक् नहीं किया जा सकता है और समाज व्यक्तियों का ही तो समूह है किन्तु वह व्यक्ति समूह मात्र ही नही है उससे कुछ अधिक भी होता है क्योंकि वह तो अतीत के व्यक्ति और उनके श्रम-विचार आदि का योगदान भी होता है तथा उन सबके फलस्वरूप उसे एक ऐसी सांस्कृतिक सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है जो कि उस समाज की विशेषता होती है। प्राचीन यूनानी विचार-धारा में तो यह भी माना जाता था कि नैतिक गुणों का विकास भी समाज के हित में कार्य करके ही किया जा सकता है। अरस्तु तो मानव को सामाजिक प्राणी मानते ही है और उनके मतानुसार तो आदर्श-'स्व' (Ideal self) की प्राप्ति समाज में ही की जा सकती है अर्थात् व्यक्ति समाज मे ही अपने आदर्श तक पहुँच पाने का पथ खोज पाता है। मिल को तो यह मानना भी कठिन ही जान पड़ता था कि कभी भी कोई व्यक्ति अपने आप को उस समाज से पृथक् करके देख पाता है जिसमें कि उसका जन्म हुआ हो। इसी आधार को लेकर कुछ विचारकों ने समाज को एकजीवी (Organism) के रूप में समझने का प्रयत्न किया है। उसकी जीवोपम एकता (Organic unity) को लेकर तो किसी न किसी रूप मे म्यूरहैड, मूर, हेगल, ब्रेडले आदि विद्वानों ने भी चर्चा की है। ब्रेडले का तो मत है कि किसी भी व्यक्ति का नैतिक जीवन उसका समाज में जो भी कुछ स्थान होता है उसी पर निर्भर रहता है और उसी स्थान से सम्बन्धित कर्तव्यों का पालन करके वह अपने नैतिक जीवन का निर्माण करता है। गीता में भी 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' और 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः' (भग० गी० ३.३५, १८. ४५) का आधार यही है कि व्यक्ति को समाज में निश्चित अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। ऐसी अवस्था में यह तो निश्चित ही है कि अपूर्ण जीव को, मानव को अपने विकास के लिए किसी एक अपनी अपेक्षा अधिक पूर्ण की आवश्यकता होती है और समाज उसकी उस आवश्यकता

की पूर्ति करता है। अतः किसी भी व्यक्ति के भीतर उसके व्यक्तित्व और सामाजिक प्रवृत्तियों में वास्तविक संघर्ष नहीं होता है क्योंकि सामाजिक, सार्वजनिक हित में एक व्यक्ति का हित और सब ही व्यक्तियों का हित, दोनों ही समा जाते है। व्यक्ति अपना हित साधन करके भी तो समाज के ही एक सदस्य का हित साधन करता है और समाज के अन्य सदस्यों का हित साधन करके भी वह समाज का हित साधन करता है अतः 'हित साधन' 'श्रेय की प्राप्ति' मात्र ही उसे कोरे अपने स्वार्थ-चिन्तन से परे ले जाती है। सम्भवतः इसी भाव को लेकर ड्यूई कर्म-जगत् को एक ऐसा जगत् मानते है जिसका कि एक छोर है व्यक्ति और दूसरा समष्टि, मानव मात्र। इस दृष्टि से देखने पर मानव-जीवन भी तो एकागी नहीं रह जाता है। नैतिकता को केवल मात्र व्यक्तिगत अथवा सामाजिक कहना वास्तविकता से परे ले जाना है क्योंकि 'मानव-श्रेय' न तो केवल मात्र व्यक्तिगत ही है और न समाजगत ही। ब्रेडले के मतानुसार व्यक्ति अथवा कर्ता व्यक्तिगत कर्तव्यों और समाजगत कर्तव्यों दोनों का पालन करने के लिए एक-सा उत्तरदायी होता है किन्तु वह समाज में ही रहकर तो अपने कर्तव्यों का पालन कर पाता है। हेगल भी एक सीमा तक ऐसा ही मत रखते है। नैतिक पथ-प्रदर्शकों अथवा महान् सुधारकों के अतिरिक्त अन्य सब ही व्यक्तियों के लिए तो उनके विचार मे 'महाजनो येन गतः सपन्थाः' (म० भा० व० प० ३१२, ११५) की नीति ही उचित है। इसका तात्पर्य तो यही है कि समाज में मान्य नैतिक नियमों के अनुसार ही चला जाये। यद्यपि राशडाल तो समाज को सदा सर्वदा नैतिक क्षेत्र में अन्तिम शब्द मानने के पक्ष में नहीं है। प्रारम्भिक अवस्था में तो समाज स्वीकृत नियमो पर चलना ही उचित है किन्तु उससे आगे बढ़ कर तो हमे स्वयं ही अपना नैतिक पथ खोजने और निर्धारित करने की आवश्यकता पड़ती है और वही वस्तुतः मानव की स्वाधीनता का अर्थ भी है। हम सामाजिक जीव भी है और विवेकी भी। व्यक्ति का आदर्श तो पूर्ण स्वाधीनता होना चाहिए किन्तु वह तो मानव केवल मात्र एकाकी व्यक्ति प्रयत्न करके नहीं प्राप्त कर सकता है. अतः सामाजिक नियमों के प्रति आस्था और स्वाधीनता तथा इनमे परस्पर सम्बन्ध भी रहता ही है। व्यक्ति को समाज बनाता है और फिर व्यक्ति समाज के निर्माण में योगदान देता है। समाज व्यक्ति को साधन-सुविधाएँ और अवसर देता है किन्तु कोई भी समाज पूर्ण तो है नहीं अतः व्यक्ति को अपनी विचार-धाराओं के द्वारा उसे निरन्तर कुछ न कुछ देते ही रहना पड़ता है। नैतिक

जीवन व्यक्तिगत तो है ही सामाजिक भी है, राष्ट्रीय भी है और विश्व-व्यापी भी।

इतना तो निश्चित ही है कि मानव के लिए किसी भी अवस्था में केवल मात्र निजी, अपने व्यक्तिगत श्रेय को ही उद्देश्य, लक्ष्य मान कर चलना असंभव है। सम्भवतः ऐसा कोई भी, किसी का भी 'स्वार्थ' नहीं हो सकता है जिसमें परार्थ की छाया भी न हो। मानव-प्रकृति के इस सत्य ने, वास्तविकता के इस तथ्य ने ही स्पेन्सर को यह मानने के लिए प्रेरणा दी कि परार्थ स्वार्थ का एक आवश्यक अंश है। तव ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास परिवार, नगर, देश, सम्प्रदाय आदि का सदस्य होकर ही कर पाता है और इन सबमे से होकर ही उसका वह 'स्व' विकसित होता है जो कि उसके नैतिक कृत्यों का उत्तरदायी भी होता है और निर्णायक, पथ-प्रदर्शक भी। मानव कर्ता व्यापक हित, व्यापक श्रेय को इसीलिए तो लक्ष्य बनाकर चलता है कि वह उसके व्यक्तिगत हित, व्यक्तिगत श्रेय को लिये दिये ही उसके सम्मुख आता है। यदि हम मानते हैं कि पूर्ण 'स्वार्थ' की कल्पना असम्भव है तो फिर हम स्वार्थ कहते किसे है। वस्तुतः पूर्ण स्वार्थ, परार्थ से एकबारगी पृथक् करके देखना तो मनोवैज्ञानिक रूप से असम्भव है किन्तु स्वार्थ का अर्थ यह अवश्य है कि कर्ता अपने 'स्व' की सीमाओं को अपेक्षाकृत अत्यन्त सीमित और संकुचित कर लेता है। वह व्यक्ति जो कि विश्व भर के कल्याण के लिए कष्ट सहन करता है, परार्थी कहलाता है और वह व्यक्ति जो कि अपने ही परिवार के सुख-सुविधा के लिए पड़ोसियों के कष्ट की चिन्ता नहीं करता, स्वार्थी कहलाता है। इसका क्या यह स्पष्ट अर्थ नहीं है कि प्रथम व्यक्ति अपने 'स्व' की सीमाएँ 'वसुधैव कुटम्बकम्' कहकर अत्यन्त विस्तृत और उदार बना लेता है भले ही वह तात्त्विक दृष्टि से 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ. ४. ४. १६) अथवा 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ. ४. ५) 'सर्वम् खलु इदं ब्रह्म' अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' अथवा 'तत्वमसि' (ब्रह्मसूत्र. शं॰ भा) मानकर की जाए अथवा भक्ति के प्राबल्य में 'सर्वभूतस्थमात्मा ने सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥' (भग० गी० ६. २६) अथवा 'यो मां पश्यतिसर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति (भग० गी० ६. ३०) अथवा 'सर्व भूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः' (भग० गी० ६. ३१) अथवा 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (भग० गी० १८. ६१) मान कर की जाये अथवा समाज मे कर्म करते हुए ही कर्मयोग के द्वारा की जाये। दूसरा व्यक्ति अपने 'स्व' को अपेक्षाकृत

संकुचित सीमाओं में ही घिरा रहने देता है किन्तु दूसरे व्यक्ति का भी 'स्वयं' कुछ अन्य व्यक्तियों को तो अपनी सीमाओं के भीतर ले ही लेता है। एकबारगी, एकान्त, एकाकी नहीं होता है। उतना अधिक एकाकी होकर तो मानव जीवित रहने की भी इच्छा नहीं कर पाता है अतः सिकी एक सीमा तक तो समाज को मानव की नैतिक उन्नति के लिए आवश्यक मानना ही पड़ता है और सम्भवतः इसी उद्देश्य से अपने अतिरिक्त अन्य मानवों को भी केवल मात्र साधन, माध्यम के रूप में उपयोग में लाना अनैतिक माना जाता है। मानवता का महत्त्व, मानव को साधन के अतिरिक्त साध्य के, ध्येय के रूप में भी मानना इसी प्रकार की भावना का द्योतक तो है किन्तु दूसरी ओर इसका यह भी अर्थ नहीं होता है कि 'श्रेय' केवल मात्र सामाजिक ही होता है। यद्यपि समाज के भीतर रहने और फलने-फूलनेवाली संस्थाएँ हमें 'श्रेय' के रूप से परिचित कराती हैं। वे व्यक्ति की इच्छा को केन्द्रित करती है और विभिन्न व्यक्तियों की व्यक्तिगत इच्छाओं को किसी सीमा तक एक व्यापक मानवीय ध्येय, उद्देश्य के रूप में संग्रहीत करती हैं, केन्द्रित करती है। सामाजिक संस्थाएं व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन को छूती हैं, प्रभावित करती है और उसमें 'श्रेय' की एक रूप-रेखा सी तो अवश्य ही खींच देती है और व्यक्ति इन सामाजिक संस्थाओं के ही द्वारा 'श्रेय' को समझता है तथा स्वयं भी समझ-बूझ-कर इन संस्थाओं की बिखरी हुई इच्छाओं को एकत्रित करके व्यापक 'श्रेय' के रूप में संग्रहीत करने में सहायता देता है। यही नहीं, यह संस्थाएँ व्यक्ति के विचारों की गहनता और गम्भीरता के लिए भी उत्तरदायी होती है।

मानव की स्वाधीनता—यदि समाज मानव के नैतिक जीवन के लिए इतना आवश्यक है, यदि मानव केवल मात्र एक कर्ता, एक व्यक्ति नहीं है वरन् उससे कुछ अधिक है, वह अपने वातावरण से प्रभावित कर्ता है, तो हम उसे कहाँ तक स्वाधीन मान सकते है यह एक विचारणीय प्रश्न है। यदि वह पूर्णरूपेण स्वाधीन नहीं है तो फिर उसे अपने कर्म का कर्ता कैसे माना जा सकता है, उसके ऊपर उसके कृत्यों का उत्तरदायित्त्व कहाँ तक लादा जा सकता है यह तो सोचना ही पड़ेगा। यद्यपि वायल के शब्दों मे यह तो एक कभी भी समाप्त न होनेवाला विवाद है, फिर भी इस विवाद में पड़ने से पूर्व यह देख लेना तो आवश्यक ही है कि स्वाधीनता से हम क्या तात्पर्य लेते है। इच्छा का तो अर्थ ही यही है कि कुछ सम्भव कर्म-सम्बन्धी कल्पनाओं मे से एक को चुनना। इससे यह

तो जान पड़ता ही है कि स्वाधीनता के विना इच्छा का कुछ मूल्य ही नहीं रह जाता है अतः स्वाधीनता का अर्थ इच्छा का बाह्य-प्रभावों से मुक्त होना तो होना ही चाहिए। मानव की नैतिक स्वाधीनता का अर्थ उसका अनुचित कार्य करने की प्रवृत्ति से मुक्त होना भी हो सकता है और एक निम्न मानसिक स्थिति अथवा मानसिक प्रवृत्ति से दूसरी उच्च मानसिक स्थिति अथवा प्रवृत्ति की ओर बढ़ने की स्वतन्त्रता भी हो सकती है। अर्थ इनमे से कोई भी हो, कर्ता की स्वाधीनता के विना नैतिकता का कोई अर्थ रह ही नहीं जाता है अतः किसी न किसी रूप मे कर्ता की स्वाधीनता मानकर ही तो ऐसा करना चाहिए, कहा जा सकता है। यदि कर्ता मे किसी कर्म को करने और न करने दोनों ही प्रकार की क्षमता हो तब ही यह कहा जा सकता है कि उसे ऐसा करना चाहिए अथवा उसने यह उचित कर्म किया। तब ही एक प्रकार से कर्म चयन करने पर तत्सम्बन्धी उत्तरदायित्व भी उस पर लादा जा सकता है। अन्यथा तो किसी भी को 'ऐसा करना चाहिए' अथवा 'उसने यह उचित अथवा अनुचित किया' का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। प्राकृतिक शक्तियों मे न करने की क्षमता नहीं है अतः उनके किसी कृत्य का नैतिक दृष्टि से मूल्यांकन नहीं किया जा सकता किन्तु मानव के सम्बन्ध मे ऐसा होता है। अब देखना यह है कि मानव को कहाँ तक कर्म का चयन करने की स्वाधीनता है।

कर्ता वातावरण के, परिस्थितियों के आधीन भी है और स्वतन्त्र भी—सुकरात तो मानव की स्वाधीनता का केवल इतना ही अर्थ मानते है कि वह सत्य का ज्ञान करने के लिए स्वाधीन है किन्तु जान-बूझकर, उचित का ज्ञान होते हुए मानव अनुचित कर सकता ही नही है। उनके मतानुसार कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से, जानते हुए अनुचित नहीं करता है। अरस्तु मानव के कार्यारम्भ करने मात्र मे ही स्वाधीनता मानते हैं। मानव-कर्म का चयन करने, उसके आरम्भ करने मात्र के ही लिए स्वाधीन है। ह्यूम तो चरित्र को इन्द्रियजन्य अनुभवों का समूह मात्र ही मानते है और किसी एक सीमा तक मिल भी उनसे सहमत हैं। रावर्ट ओवन तो यहाँ तक मानते है कि वास्तव मे मानव को कर्म करने की स्वाधीनता नहीं है। वह अपनी परिस्थितियों के द्वारा बँधा है।

वस्तुतः मानव को अपनी अनेकानेक इच्छाओं मे से एक को चुनकर उसके आश्रय में चलते हुए किसी एक कर्म का चयन करना होता है।

सिजविक के साथ हमें सहमत होना ही पड़ता है कि मानव कर्ता का चयन बहुत दूर तक उसके चरित्र के आधार पर होता है और उसके चरित्र में वह इच्छा-जगत, इच्छा-समूह आता है जिसके अन्तर्गत पाई जानेवाली इच्छाओं से प्रभावित होकर ही कर्ता अपने कर्म का चयन करता है। इसके अतिरिक्त उसके चुनाव पर बाह्य और आन्तरिक परिस्थितियों का भी प्रभाव होता है। उसकी मानसिक स्थिति और लौकिक तथा सामाजिक स्थिति आदि भी उसके चुनाव को प्रभावित करती हैं। कर्तव्य-ज्ञान और तथ्यों-सम्बन्धी ज्ञान तथा सामाजिक वातावरण आदि के प्रभावों से भी कर्ता मुक्त नहीं होता है। वस्तुतः कोई भी कर्ता कुछ लगभग एक से मूल्य की सम्भावनाओं के बीच ही अपने चयन का क्षेत्र पाता है और यह क्षेत्र हमारी इच्छाओं तक ही सीमित रहता है और हमारी इच्छाएँ वैसी ही तो होंगी जैसी कि वे हमारे चरित्र का अंश बन सकती हैं अर्थात् जैसे कि हम स्वयं होंगे, जैसा कि हमारा नैतिक स्तर होगा, हमारी नैतिक विचार-धाराएँ होंगी। यह तो सत्य है कि हमारा कर्म-सम्बन्धी चुनाव हमारे चरित्र, सामाजिक, मानसिक परिस्थितियों आदि से प्रभावित होता है किन्तु क्या यह प्रभाव इतना अधिक होता है कि कर्ता इससे मुक्त रहकर अपने लिए कर्म का चयन कर ही नहीं पाता है? सिजविक के मतानुसार तो स्वाधीनता के समर्थक और विरोधी दोनों की ही विपत्ति का अन्त नहीं है। वस्तुतः चुनाव के क्षण तो कर्ता चुनाव करने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होता है क्योंकि उस समय तो उसे अपने चरित्र आदि से प्रभावित होना पड़ता है किन्तु जो हमें करना चाहिए उसे चुन सकने के लिए तो मानव स्वतन्त्र हो ही सकता है अर्थात् वह अपने आस-पास के विश्व को, अपनी परिस्थितियों आदि को समझकर और वस्तुओं के विश्व के यथार्थ मूल्य को समझ कर तथा ग्रहण करके अपने चरित्र का विकास करने के लिए तो स्वतन्त्र है ही। वह 'इच्छाओं का समूह' जो कि कर्ता के कर्म-चयन को प्रभावित करता है कर्ता की अपनी ही तो सृष्टि है अतः कर्ता उस सृष्टि के विकास करने के लिए तो स्वतन्त्र है। यद्यपि चरित्र-निर्माण कर चुकने के पश्चात् वह उसके अधीन-ही रहता है किन्तु चरित्र का निर्माता वह स्वयं है अतः अपने चरित्र के विकास करने की स्वाधीनता तो उसे है ही। इसी दृष्टि से ग्रीन यह मानते हैं कि हम स्वयं अपने लिए मार्ग चुनते है। वस्तुतः 'स्व' स्वयं अपने निकट एक 'श्रेय' को उपस्थित करता है। वह रूप जिसमें कि 'स्व' उस श्रेय को अपने निकट उपस्थित करता है उन अतीत के सब ही रूपों से

प्रभावित होता है जो कि 'स्व' अपने निकट उपस्थित किये होते हैं। यह वे कालविहीन कर्म होते हैं जिनमें कि 'स्व' अपने आप को किन्हीं इच्छाओं के साथ एकाकार कर बैठता है और इस प्रकार एकाकार होना ही तो कर्म-प्रेरक होता है। यद्यपि वह 'स्व' जो कि कर्ता होता है यदि 'ईश्वर' अथवा किसी अन्य विश्वात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित कर ले तो फिर व्यक्तिगत नैतिक स्वाधीनता का प्रश्न ही नहीं आता किन्तु साधारणतया व्यक्ति की स्वाधीनता, उसके पद खोजने की स्वाधीनता, उसकी चरित्र के विकास-सम्बन्धी स्वाधीनता ही होती है। प्रोफेसर वरौड भौतिक विज्ञान से सम्बन्धित तर्कों का आधार लेकर इस समस्या का हल करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु वह किसी परिस्थिति के मुख्य आधारों (broad features) का ही प्रभावित अथवा निश्चित होना (determination) स्वीकार करते हैं किन्तु उसके विस्तार और तत्सम्बन्धी अवस्थाओं में इसकी आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते हैं। वस्तुतः मानव स्वभाव के, उसकी बुद्धि के तीन स्वरूपों को, स्तरों को तो हमे स्वीकार करना ही पड़ता है। वे हैं तामसी, राजसी और सात्विक। (Impulsive or Lower Self, Habitual or Character Self, Ideal or Rational Self.)

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीताश्च बुद्धि : सा पार्थ तामसी ॥

(भग० गी० १८-३२)

अर्थात् अकर्तव्य अथवा अधर्म को ही कर्तव्य अथवा धर्म माननेवाली, सब बातों का उलटा निर्णय करनेवाली बुद्धि तामसी होती है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

(भग० गी० १८-३१)

अर्थात् जो बुद्धि कर्तव्य और अकर्तव्य, धर्म, अधर्म का निश्चय नहीं कर पाती और सदा भूल ही करती है वह बुद्धि राजसी होती है।

'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥'

(भग० गी० १८-२०)

अर्थात् सब प्राणियों में एक ही अविभक्त तत्त्व है इस प्रकार का सात्त्विक ज्ञान रखनेवाली बुद्धि सात्त्विक तो होगी ही।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥

(भग० गी० १८-३०)

अर्थात् वह बुद्धि जो कि कर्तव्य और अकर्तव्य, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बन्धन और मोक्षदायक कर्मों में भेद कर सकती है, क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए यह जानती है वह सात्विक बुद्धि है।

सात्विक बुद्धिवाले पुरुष को ही स्वाधीन माना जा सकता है। जो बुद्धि कर्म और अकर्म मे भेद ही नहीं कर पाती उसे स्वाधीन कैसे कहा जा सकता है। जो बुद्धि सुख दुःख आदि भावनाओं, परिस्थितियों आदि से प्रभावित होकर ही कर्म का चयन करती है वह स्वाधीन तो हो ही नहीं सकती है अतः यदि मानव बाह्य तथा ऐसे प्रभावों से प्रभावित होकर कर्म चयन करता है जिन पर कि उसका कुछ भी अधिकार नहीं है तब तो उसे स्वाधीन भी नहीं माना जा सकता है और कर्म का उत्तरदायी भी नहीं माना जा सकता है किन्तु ऐसी बात नहीं है। मानव को तो अपने जीवनादर्श को ध्येय बना कर ही चलना होता है। यद्यपि अपना जीवनादर्श चुनने के लिए भी मानव को सामाजिक उत्तराधिकार में प्राप्त संस्कृति आदि का आश्रय लेना पड़ता है और ऐसी अवस्था में वह सर्वथा सब ही प्रभावों से मुक्त नहीं रहता है फिर भी जीवनादर्शों के मूल्यांकन करने में उसे कुछ न कुछ स्वाधीनता तो होती ही है और उस आदर्श तक पहुँच पाने के लिए संघर्ष करते रहने में ही उसकी स्वाधीनता होती है। हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व हमारे कर्मों को चयन करने के लिए उत्तरदायी है। तामसी बुद्धिवाले कर्ता के द्वारा उचित कर्म चयन नहीं हो पाता है किन्तु कर्ता सात्विक बुद्धि प्राप्त करने के लिए प्रयत्नवान् होने की दिशा में बढ़ सकता है। इतनी स्वाधीनता तो उसे है ही। कर्मयोग के द्वारा उस पथ पर बढ़ना तो उसके हाथ में है ही अतः यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना, यथार्थ बुद्धि की उत्पत्ति करना तो उसके हाथ में है ही। यदि इतना भी न होता तो मोहान्ध अर्जुन को कर्तव्य-ज्ञान श्रीकृष्ण भी न दे पाते।

व्यापक श्रेय आत्मत्याग और आत्मज्ञान—मानव मे अपने लिए पथ चुन पाने और उस पथ पर चलने के लिए यथेष्ट योग्यता प्राप्त कर पाने की स्वाधीनता तो है ही। यद्यपि वहाँ तक पहुँच पाने के लिए जहाँ पर कि उसे सात्विक बुद्धिप्राप्त हो सकती है भारतीय आचार-शास्त्र मे एकमात्र मार्ग कर्मयोग ही नहीं है फिर भी यहाँ हमारा विषय ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग नहीं है अतः हम कर्म-मार्ग

को ही लक्ष्य में रखते हुए यह कह सकते हैं कि मानव शुद्ध बुद्धि, स्थितप्रज्ञ होने पर स्वाधीन होकर कर्म करता है। ऐसी अवस्था में उसे किसी अन्य के अधीन नहीं होना पड़ता और न ही कर्म-फल की दासता ही करनी पड़ती है अतः इस दृष्टि से मानव की स्वाधीनता का अर्थ है उसका एक विशेष ढंग का जीवनादर्श अपनाना और उस तक पहुँचने के प्रयत्नों में सलंग्न रहना। इस जीवनादर्श का मुख्य आधार है व्यापक श्रेय (Common good) की उपलब्धि। टी० एच० ग्रीन इसी व्यापक श्रेय की प्राप्ति का उपाय आत्मज्ञान में खोजते हैं और आत्मज्ञान का मार्ग आत्म-बलिदान, आत्मत्याग में से होकर ही बनता है। सम्भवतः यह व्यापक श्रेय स्वयं कर्ता का भी श्रेय होता है और अन्य व्यक्ति का भी। अतः आत्मज्ञान का तात्पर्य हुआ 'सर्वभूतेषु मेनकं' 'आत्मवत सर्वभूतेषु' के आदर्श को लेकर 'सर्वभूतहित' साधन में ही रत रहना क्योंकि उसी के द्वारा कर्ता का निजी हित-साधन भी हो सकता है। व्यापक श्रेय की प्राप्ति में ही कर्ता का और विश्व भर के मानवों का हित, उनका श्रेय निहित है। यद्यपि आत्मज्ञान आत्म-विकास के द्वारा ही हो सकता है और आत्मविकास का अर्थ होता है व्यक्ति का अपने भीतर की ऐसी नैसर्गिक शक्ति का विकास जो कि सुप्त पडी हो अथवा व्यक्ति की सम्पूर्ण नैसर्गिक शक्तियों का विकास किन्तु व्यक्ति के भीतर की सम्पूर्ण शक्तियों का एक साथ विकसित होना तो सम्भव भी नहीं है क्योंकि किसी एक का बलिदान किये बिना तो दूसरी का विकास हो ही नहीं सकता है अतः अधिकाधिक यही कहा जा सकता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का शारीरिक, बौद्धिक एवं चारित्रिक विकास किया जाये किन्तु ऐसा भी करना तब ही तो सम्भव हो सकता है जब कि मानव अपनी निम्न प्रवृत्तियों को उच्च प्रवृत्तियों के आधीन कर दे। किन्तु ऐसा कर देने पर भी यह कठिनाई तो शेष रह ही जाती है कि यदि मानव अपने व्यक्तित्व का यथासम्भव पूर्ण विकास करके व्यापक श्रेय की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो भी जाये तो उसके व्यक्तिगत ध्येय का अन्य व्यक्तियों के ध्येय के साथ क्या और कैसा सम्बन्ध रहेगा। भले ही ब्रेडले यह मान लें कि नैतिक दृष्टि से हम अपने जिस 'स्व' ज्ञान अथवा आत्मज्ञान (Self-realisation) की चर्चा करते हैं उसमें व्यक्ति का, कर्ता का 'स्व' उन सब ही व्यक्तियों के 'स्व' को लिये दिये ही चलता है जिनसे कि कर्ता सम्बन्धित है किन्तु 'स्व' की इस प्रकार की परिभाषा तो उसके निजी मूल्य को ही भिन्न कर

देगी। इसका तो उपाय यही हो सकता है कि व्यक्ति दार्शनिक दृष्टि-कोण को लेकर 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्वमसि' कह कर ही चले तभी तो वह अन्य व्यक्तियों के 'अहं' को भी अपने 'अहं' में सम्मिलित कर सकेगा, किन्तु ऐसा व्यापक 'अहं' कर्ता भी माना जा सकेगा अथवा नहीं इसमें हमें सन्देह ही होता है।

'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। (भग० गी० १८. १७)

के अनुसार जब वह किसी भी कर्म के लिए उत्तरदायी ही नहीं रह जाता है तो फिर उसे आचार-शास्त्र की दृष्टि से, नैतिकता की दृष्टि से कर्ता माना भी क्योंकर जा सकता है अतः उसका कर्तृत्व हमारे प्रसंग के बाहर चला जाता है। नैतिक निर्णय तो उन्हीं कर्मों के विषय मे दिया जा सकता है, जिनका कि उत्तरदायित्व कर्ता पर हो; किन्तु जब कि कर्ता एकाकी व्यक्ति ही नहीं रह जाता है तो उसके कर्तृत्व का प्रश्न ही नहीं उठता है।

दूसरी ओर भी कठिनाइयों का अन्त नहीं है। व्यक्ति ही क्यों अपने निजी श्रेय या हित का अन्य व्यक्तियों के श्रेय अथवा हित के लिए बलिदान करे, यह विचारणीय है और दूसरे व्यक्ति उसे स्वीकार क्यों करें, यह भी सोचना ही पड़ेगा। इस प्रकार के मत का प्रकाशन करके 'श्रेय' और 'उचित' में भेद करके तो उलझन में पड़ना ही पड़ता है। टेलर के मतानुसार यह मानना ही पड़ता है कि वास्तविक नैतिक आदर्श में तो आत्मज्ञान और आत्मत्याग दोनों का ही स्थान है, अतः नैतिक आदर्श तो पूर्ण होना चाहिए। सब कुछ होते हुए भी 'स्वार्थ' और 'परार्थ' के भेद का अन्त दार्शनिक भूमिका लेकर ही व्यक्तित्व में किया जा सकता है। वहीं पर पहुँचकर व्यक्ति के श्रेय और सार्वजनिक श्रेय को एकाकार करके देखा जा सकता है और सम्भवतः 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर ही, वहाँ तक पहुँचकर ही 'व्यक्ति' और 'समाज' के हितों, उन दोनों के श्रेय के बीच का भेद मिटाया जा सकता है; किन्तु ऐसा दार्शनिक सत्य को ग्रहण करके ही किया जा सकता है। इतना तो निश्चित ही है कि 'श्रेय' हमें केवल मात्र व्यक्तिगत हित, व्यक्तिगत श्रेय से परे ले जाता है। फिर भी उच्च दार्शनिक भूमिका से हटकर नैतिक भूमिका पर हमें अपने पुराने 'व्यक्ति' और 'समष्टि' के प्रश्न पर आ जाना पड़ता है और यहीं हमारा ध्यान कुछ उन अमूल्य सत्यों की ओर जाता है जो न तो व्यक्ति के हित की सीमाओं में आते हैं और न समाज

के हित के बन्धनों में, वरन् उन दोनों से ही अधिक उच्च भूमिका पर होते है। अब प्रश्न यह है, क्या उन 'श्रेयों' को लेकर भी मानव के मन में संघर्ष का जन्म होता है ? वस्तुतः जीवन तो 'पूर्ण' है ? और उसमें विभिन्न हितों, विभिन्न श्रेयों का स्थान है । कोई भी नैतिक विचारधारा यही प्रयत्न करती है कि किसी एक ऐसे ध्येय की, श्रेय की खोज करे जिसमें कि इन सभी विभिन्नताओं को एक किया जा सके । यह सब भिन्न भिन्न नैतिक मानसिक भूमिकाएँ, नैतिक स्तर एक में ही समा सके, क्या ऐसे किसी नैतिक ध्येय की प्राप्ति सम्भव है, यही विचारणीय है। वस्तुतः ऊपर से देखने से तो हम ड्यूई के साथ सहमत ही जान पड़ते हैं जब कि वह कर्म-जगत में व्यक्ति को एक छोर मानते है और मानवता को दूसरा। व्यक्ति के नैतिक दृष्टि से अपने प्रति भी कर्तव्य होते है और समाज के प्रति तो होते ही है, मानवता के प्रति भी होते है। आज दिन मानव अपने समाज की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठकर विश्व-समाज की कल्पना को अधिकाधिक पोषित करने लगा है, अतः मानवता के प्रति भी उसके कर्तव्य है और उन कर्तव्यों की भी उस पर नैतिक माँग का दबाव पड़ता ही है।

कर्तव्य-विवेचना—वस्तुतः कर्तव्य कभी भी अपने आपमें ही पूर्ण ध्येय नहीं होता है, वरन् उसका नैतिक दृष्टि से सम्बन्धित मूल्य ही होता है। कर्तव्य पालन करके, कर्म योग के माध्यम से अन्तिम ध्येय तक पहुँचा जा सकता है। मानव के मन मे कर्तव्य संघर्ष भी होता है जैसा कि रणक्षेत्र मे अर्जुन को हुआ था। यद्यपि उसे ऐसा जान पड़ता है कि समान महत्त्व के दो कर्तव्य उसके सम्मुख है और उन दोनों में से एक का चयन कर पाना उसे कठिन जान पड़ता है, किन्तु वास्तव में कभी भी दो कर्तव्य बिलकुल ठीक एक ही सी उच्च भूमिका के हमारे सम्मुख कभी भी उपस्थित नहीं होते है, अतः कर्तव्यों के विषय में मानसिक द्वन्द्व तब ही होता है जब कि हम दो कर्मों को एक-सा समझकर इस मोह में पड़ जाते है कि किसको चुने। यद्यपि यथार्थ सत्य यह है कि एक समय में किसी भी व्यक्ति के निकट सर्वोच्च कर्तव्य तो एक ही होता है। सम्भवतः यहाँ इस ओर संकेत कर देना भी उचित ही होगा कि कर्तव्यों के साथ-साथ कुछ न कुछ अधिकार भी लगे रहते हैं और कर्तव्य तथा अधिकार का परस्पर अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणार्थ—यदि मेरा यह कर्तव्य है कि मैं दूसरों के जीवन के प्रति सम्मान प्रकट करूँ, तो उनका भी तो यह कर्तव्य हो जाता है कि वह मेरे जीवन को सम्मान-योग्य मानें

अर्थात् यह मेरा अधिकार हो जाता है कि मेरे जीवन के प्रति दूसरों का सम्मान मुझे प्राप्त हो। इसी प्रकार प्रायः सारे कर्तव्यों के साथ किसी न किसी रूप में कोई न कोई अधिकार लगा ही रहता है।

सामाजिक असन्तुलन और मानव के अन्तर्द्वन्द्व—मानव सभ्यता की उन्नति के साथ ही साथ मानव के पुरातन नैतिक मूल्यों और जीवन-महत्त्वों का रूप भी परिवर्तित हुआ है। पुरानी विचार-धाराओं और मान्यताओं में परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप न केवल विभिन्न व्यक्तियों एवं दलों के हितों में परस्पर संघर्ष सा छिड़ गया वरन् व्यक्ति के अपने ही विभिन्न हितों में संघर्ष होने लगा। नवीन सभ्यता के प्रभाव में नवीन आदर्शों के विकास हुए और हो रहे हैं। राज-भक्ति का स्थान देश-भक्ति ने लिया है। गुरुजनों के प्रति अगाध श्रद्धा भक्ति का स्थान विवेक बुद्धि एवं तर्क पर ही कस कर आज्ञा पालन करने के सिद्धांत ने ले लिया है अतः अब इन नवीन आदर्शों को लेकर चलने के कारण कुछ नैतिक मूल्यों में संघर्ष होना स्वाभाविक ही सा हो गया है। उदाहरणार्थ—औद्योगिक समस्याओं एवं राजनीतिक हलचलों ने मानव को यह समझाया है कि उसका एक जन्मसिद्ध अधिकार यह भी है कि वह अधिकार के सम्मुख सदा सर्वदा घुटने न टेककर उसका विरोध भी कर सके अतः किसी भी मिल मजदूर को अपने अन्य साथियों के साथ हड़ताल में भाग लेना उस अवस्था मे भी नैतिक कर्तव्य जान पड़ेगा जब कि उसके हृदय में मिल मालिक के प्रति अगाध श्रद्धा हो। यही नहीं, मुझे अपने पिता के प्रति अगाध स्नेह और श्रद्धा है। मैं यह भी जानती हूँ कि पिता की आज्ञा का पालन करना मेरा नैतिक कर्तव्य है फिर भी उनकी जिस आज्ञा को मेरा दल अनुचित मानता है उसका उल्लंघन करना भी मेरा कर्तव्य हो जाता है और ऐसी आज्ञा पाते समय मुझे उनका विरोध भी करना चाहिए। इन दोनों के बीच में पड़कर मुझे मानसिक द्वन्द्व का शिकार होना ही पड़ेगा। इसी प्रकार आत्म-विकास और आत्म-बलिदान के सिद्धान्तों को लेकर भी मानव संघर्ष में पड़ जाता है। व्यक्ति के, उसके परिवार के हितों में तथा देश की औद्योगिक उन्नति के हितों में परस्पर संघर्ष हो सकता है। व्यक्ति के अपने शारीरिक और मानसिक हितों में संघर्ष हो सकता है। मैं थक कर रात को बिस्तर पर लेटती ही हूँ कि पास के घर से किसी के कराहने का स्वर सुन पड़ता है। मेरे पास के ही घर में एक अनाथ वृद्धा अकेली रहती है। यद्यपि उस समय शरीर का हित इसी में है कि मैं सो जाऊँ; किन्तु अपनी मानसिक शान्ति

के लिए मुझे उठकर जाना पड़ता है अर्थात् शारीरिक हित का बलिदान करना पड़ता है। हो सकता है कि इन सब संघर्षों का कारण हमारा सामाजिक असन्तुलन ही हो और यह भी सम्भव है कि यदि सभी व्यक्तियों को समाज से तथा एक दूसरे से न्याय की प्राप्ति हो, तो किसी भी व्यक्ति को अनावश्यक आत्मत्याग, बलिदान, तपस्या करने की आवश्यकता ही न रह जाए। इसका तो यह अर्थ हुआ कि आत्महित एवं समाजहित दोनों ही का महत्त्व है और इनमें से किसी एक को दूसरे के लिए सर्वथा बलिदान की ही वस्तु बना डालने से कठिनाई ही होगी। यद्यपि केवल आत्महित का अर्थ भी किसी न किसी सीमा तक समाजहित तक पहुँच ही जाता है और समाजहित में भी किसी सीमा तक आत्महित निहित रहता ही है। इसी प्रकार समाजहित अथवा जनहित अथवा शिवम् के अतिरिक्त जब हम सत्यम् और सुन्दरम् को महत्त्व का विषय मानते हैं तब क्या यह तीनों ही हमारे निकट विभिन्न नैतिक स्तर लेकर आते हैं अथवा एक ही 'पूर्ण' के तीन पक्षों के रूप में आते हैं।

जीवन पूर्ण है—वस्तुतः 'नेह नाना अस्ति किंचन' केवल मात्र विश्व के ही लिए नहीं वरन् मानव प्रकृति के लिए भी कहा जा सकता है। मानव अपनी प्रकृति में विभिन्नता के होते हुए भी एकता रखता है। मानव स्वयं अपने हित साधन की इच्छा रखता है किन्तु उसका वह स्वहित साधन अन्य व्यक्तियों के हित को भी अपने में लिये ही रहता है अतः उसकी प्रकृति में स्वहित और परहित, स्वार्थ और परार्थ दोनों को ही स्थान मिल जाता है। वह सत्य की ओर बढ़ता है किन्तु शिव और सुन्दर भी उसकी प्रकृति में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते ही हैं, अतः बृहदारण्यक उपनिषद् में जो सत्य विश्व के अन्तिम सत्य के रूप में रखा गया है उसी की ओर हम मानव स्वभाव के सम्बन्ध में संकेत कर सकते हैं।

ओं पूर्ण मदः पूर्ण मिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अर्थात् 'पूर्ण' ही चिरन्तन है, सत्य है। इसी प्रकार मानव स्वभाव, मानव प्रकृति भी अपनी सब ही भिन्नताओं को लेकर भी एक है, पूर्ण है जिसमें सब ही भिन्नताओं को स्थान मिलता है। जिस प्रकार 'मनस' में, तज्जन्य प्रत्येक तथ्य में ज्ञान, अनुभूति और इच्छा तीनों ही का सम्मिश्रण रहता है, यद्यपि वे भिन्न भिन्न हैं इसी प्रकार मानव प्रकृति में भी विभिन्न आदर्शों, नैतिक मूल्यों का स्थान रहता है और वे सब एक ही स्थान पर बने रहते हैं यद्यपि हैं भिन्न भिन्न। शिव भावना, हितेच्छा की

अभिव्यक्ति तो मानव सार्वजनिक हित के कार्य, सर्वभूत हित में ही रत होकर कर सकता है, किन्तु मानव प्रकृति में केवल 'शिव' ही तो नहीं है। व्यक्ति में इसके अतिरिक्त बौद्धिक और कोमल वृत्तियाँ भी तो होती है। उनकी अभिव्यक्ति, उनका सन्तोष तो सत्य की खोज करके और सौन्दर्य को ग्रहण करके ही किया जा सकता है। यद्यपि सत्य, शिव और सुन्दर तीनों का ही महत्त्व है और मानव जीवन की पूर्णता के लिए तीनों की ही आवश्यकता है, किन्तु इनमें से किसी भी एक का बलिदान करके दूसरे की प्राप्ति करना जीवन की पूर्णता नहीं होगी। सत्य की, शिव की और सुन्दर की आवश्यकता होती है मानव-जीवन की पूर्णता के लिए। किसी भी प्रकार से एक ओर से मानव जीवन को दरिद्र करके दूसरी ओर से उसे सम्पन्न नहीं किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति सत्य पर दृढ़ है किन्तु वह सत्य शिव से, हित से शून्य है तो उसका मूल्य ही क्या रह जायेगा और सौन्दर्य रहित सत्य किस प्रकार हितकर हो सकेगा। इसी प्रकार सत्य के बिना हित और सौन्दर्य ही क्या रह जायेंगे। मानव के जीवन में तो इन सब के सम्मिश्रित रूप का ही महत्त्व है। यह जितना ही व्यक्ति के जीवन में सत्य है उतना ही समाज के समाज में भी तो सत्य, शिव और सुन्दर इन तीनों ही का मूल्य है और होना चाहिए। तभी तो सामाजिक जीवन पूर्ण हो सकेगा। पूर्ण की इस भावना को लेकर ही आत्मविकास और आत्मसमर्पण की बात की जा सकती है। आत्मविकास के लिए ही तो आत्मसमर्पण किया जाता है। 'मैं' और 'तू' के भेद को आत्मसमपर्ण करके ही तो मिटाया जा सकता है और जब यह दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं तब ही आत्म विकास की चरम सीमा होती है तब ही 'तत्वमसि' और 'अहंब्रह्मास्मि' कहा जा सकता है।

यहाँ, यदि हम बर्डले के साथ यह मानना आरम्भ कर दें कि सत्य की कसौटी 'भीतरी विरोध का अभाव' ही है अर्थात् 'सर्वाङ्गीण पूर्णता' ही अन्तिम सत्य है, तो फिर हमें यह भी मानना पड़ेगा कि ऐसा कर पाने के लिए मानव को अपने स्वभाव को, अपनी प्रवृत्तियों को किसी एक उच्च कोटि की व्यवस्था, 'संयम' के भीतर लाना होगा और इस प्रकार हर ओर से संयमित होकर ही मानव अपने भीतरी संघर्ष से मुक्त हो सकेगा और दूसरी ओर ध्येय की प्राप्ति के लिए मानव को यदि वह ध्येय अत्यन्त व्यापक और उदार है, अपने संकुचित सीमित व्यक्तित्व को उस उदार ध्येय में मिला देना होगा। इसके उपाय तो दो ही हैं। मानव या तो

अपने 'अहं' को इतना विस्तृत कर ले कि सब ही कुछ उसमें समा जाए अथवा अपने सीमित अनुदार 'अहं' को उस विशाल 'अहं' में लय कर दे, आत्म-समर्पण कर दे जिससे कि वह विशाल 'अहं' उसका अपना 'अहं' होकर ही रह जाए अर्थात् सम्पूर्ण की प्राप्ति के लिए सीमित को या तो सम्पूर्ण में लय हो जाना चाहिए अथवा सम्पूर्ण को ही अपने साथ एकाकार कर लेना चाहिए। पूर्णता और व्यक्तित्व इनके संघर्ष का अन्त इसी प्रकार तो किया जा सकता है। कर्तृत्व का अभिमान लिए दिए तो कर्ता पूर्ण हो नहीं सकता है। कर्तृत्व का अभिमान तो व्यक्तित्व से जन्म लेता है और व्यक्तित्व को सर्वथा समर्पित करके, उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर देने से तो नैतिकता की नींव ही हिल जाती है, अतः उसे अधिकाधिक उदार और विस्तृत ही तो किया जा सकता है। मानव जीवन के लिए आन्तरिक व्यवस्था, आन्तरिक पूर्णता की आवश्यकता है ताकि उसे भीतरी द्वन्द्वों, संघर्षों का सामना न करना पड़े और पूर्णता न केवल मानव की वरन् विश्व की भी तो एक बड़ी भारी आवश्यकता है किन्तु आत्म विकास की चरम सीमा, यह पूर्णता ही क्या नैतिक जीवन का आदर्श बनाई जा सकती है और इस प्रकार की पूर्णता की प्राप्ति के लिए, उस तक पहुँच पाने के लिए भी तो हमें नैतिकता, विभिन्न नैतिक आदर्शों का आश्रय लेना ही पड़ेगा भले ही वे बाह्य आदर्श ही हों। उन्हीं आदर्शों का सहारा लेकर तो मानव आगे बढ़ सकेगा। सम्भवतः इसी कारण वेदान्त और अन्य भारतीय दार्शनिक विचारधाराएँ नैतिक आचार-व्यवहार को मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन मानती हैं। इस समय तो प्रश्न यह है कि यदि मानव का जीवनादर्श पूर्णता ही हो, तो भी क्या एकाकी मानव उस तक पहुँचने के साधन तत्पर कर सकता है। उसके लिए भी तो उसे औरों पर आश्रित होना ही पड़ेगा ? अतः 'अहंत्व' और 'पूर्णत्व' यह दो भिन्न नैतिक पथ, भिन्न नैतिक आदर्श तो नहीं हुए। ये तो एक ही आदर्श के दो पक्ष हुए, भले ही उन दोनों पक्षों का एक-सा महत्त्व न हो। पूर्णत्व भी तो जीवन से भिन्न कोई ऐसा आदर्श नहीं है जो कि अमूर्त है, जिसकी प्राप्ति कहीं बाहर से करनी होती है। उसे तो जीवन में ही प्राप्त किया जा सकता है और 'स्वहित' के मार्ग का भी मोड़ उधर ही तो हो जाता है जहाँ से कि पूर्णता की ओर चलकर आत्मविकास किया जा सकता है। ऐसा होना इसीलिए सम्भव है कि विश्व में पूर्णता है, वह एक पूर्ण है। इसके किसी भी अंग अथवा अंश की प्राप्ति का अर्थ किसी भिन्न वस्तु की

प्राप्ति न होकर होता है विश्वांग की प्राप्ति, उस पूर्णता के किसी एक पक्ष की प्राप्ति, अतः किसी भी आदर्श पर चलने से पूर्ण की ओर बढ़ा तो जा ही सकता है, क्योंकि अन्तिम सत्य तो पूर्ण ही है और जीवन उस पूर्णता की ओर किसी भी पथ पर चलकर बढ़ सकता है। उस महान् पूर्ण 'पूर्णमिदं' के सम्पूर्णरूप को तो हम ग्रहण कर पाते ही नहीं है; क्योंकि हम स्वयं तो अपूर्ण हैं, सीमित ही हैं और अपनी इस अपूर्णता, ससीमता के कारण हम उस असीम, अनन्त, पूर्ण को आंशिक रूप में ही समझ पाते है; किन्तु उसको सर्वांग रूप से समझ पाने के लिए ही तो उसमें समा जाना होता है। सीमित 'अहं' का त्याग करके ही मानव विशाल विश्वात्मा का अधिकारी बन पाता है किन्तु तात्विक अथवा दार्शनिक पृष्ठ भूमिका की चर्चा न करते हुए यदि हम नैतिकता की ही चर्चा करें तो मानव अपने विचारों विश्वासों आदि में बाह्य कारणों से प्रभावित होकर परिवर्तन भी तो करता ही रहता है और बाह्य जगत, उसमें विकसित और परिवर्तित होती हुई विचारधाराओं आदि से सम्बन्ध रखकर ही तो मानव अपने भीतर-संघर्ष होने की सम्भावना को दूर रख पाता है। पूर्ण पर दृष्टि रखना आवश्यक है, किन्तु पूर्ण को एकबारगी अपूर्ण अपने भीतर सुलभ एवं सरल बनाकर ग्रहण कर पायेगा इसकी सम्भावना कम ही दिखाई देती है। ऐसी अवस्था में यदि वह अपने वातावरण से मिल जुलकर, उससे प्रभावित होता और उसे प्रभावित करता ही चले तो सम्भवतः ठीक ही होगा।

नैतिकता की आधार-शिला—वस्तुतः मानव नैतिक निर्णय तो किसी न किसी आधार को लेकर ही दे सकता है और सम्भवतः वह किसी भी कर्म को उचित अथवा अनुचित, श्रेय अथवा अश्रेय इस आधार पर ही कह पाता है कि वह कर्म कहाँ तक उस ध्येय तक कर्ता को पहुँचाने में समर्थ अथवा असमर्थ हुआ जिस ध्येय को लेकर कर्ता चल रहा है, अतः नैतिक निर्णय के आधार की खोज का अर्थ होगा उस ध्येय की खोज जो कि मानव जीवन का अन्तिम ध्येय अथवा आदर्श होना चाहिए। यद्यपि इस स्थान पर हमें यह भी देखने के लिए रुक जाना पड़ता है कि इस प्रकार का ध्येय तो मानव के लिए 'सर्वोच्च श्रेय' होना ही चाहिए। विभिन्न विचारकों ने इस सम्बन्ध में अपने विभिन्न विचार दिए हैं, फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि इस प्रकार का ध्येय अथवा जीवनादर्श आत्मज्ञान होना चाहिए, क्योंकि हमें सर्वाधिक परिचित तो स्वयं अपने आप से ही होना चाहिए और सम्भवतः यही अनन्त सत्य भी होगा।

उपनिषद्कार को स्पष्ट शब्दों में मानव को आदेश देते हैं "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" अर्थात् आत्मा को देखो, उसके विषय में सुनो, उसका मनन और ध्यान करो। संक्षेप में आदेश यही है कि आत्मज्ञान प्राप्त करो किन्तु ऐसा कर पाना कैसे सम्भव हो सकता है, इसके उत्तर में हमारे सम्मुख शंकर का मत आ जाता है और वह यह है कि वेदान्त के रहस्य को, अनन्त ब्रह्म के रहस्य को, चिरन्तन सत्य को समझने के लिए ब्रह्म विद्या का विद्यार्थी वही हो सकता है जो कि नैतिकता के पथ पर चल कर उसका अधिकारी बन पाया हो अथवा जो नित्यानित्यवस्तुविवेक रखता हो, भोग विरागी हो, शमदमादि-साधनसम्पन् हो और मोक्ष के लिए उत्सुक हो। इसी दृष्टि से वह निष्काम कर्म को अत्यधिक महत्त्व देते हैं क्योंकि उनके विचार में आत्म-शुद्धि के लिए निष्काम कर्म करना अत्यावश्यक है अतः आत्मज्ञान नैतिकता के पथ पर चलकर ही प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु उतनी दूर जाने पर तो हम नैतिकता से आगे बढ़कर आध्यात्मिकता तक जा पहुँचेगे जो कि इस समय हमारा उद्देश्य नहीं है, अतः यदि हम अध्यात्मक्षेत्र तक न जाकर केवलमात्र यही प्रश्न करें कि नैतिक अन्तिम ध्येय तक किस प्रकार पहुँचा जा सकता है जो कि व्यक्ति का पूर्ण आत्म-विकास करना अथवा उस अर्थ में आत्मज्ञान (Self-realisation) प्राप्त करना है, तो उत्तर यही होगा कि वह अपने कर्तव्यों का पालन करके ही उस ध्येय तक पहुँच सकता है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि हमने प्रश्न आरम्भ किया यहाँ से कि सदाचार क्या है और तत्सम्बन्धी नैतिक निर्णय देते हुए इस उत्तर तक पहुँचे कि अन्तिम ध्येय सदाचार, कर्तव्य पालन, निष्काम कर्म द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है किन्तु वस्तुतः प्रश्न तो इतना कुछ प्राप्त करने का नहीं है। सदाचार मानव को वहीं ले जाकर किसी वस्तु-विशेष की प्राप्ति नहीं करा देता है, वरन् निष्काम करते हुए आत्मा को एक प्रकार की दीक्षा मिल जाती है और वही तो उसका ध्येय होता है। शिव कर्म का ध्येय शिव कर्म भी तो हो सकता है। किसी विशेष पुरस्कार अथवा पारिश्रमिक को लक्ष्य में रखकर ही तो सदाचार नहीं किया जाता है वरन् उसका पुरस्कार तो वह स्वयं ही है। उससे कुछ प्राप्त नहीं भी होता हो, तो भी आत्मशुद्धि तो होती ही है और वही उसका उद्देश्य है, लक्ष्य है।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिंद्रियैरपि ।
योगिनः कर्मकुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ (भग० गी० ५. ११)

अर्थात् कर्मयोगी शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से आसक्ति छोड़कर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते है। सम्भवत: यदि मैं कोई श्रेय कार्य इसलिए करूँ कि उससे मुझे कुछ प्राप्त होगा, तो उसका मूल्य ही कम हो जायेगा। परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान लेकर उत्तीर्ण होने की आकांक्षा से परिश्रम करनेवाले बालक की अपेक्षा उस बालक के परिश्रम का कहीं अधिक महत्त्व है जो कि इसलिए परिश्रम करता है कि उसे अध्ययन से प्रेम है। आत्मशुद्धि, आत्मविकास तो सदाचारी को कहीं कर्मादि के अन्त में नहीं प्राप्त होता है वरन् उसकी आत्मशुद्धि, उसका आत्म-विकास तो प्रत्येक श्रेय अथवा उचित कर्म के करने के साथ साथ ही होता जाता है। ऐसा कर्म तो अपने आप में ही ध्येय है। यदि किसी भी कर्म के प्रेरक कारण श्रेय और उचित होंगे तो वह तो अपने आप में ही पूर्ण होगा। इसी प्रकार श्रेय कोई कहीं एक स्थान पर रखी हुई वस्तु तो है नहीं जिसकी कि प्राप्ति किसी विशेष प्रकार के कर्म करने पर ही होगी। नैतिक जीवन में, सदाचारी के जीवन में श्रेय तो सदा सर्वदा उसके निकट रहता ही है। सत्य, शिव और सुन्दर की अभिव्यक्ति तो हम भीतर और बाहर सदा सर्वदा ही पाते हैं अत: शुभ कर्म के फल की प्राप्ति के लिए प्रतीक्षा करते रहना न केवल मूर्खता है वरन् शुभ कर्म के महत्त्व को न्यून करना भी है। यदि हम 'परहित' इसलिए करते हैं कि इससे हमें किसी 'श्रेय' की प्राप्ति होगी तो वस्तुत: उस कर्म का महत्त्व ही क्षीण हो जाता है, अत: निष्काम कर्म करने के लिए बुद्धि को ही सात्विक कर लेना ठीक है जिससे कि उस बुद्धि से निष्काम कर्म ही हो सके अर्थात् ऐसा कर्म ही हो सके जो कि 'श्रेय' है 'उचित' है किन्तु जिसके किए जाने, कर्ता द्वारा चुने जाने का आधार उसका शुभ फलदायी होना नहीं है वरन् उसका श्रेयत्व ही है। कर्मफल की भावना को महत्त्व न देने का अर्थ हो जायेगा साधनों का भी उतना ही श्रेय और उचित्त हो जाना जितना कि ध्येय का अत: मानव निष्काम कर्म करता हुआ अश्रेय और अनुचित कर्म तो कर पाएगा ही नहीं और ऐसा करते हुए वह किसी प्रकार के कर्म के अतिरिक्त पुरस्कार, फलादि को भी लक्ष्य में रख कर नहीं चलेगा। इस प्रकार कर्म-योग द्वारा ही उसे आत्मज्ञान हो सकेगा; किन्तु इतना होने पर भी शंकर तो 'निष्काम कर्म' को, नैतिकता को साधन मात्र ही मानेगे ध्येय नहीं क्योंकि उनका ध्येय है 'ब्रह्म-ज्ञान' और वह आचार शास्त्र के क्षेत्र से बाहर की बात है। यदि वहाँ तक न भी जायँ, तो भी मानव को नैतिक जीवन के द्वारा ही, निष्काम कर्म करके ही अनन्त सुख की, अत्यधिक

सुख की प्राप्ति तो होती ही है अतः नैतिकता का महत्त्व अपने आपमें भी कुछ न्यून नहीं है। 'श्रेय करो' की अपेक्षा 'श्रेय बनो' अधिक उचित जँचता है। स्वयं श्रेय हो जाने पर जो कुछ करोगे वह श्रेयस्कर तो होगा ही। यह कहने की अपेक्षा कि 'श्रेय कर्म करो' सम्भवतः यह अधिक अच्छा है कि अपनी बुद्धि ही निर्लिप्त कर लो, स्थितप्रज्ञ हो जाओ और स्थितप्रज्ञ हो जाने पर जो कुछ होगा वह श्रेय और उचित ही होगा इससे अन्यथा कुछ नहीं; किन्तु किसी भी दृष्टि से देखा जाए व्यापक श्रेय की प्राप्ति के लिए कर्ता को मन, प्राण से नैतिक तो होना ही होगा, सत्य, शिव और सुन्दर को तो समझना ही होगा और ऐसा वह तब ही ठीक ढंग से कर सकता है जब कि उसकी बुद्धि व्यभिचारिणी न होकर शुद्ध हो, स्थित हो, निर्लिप्त हो और वैसा कर पाने का पथ भी 'कर्मयोग' ही है, अतः किसी भी अवस्था मे उसे कर्तव्य पालन करनेवाला और सदाचारी होना ही चाहिए।

अध्याय ११

नैतिक गुण

नैतिक गुण और कर्तव्य—कर्तव्यों की विवेचना करने के लिए हमें उन सामाजिक संस्थाओ की ओर दृष्टि डालना चाहिए जिनमें कि उनकी आवश्यकता पड़ती है, जहाँ कि उनकी माँग की जाती है, स्वीकृति दी जाती है और उनका कर्ता द्वारा पालन भी किया जाता है; किन्तु ऐसी दशा में कर्तव्यों को बाह्य दृष्टिकोण से अथवा उस क्षेत्र के आधार पर देखा जाता है जहाँ कि मानव की शुभ अथवा श्रेय इच्छा को अपना प्रसार करने का अवसर मिलता है। सामाजिक संस्थाएँ मानव की आवश्यकताओं और उसकी विभिन्न माँगों को नैतिक माँग के रूप में अथवा मानव के कर्तव्य के रूप में उसके सम्मुख रखती हैं और उनकी पूर्ति के लिए, उनके पालन के लिए अवसर भी देती हैं; किन्तु यह तो बाह्य माँग ही हुई उनकी पूर्ति होना तो तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि कर्ता व्यक्ति उसे स्वीकार न करे, ग्रहण न करे अत: कर्तव्यों को मानव चरित्र के नैतिक गुणों के रूप में भी देखा जा सकता है और यही वास्तव में कर्तव्यों पर मानव के अन्तर में झाँककर दृष्टि डालना होगा। मानव के अन्तर की इच्छाएँ, प्रवृत्तियाँ आदि ही तो वस्तुत: उसे कर्तव्य करने के लिए, उसे समझने और ग्रहण करने के लिए बाध्य कर सकती है और इस प्रकार बाध्य किया जाना ही तो कर्तव्य चेतना है। सम्भवत: यही मानव के नैतिक जीवन का बाह्य प्रदर्शन कहलाता है। कर्तव्य पालन और उसका आन्तरिक रूप होता है नैतिक गुण, उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का व्यवस्थित होना, संयमित होना। इस दृष्टि से नैतिक गुण और कर्तव्य में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि 'व्यक्तित्व' और 'पूर्णत्व' में न तो संघर्ष ही है और न विरोध ही। वस्तुत: अन्तिम श्रेय तो मानव के बाहर न होकर होता है उसके व्यक्तित्व के विकास में और उस विकास का ध्येय होता है 'पूर्णत्व', पूर्णत्व का वह स्तर जहाँ तक कि मानव के लिए पहुँच पाना सम्भव है और वह निरन्तर ऐसा

करता है, करता रहता है, कर पाने के लिए ही अपने व्यक्तित्व के 'अहं' और 'विश्व-प्रेम', 'मानव-प्रेम' दोनों को स्थान देकर ही चलता है। उसके ऊपर कुछ नैतिक सामाजिक माँगे अपना दबाव डालती हैं और वह उस नैतिक माँगों के दबाव को समझता है, स्वीकार करता है और उनकी पूर्ति भी करता है। यही है उसके कर्तव्य और उन्हें समझना तथा उनके सम्बन्ध में स्वीकृति देना है अर्थात् उसका नैतिक गुण। अतः नैतिक गुण मानव कर्ता की वह कर्म के प्रति स्थायी मानसिक स्थिति है, कर्म के प्रति उसका दृष्टिकोण है जो कि नैतिकता के आधार पर ही बनता है। मेकेंज़ी के मतानुसार नैतिक गुण चरित्र का श्रेयस्वभाव है किन्तु वह कर्तव्य नहीं है जिसे कि हमें करना ही चाहिए। कर्ता अपने कर्तव्य करता है किन्तु वह नैतिक गुण का अधिकारी है, नैतिक दृष्टि से गुणी (Virtuous) है, इसी लिए अपने कर्तव्य का पालन करता है। म्यूरहेड के विचार में नैतिक गुण चरित्र का गुण है। यह एक ऐसा गुण है जो कि यह विश्वास दिलाता है कि कर्मों का नियंत्रण 'पूर्ण' के विचार द्वारा ही किया जायगा अर्थात् इस गुण से यह आश्वासन मिलता है कि नैतिक गुणवान् कर्ता अपने कर्म का चयन, कर्तव्य-सम्बन्धी विचारों का निश्चय 'पूर्ण' को ही दृष्टि मे रखते हुए करेगा। नैतिक दोष (Vice) से तात्पर्य यह है कि कर्ता की इच्छा पर स्वभाव की सहायता से नैसर्गिक संस्कार और प्रवृत्तियाँ आदि अधिकार कर लेंगे जिसके फलस्वरूप कर्म का लक्ष्य कोई अस्थायी अथवा आंशिक श्रेय ही रह जायेगा और इस प्रकार का श्रेय 'सम्पूर्ण के श्रेय' अथवा 'पूर्ण श्रेय' का विरोधी तो होगा ही। यदि यही मान लिया जाये तो इसे निजी श्रेय के साथ तो एकाकार करके देखा ही नहीं जा सकेगा। हम किसी भी नैतिक नियम को अथवा चरित्र के आदर्श को अपनी इच्छा का विषय तो बना सकते हैं, उसकी इच्छा कर सकते है किन्तु उसका मूल्य अपने लिए न होकर जीवन के किसी अन्य आदर्श के लिए होगा। हम यदि संयम को आदर्श मानते है तो केवल मात्र इसलिए नहीं कि हम इन्द्रियों को अतृप्त रखना ही उचित समझते है अथवा यह अपने आपमें ही कोई बड़ा श्रेय है वरन् इस साधन के द्वारा किसी अन्य श्रेय की प्राप्ति के लिए ही तो ऐसा करते हैं किन्तु दूसरी ओर इन सब चरित्रादर्शों को, संयम नियमादि को हम केवल मात्र साधन भी तो मान कर नहीं चल सकते है क्योंकि चरित्र केवल मात्र बाह्य यंत्र की भाँति साधन मात्र ही तो नहीं है, जिसका उपयोग कर चुकने पर आप उसे अपने से परे रख सकते हों। वह तो स्वयं हमारा ही व्यक्तित्व है जो कि हमसे पृथक् नहीं किया जा

सकता। यहाँ तक कि इसे साध्य से भी एकबारगी पृथक् नहीं किया जा सकता है। कर्म की भी तो चरित्र ही अभिव्यक्ति होता है। चरित्र से ही तो कर्मेच्छा की उत्पत्ति होती है और सन्तुलित, संयमी मानव प्रकृति अथवा चरित्र का तो निजी महत्त्व भी होता ही है। आत्म-परिचय, आत्म-ज्ञान भी तो चरित्र से ही किया जा सकता है, इससे पृथक् करके आत्मस्वरूप तो नैतिक दृष्टि से देखा भी नहीं जा सकता है और आध्यात्मिक दृष्टि से यदि देखा भी जाए तो वह तो 'नेति' 'नेति' कह कर ही वर्णित किया जाता है, 'अव्यक्त' कहकर जिसे समझा जाता है, वह तो सम्भवतः आचार शास्त्र की वस्तु है भी नहीं। अतः चरित्रादर्श को केवल मात्र साधन भी नहीं माना जा सकता है, उस अवस्था में भी नहीं माना जा सकता है जब कि नैतिक गुण आत्म संयम अथवा इन्द्रिय दमन, इन्द्रिय निग्रह अथवा मानव प्रवृत्तियों को विषय भोग की वस्तुओं की ओर जाने से रोकना ही हो और उस अवस्था में भी नहीं माना जा सकना है जब कि नैतिक गुण स्वाभाविक मानव प्रवृत्तियों को संतुलित करना मात्र हो, अतः नैतिक गुण ही वस्तुतः कर्मों को मूल्य अथवा महत्त्व देता है। इसी लिए अरस्तू ने सुख अथवा श्रेय उसी कर्म को माना है जो कि नैतिक गुण के अनुरूप हो। अतः नैतिक गुण तो मानव-चरित्र की मानव 'स्व' की वह आधार-शिला है जिस पर उसका नैतिकता का भवन स्थापित होता है।

नैतिक गुण की परिभाषा—वस्तुतः मानव अपने विश्वासों, विचारों, संस्कारों आदि को लिए दिए ही अपना चरित्र निर्माण करता है और उसके चरित्र-निर्माण का कार्य भी सदा सर्वदा चलता ही रहता है। मानव जिस किसी भी वस्तु अथवा आदर्श को श्रेय मानता है उसकी प्राप्ति के लिए उत्सुक होता ही है। श्रेय की प्राप्ति की यह उत्सुकता जब उसका स्वभाव बन जाती है तब ही हम उसे उसका नैतिक गुण कह सकते हैं। उदाहरणार्थ—दो व्यक्ति सड़क पर जा रहे थे। अचानक एक मोटर दुर्घटना हो गई। दो-तीन बालक मोटर के बैलगाड़ी के साथ टकरा जाने पर बैलगाड़ी से छिटककर दूर सड़क पर जा गिरे। उनमें से एक का तो सिर भी बुरी तरह फूट गया। रक्त प्रवाह होने लगा। यह दोनों ही व्यक्ति जो कि सड़क पर जा रहे थे उनकी सेवा करने के लिए दौड़े। इनमें से एक तो इसलिए घायलों की सहायतार्थ पहुँचा कि उसका यह स्वभाव ही बन गया है कि वह दुखियों की सेवा किए बिना रह ही नहीं सकता है। ऐसा करने के लिए उसे सोचना-विचारना नहीं पड़ता, वरन् उसकी तो प्रकृति का ही यह अंग हो गया है। वह स्वाभाविक रूप से दुःखी मानवों की सहाय-

तार्थ दौड़ पड़ता है और ऐसा करना उचित है, श्रेय है अतः यह कहा जा सकता है कि उसकी वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से ही श्रेय की प्राप्ति के लिए झुकती है, जब कि दूसरा व्यक्ति दुर्घटनाग्रस्त व्यक्तियों का निकट सम्बन्धी है। यद्यपि वह इस झंझट मे नहीं पड़ना चाहता था, किन्तु व्यवहार तो निवाहना ही पड़ता अतः ऐसा किए बिना और निकल पाने का उपाय ही उसके लिए क्या शेष रह गया था। ऐसी दशा में पहले व्यक्ति का कर्म 'कर्तव्य' था। उसकी उत्पत्ति उसके गुण से हुई थी। अतः श्रेय की ओर स्वाभाविक झुकाव (Habitual inclination towards good) को ही नैतिक गुण मानना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'श्रेय' यद्यपि चिरन्तन है फिर भी उसका स्पष्टीकरण, उसकी अभिव्यक्ति जिन मूर्त आदर्शों में होती है उसका रूप समाज, काल, संस्कृति, सभ्यता आदि के अनुरूप परिवर्तित भी होता रहता है। 'श्रेय' परिवर्तित नहीं होता किन्तु तत्सम्बन्धी अभिव्यक्तियाँ आदि परिवर्तित होती हे अतः नैतिक गुणों के स्वरूप भी परिवर्तित होते हैं, हो सकते है। उदाहरणार्थ— राजपूत काल में 'वीरता' का अर्थ था तलवार का धनी होना। पत्नी रणक्षेत्र से प्राण बचाकर भागे हुए अपने पति का मुँह देखना भी अनुचित समझती थी। युद्ध में वीरता दिखाना ही उचित समझा जाता था और साहस, अद्भुत शौर्य, दृढ़ता ही नैतिक गुण था किन्तु आज भी यद्यपि साहस नैतिक गुण है पर उसकी अभिव्यक्ति परिवर्तित हो गई है। आज उस व्यक्ति की अपेक्षा जो कि युद्ध से अपूर्व साहस का परिचय देता है उस व्यक्ति का महत्त्व तनिक भी न्यून नहीं है वरन् अधिक ही है, जो कि परिस्थिति जन्य संघर्षों में तिल-तिल करके जलता है, किन्तु धैर्य नहीं खोता, उत्तेजना से पागल नहीं हो जाता वरन् अपूर्व आत्म-संयम से अपने जीवन क्षेत्र के कर्तव्यों का पालन करता ही जाता है और साहस का इस प्रकार परिचय देता है। अभिव्यक्ति जो भी कुछ हो, स्वरूप जो भी कुछ हो श्रेय की, उचित की ओर ही स्वाभाविक झुकाव होना, वैसी ही प्रकृति बन जाना, स्वभाव से ही श्रेय को प्रेम करने लगना ही नैतिक गुण है। इसी को म्यूरहेड चरित्र का वह गुण कहते हैं जो कि हमें अपने कर्तव्यों का पालन करने योग्य बनाता है। नैतिक गुण हमारे व्यक्तित्व को विकसित करने में हमें सहायता देते हैं और इसका अर्थ होता है निम्न प्रवृत्तियों को उच्च प्रवृत्तियों के स्वाभाविक ढंग से अधीन करना तथा क्षणिक एवं अस्थायी हितों को स्थायी और व्यापक हितों के लिए बलिदान कर देना। नैतिक दोष होता है निम्न प्रवृत्तियों की ओर

झुकाव होना तथा व्यक्तित्व से विपरीत दिशा में ले जाना, जिससे कि मानव सत्य से, श्रेय से, सुन्दर से परे हटता जाता है। कर्तव्य और नैतिक गुण दोनों की ही रूप-रेखा तो दी जा सकती है किन्तु दोनों का ही विषय दे पाना सरल नहीं है; क्योंकि जीवन के विभिन्न रंगमंचों पर खड़े होकर मानव के कर्तव्य भी तो भिन्न-भिन्न हो जाते हैं अतः कर्तव्यों की एक सूची तैयार करके मानव के हाथ में सदा सर्वदा के लिए पकड़ा देना तो नैतिकता को समाप्त करके उसके स्थान पर एक कानून मात्र रख देना ही है। वस्तुतः अपना पथ खोज पाना, अपने लिए कर्तव्य खोज पाना भी तो मानव का कर्तव्य है और उस कर्तव्य का पालन कर पाने के लिए उसे अपने चरित्र और चरित्र के गुण अर्थात् नैतिक गुण का आश्रय लेना ही पड़ता है। दूसरी ओर नैतिक गुण की भी विषय वस्तु नहीं दी जा सकती है। यद्यपि कुछ विचारकों ने नैतिक गुणों का वर्णन करने का प्रयत्न किया है, किन्तु इनकी विषय वस्तु सविस्तार तो दी ही नहीं जा सकती है।

नैतिक गुण और उनका वर्गीकरण—कुछ एक विचारकों ने नैतिक गुण और कर्तव्य का विभाजन करने का प्रयत्न किया है। इनके, मतानुसार कुछ एक नैतिक गुण कर्ता के स्वहित से सम्बन्धित होते हैं। इनके द्वारा वह आत्मविकास करता है और अपने व्यक्तित्व को पूर्णता की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार के नैतिक गुणों की श्रेणी मे वे लोग स्वहित, साहस, परिश्रम, संस्कृति, संयम, मितव्ययता आदि को रखते हैं। इनके द्वारा कर्ता स्वयं अपना, अपने स्व का, अपनी आत्मशक्ति का विकास करता है। परहित सम्बन्धी नैतिक गुणों की श्रेणी में वे न्याय और मानव प्रेम को रखते हैं। न्याय से तात्पर्य है सभी मानवों को आत्मोन्नति के लिए, जीवनादर्श तक पहुँच पाने के लिए आदर्श 'स्व' के निर्माण के लिए साधन देना। किसी भी मानव को आत्मोन्नति के लिए साधन न देना उसके साथ अन्याय करना ही है। इस प्रकार के साधन आन्तरिक और बाह्य दोनों ही प्रकार के मिलने चाहिए। किसी भी व्यक्ति की नैतिक आत्मोन्नति के लिए आन्तरिक बाधाएँ नहीं होनी चाहिए और बाह्य परिस्थितियाँ भी सभी के लिए ऐसी होनी चाहिए जिसमें कि उन्हें जीवन, स्वतन्त्रता, वैभव, शिक्षा आदि का उपयोग करने की सुविधा भी हो और इन्हें ठीक प्रकार से समझ पाने के साधन भी सहज ही प्राप्त हो सकें। ऐसा तभी हो सकता है जब कि राष्ट्र सभी प्रकार के परिवर्तनों के लिए उदारता से तत्पर रहे। मानव-प्रेम तो मानव

के स्वभाव में किसी अंश तक है ही, उसकी अभिव्यक्ति भी दो प्रकार से की जाती है। कुछ एक तोऐ से सम्बन्ध हैं जो कि हो ही जाते हैं, जैसे मित्रता, स्वदेश-प्रेम आदि और कुछ हमें जान-बूझ कर रखने पड़ते हैं जैसे ईमानदारी, राजभक्ति, गुरुभक्ति आदि। इन दो श्रेणियों के नैतिकगु णों और कर्तव्यों के अतिरिक्त कुछ बौद्धिक-नैतिक गुण भी होते हैं, जैसे उच्च कोटि की बुद्धिमत्ता, निष्पेक्ष होना, किसी के प्रति सच्चा होना, बुद्धिमत्ता आदि। कुछ सौन्दर्य-सम्बन्धी नैतिक गुण भी होते है और श्रेय के प्रति नैतिक प्रेम तो नैतिक गुण है ही।

मुख्य नैतिक गुण (Cardinal Virtues)—प्लेटो ने नैतिक गुणों को श्रेणीबद्ध करने का प्रयत्न किया था। यद्यपि उस काल की और आज दिन की परिस्थितियों, नैतिक मान्यताओं आदि में भारी अन्तर हो गया है फिर भी वे नैतिक गुण आज भी अपना महत्त्व रखते ही हैं यद्यपि उनके अर्थों में भी देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार अन्तर आ गया है। वस्तुतः इन नैतिक गुण-श्रेणियों को सर्वथा एक दूसरे से भिन्न करके, पृथक् करके देखना कठिन है और यह भी ध्यान मे रखना ही चाहिए कि प्लेटो ने इन्हें 'समाज के गुणों' के रूप में भी देखने का प्रयत्न किया था। ऐसा कर पाने के लिए उन्होंने विभिन्न मानव श्रेणियों को, वर्गों को विभिन्न नैतिक गुण-श्रेणी अथवा वर्ग के निकट रखने का प्रयत्न भी किया था। उन्होंने नैतिक गुणों का वर्गीकरण संयम, साहस और बुद्धिमत्ता में किया है तथा चौथे नैतिक गुण न्याय को उन तीनों में एकता स्थापित करनेवाला नैतिक गुण माना है। अब हम इन नैतिक गुणों की पृथक्-पृथक् चर्चा करेंगे।

संयम—संयम एक ऐसा नैतिक गुण है जो कि मानव के सब ही कर्मों को सन्तुलित और व्यवस्थित करता है, उनका ठीक ढंग से संचालन करता है। यही गुण मानव को अपनी निम्न, पाशविक प्रवृत्तियों के हाथों नहीं खेलने देता और इस प्रकार उनके बहाव में बह जाने के भय से उसकी रक्षा करता है। संयम का अर्थ है निग्रह और निग्रह से तात्पर्य है इन्द्रिय-निग्रह। किन्तु इन्द्रिय निग्रह अपने आपमें तो कोई महत्त्वपूर्ण श्रेय हो ही नहीं सकता है; क्योंकि यदि हम इन्द्रियों को विषय भोग की ओर से हटाना चाहते है तो फिर यह भी तो देखना है कि उसके बदले हम उन्हे किस ओर लगाना चाहते हैं। इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर से हटाने मे हमारा कोई उद्देश्य तो होना ही चाहिए। इन्द्रिय-दमन

अथवा इन्द्रिय निग्रह तो केवल मात्र मानव का अपनी शक्ति को एकत्रित करना है किन्तु उस एकत्रित करने का कुछ उपयोग भी तो होना चाहिए। वस्तुतः उन्हें निम्न कोटि की तृप्ति अथवा सुख का, वासना का साधन मात्र बनाने की अपेक्षा जो कि व्यक्ति के समस्त व्यक्तित्व को अपने ही भीतर समा लेगा उनका उधर से हटाने का उद्देश्य ही यही है कि वह शक्ति जो कि मानव उधर से एकत्रित करेगा उच्च कोटि की तृप्ति प्राप्त करने के लिए उपयोग में लाये और फिर इन्द्रिय निग्रह का अर्थ इन्द्रियों को सर्वथा उनके विषयों से पृथक् कर देना नहीं है वरन् है उन्हे बुद्धि के आधीन कर देना जिससे कि वह अपने कर्मों द्वारा कर्ता के लिए बन्धन न उत्पन्न करे।

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(भग० गी० ३-३४)

अर्थात् इन्द्रिय और उनके विषयों में राग और द्वेष स्वभावतः है अतः इनके वश में न हो जाना चाहिए क्योंकि ये मनुष्य के लिए हितकर नहीं है। क्योंकि :

'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

(भग० गी० ३-३३)

अर्थात् ज्ञानवान् व्यक्ति भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही कार्य करता है। सब ही व्यक्ति अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार ही कार्य करते हैं अतः कोई निग्रह क्या करेगा ?

इसका तो यही तात्पर्य हुआ कि इन्द्रियों को बरबस मारा या दबाया नहीं जा सकता है किन्तु उन्हे शुद्ध बुद्धि के, आधीन करके स्थित-प्रज्ञ हो के ही कर्मरत किया जा सकता है अर्थात् मन की वृत्तियों का नाश न करके उनको अपने लिए लाभदायक बनाया जा सकता है और ऐसा उन्हे शुद्ध बुद्धि के आधीन करके ही किया जा सकता है अतः यही इन्द्रिय-निग्रह से तात्पर्य है। इन्द्रियों के विषय भोग से उनकी तृप्ति होती भी तो नहीं है। भोगेच्छा, वासना और बढ़ती ही जाती है जो कि अन्त में कर्ता को उच्च श्रेयों तक पहुँचने में बाधक ही सिद्ध होती है अतः अच्छा यही है कि इन्द्रियों को संयमित ही किया जाये।

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
(मनु० २. ६४, महा० आ० ७५.४६)

अर्थात् सुखों के उपभोग से विषय-वासनाएँ तृप्त नहीं होती है वरन् विषय-वासना दिनो-दिन उसी तरह से बढ़ती जाती है जैसे कि समिधा से अग्नि की ज्वाला बढ़ती ही जाती है किन्तु इन्द्रियों को उनके विषय-भोगो से हटाने मात्र से ही तो काम नहीं चल जाता है। वस्तुतः निग्रह इन्द्रियों का नहीं वरन् विचारों का, मन का ही किया जाना चाहिए क्योंकि वस्तुतः कर्म का आरम्भ तो 'इच्छा' से ही होता है अतः संयम मन से आरम्भ होना चाहिए। संयम का अर्थ होना चाहिए मनसा, वाचा और तत्पश्चात् कर्मणा संयम। इस प्रकार के संयम का लक्ष्य होना चाहिए मानव-जीवन का ध्येय, उसका आदर्श। सम्भवतः वह आदर्श मानव को उसके आदर्श रूप में देख पाना ही हो सकता है और उसका आदर्श रूप उसका इन्द्रियों, वासनाओं के आधीन होकर दुःखित और बद्धरूप नहीं हो सकता है। वह तो उसका 'स्वाधीन' मानव रूप ही होगा। इस प्रकार के जीवन का आधार मानसिक तथा शारीरिक संयम ही हो सकता है। आज की संस्कृति मे तो हमारे विचारों को भी संयमित करके ही चलना होगा अतः सब प्रकार का संयम मानव-जीवन में एक प्रकार की व्यवस्था, एक प्रकार का संतुलन उत्पन्न कर देगा जो कि उसे उच्च नैतिक भूमि पर ले जा सकेगा।

साहस—संयम मानव को सिखाता है कि उसे क्या नहीं करना चाहिए और साहस उससे वह करवाता है जो कि उसे करना चाहिए। साहस मानव की उन प्रवृत्तियों का सफलता पूर्वक सामना करना है जो कि उसे किसी ऐसे कार्य को करने से रोकती है, जो उचित है किन्तु जिससे तत्कालीन वासनात्मक सुख के पाने की आशा नहीं है। यदि कोई बालक चढ़ी हुई गंगा में गिर पड़ा है तो उसे बचाने के लिए कूद पड़ना हमारा कर्तव्य है किन्तु दुःख की कल्पना अथवा चढ़ी गंगा में प्राण चले जाने का भय हमे उस कार्य को करने से रोकता है जो कि हमारे लिए करना उचित है और ऐसे समय मे साहस उन प्रवृत्तियों को रोक कर उस कार्य का कर डालना है। यह एक प्रकार की मानसिक शक्ति ही है। यद्यपि संयम भी मानसिक शक्ति ही है किन्तु वह है इन्द्रियों को कुछ कर्मो से निवृत्त रख पाने की शक्ति और साहस है उन्हे कुछ एक के कर्मों में प्रवृत्त करने की शक्ति। संयम की भाँति ही साहस की अभिव्यक्ति भी मनसा, वाचा,

कर्मणा होती है। घनी वेदना, कठिन परिस्थितियों और भयंकर संघर्षों के बीच भी ठीक-ठीक कर्तव्य-पथ को जान-पहचान कर उस पर चलते जाना साहस है। दुःख, वेदना, असफलता, मानसिक और सामाजिक संघर्ष आदि के बीच भी अपने नैतिक विश्वासों को, विचारों को दृढ़तापूर्वक लिये दिये ही बढ़ते चलना साहस है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जीवन में किसी एक आदर्श पर दृढ़ आस्था रखना और उस आस्था को सब ही प्रकार के संघर्ष, दुःख और वेदना में भी बनाये रखना साहस कहलाता है और इस प्रकार के साहस के प्रदर्शन की आशा श्रीकृष्ण ने अर्जुन से की थी। इस प्रकार के साहस को मानव का नैतिक गुण मानकर ही गीता में कर्ता को निष्काम कर्म करने का आदेश दिया है, उससे आशा की है कि वह कर्म की सफलता अथवा असफलता को अपना लक्ष्य बनाकर कर्म न करे।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
(भग० गी० ६.१)

अर्थात् कर्मफल की आशा न लेकर जो कर्तव्य करता है वही संन्यासी है, कर्मयोगी है, कर्मों को छोड़ देने वाला व्यक्ति नहीं।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥
(भग० गी० ६.२)

अर्थात् फलाशा का त्याग किये बिना कोई भी कर्मयोगी नहीं हो सकता है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(भग० गी० २. ३८)

अर्थात् सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय को एक सा मानकर युद्ध में लग जा। ऐसा करने से तुझे कोई भी पाप, दोष नहीं लगेगा। यही तो मानव का साहस है। जो व्यक्ति किसी भी कारण से कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं होता, वही साहसी है और सब ही परिस्थितियों में सत्य पथ पर, कर्तव्य पर दृढ़ रहना ही साहस है।

न्याय—वस्तुतः न्याय एक ऐसा नैतिक गुण है जिसका कि व्यक्ति में होना तो आवश्यक है ही समाज में भी इसका प्रसार और व्यवहार होना आवश्यक है। अपने प्रति व्यक्ति का निष्पक्ष होना ही न्यायी होना है किन्तु यदि वह इसी गुण का प्रसार, व्यवहार दूसरों के

प्रति भी करे तो अरस्तू तो यहाँ तक भी मानने को तत्पर है कि वह 'पूर्ण नैतिक गुण' का काम कर सकता है। कारण यह है कि यह मानव का चारित्रिक गुण होने के अतिरिक्त 'मानवादर्श' भी हो सकता है। यह एक ऐसे पूर्ण की ओर संकेत करता है, उसके विचार को लेकर चलता है जिससे कि हमारे सब ही कर्मों का संचालन किया जा सकता है। न्याय का साधारण अर्थ तो निष्पक्ष होना तथा सब ही व्यक्तियों को समान सुविधाएँ देना ही हो सकता है किन्तु इस नैतिक गुण का क्षेत्र केवल व्यक्ति ही नहीं है, समाज भी है। इसी दृष्टिकोण से सामाजिक, राजनीतिक और वैधानिक तथा कानूनी न्याय की चर्चा की जाती है किन्तु ऐसा करते समय हमें यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि न्याय का अर्थ केवल मात्र समानता नहीं है वरन् मानव की आवश्यकता, उसकी शक्ति, उसकी परिस्थितियों आदि को ध्यान मे रखते हुए ही उसे समान सुविधाएँ देना अथवा अन्य व्यक्तियों के समान मानना है। अन्यथा न्याय का केवल मात्र बाह्य रूप ही रह जायेगा उसकी आत्मा समाप्त हो जायेगी क्योंकि 'न्याय' का मुख्य उद्देश्य तो 'पूर्ण' की ओर दृष्टि रखकर निश्चय करना ही है और पूर्ण भी तो अनेकों को लेकर ही बनता है जो कि उसके ही भाग होते हैं। उनका पूर्ण के साथ सम्बन्ध निर्धारित करते हुए उनके स्थान विशेष का भी तो ध्यान रखना आवश्यक है अन्यथा उन्हें स्थान भ्रष्ट करके तो न्याय दिया नहीं जा सकता है। 'न्याय' 'समानता' तो अवश्य दिलाता है किन्तु कोरी निरी समानता ही नहीं दिलाता, मानव सहानुभूति के लिए भी स्थान रखता है, मानव दुर्बलता को भी समझने और समझाने का प्रयत्न करता है। यहाँ केवल मात्र कठोरता और दृढ़ता ही नहीं होती, होता है स्नेह और समझने की इच्छा, नियमों के बाह्य रूप का ही पालन नहीं कराया जाता वरन् उन्हे, उनकी गम्भीरता को, उनके पीछे छिपी हुई सद्‌भावना को समझने का भी प्रयत्न किया जाता है। न्याय का अर्थ केवल मात्र यही नहीं है कि व्यक्ति को पूर्ण के भाग के रूप मे ही देखा जाय वरन् यह भी है कि उसे अपने आप में भी देखा जाये अतः व्यक्ति समाज का भाग तो है ही, व्यक्ति भी है और इस रूप में पूर्ण भी है अतः उसे दोनों प्रकार से ही देखा जाना चाहिए। यहीं से मानव में मानव के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न होता है। सम्भवतः यह सम्मान ही न्याय की भावना का आधार है और यह सम्मान ही तो मानव के प्रति मानव के प्रेम का भी आधार है अतः सामाजिक न्याय और मानव-प्रेम एक दूसरे की विरोधी भावनाएँ, विरोधी नैतिक गुण नहीं

हैं। वरन् सामाजिक क्षेत्र में आकर तो यह दोनों एक दूसरे के बहुत ही निकट आ जाते हैं। मानव-हित, मानव सम्मान को लिये दिये 'न्याय' मानव-प्रेम का सहायक ही होता है, विरोधी नहीं। आज दिन सामाजिक न्याय की चर्चा तो सर्वत्र ही सुनी जाती है अतः न्याय में ही मानवता के प्रति सम्मान और मानव श्रेय की भावना को भी देखा जा सकता है।

बुद्धिमत्ता—संयम, साहस और न्याय का उचित प्रयोग करना ही बुद्धिमत्ता है। वस्तुतः नैतिक जीवन में बुद्धि का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यथार्थ ज्ञान के विना नैतिकता चल ही नही सकती है अतः नैतिक जीवन के लिए श्रेय का ज्ञान, नैतिक नियमों का ज्ञान, मानव-जीवन के उद्देश्य एवं ध्येयादि का ज्ञान होना आवश्यक ही है। हम कह चुके है कि कर्तव्य की खोज करना भी मानव का कर्तव्य है किन्तु खोज कर पाने के लिए भी तो बुद्धि एवं विचारशक्ति की आवश्यकता है ही। किन परिस्थितियों में कितनी दूर तक संयम की आवश्यकता पड़ती है और कहाँ साहस की आवश्यकता होगी तथा न्याय कहाँ किया जा सकता है इन सबका निर्णय करने के लिए बुद्धि की आवश्यकता है। नैतिक गुण व्यक्ति के समाज के साथ, विश्व के साथ सम्बन्ध समझ पाने में ही है, खण्ड के सम्बन्ध पूर्ण के साथ स्पष्ट कर पाने में ही है किन्तु ऐसा कर पाने के लिए भी बुद्धि की आवश्यकता है। वस्तुतः सब ही ओर से सोच-विचार कर अपनी शक्ति, परिस्थितियों आदि के अनुसार अपने लिए दो किनारों के बीच का उचित मार्ग चुनना ही अरस्तु ने मानव के लिए श्रेयस्कर समझा और इस मार्ग के चुनने की शक्ति का नाम विवेक बुद्धि अथवा बुद्धिमत्ता है। वस्तुतः मानव को विभिन्न नैतिक स्थितियों में पड़ना पड़ता है और उनके विषय में निर्णय देने की उसे आवश्यकता पडती है। सम्भवतः विभिन्न प्रकार की नैतिक स्थितियों को समझ पाना और उनके सम्बन्ध में निर्णय कर पाना मानव-चरित्र का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण गुण होता है। यही उसकी बुद्धिमत्ता है। ज्ञान अथवा बुद्धिमत्ता का अर्थ यूनानी विचारकों के लिए सम्भवतः जीवन के ध्येय को समझ पाना और ग्रहण कर पाना तथा पूर्णतया सविस्तर सोच-विचार कर कार्यान्वित करना रहा होगा और सम्भवतः उनके निकट जीवन के ध्येय उतने अधिक अस्पष्ट भी नहीं थे जितने कि आज के मानव के निकट हो गये हैं अतः आज के मानव के लिए बुद्धिमत्ता का अर्थ जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण, नैतिक दृष्टि से मूल्यवान् आदर्श खोज

पाना भी होगा। इस प्रकार के नैतिक आदर्शों का स्वरूप क्या होगा यह तो मानव स्वयं ही खोज कर निर्धारित कर सकेगा किन्तु यदि वह चाहे तो इस प्रकार के आदर्शों की आधार-शिला 'आध्यात्मवाद' में खोज सकता है। पुरातन यूनान में वर्णित तथा भगवद्गीता एवं महाभारत में उल्लिखित इन नैतिक गुणों का आज भी मानव के लिए अत्यधिक मूल्य है तथा इनकी आवश्यकता है यद्यपि देशकाल एवं परिस्थितियों के साथ-साथ उनका रूप, प्रसार और क्षेत्र परिवर्तित होता रहता है और इस प्रकार का परिवर्तन मानव की नैतिक उन्नति का ही द्योतक है।



अध्याय १२

नैतिक उन्नति

नैतिकता पर देश, काल और समाज का प्रभाव— नैतिकता का मुख्य आधार सम्भवत: यह विश्वास है कि नैतिक श्रेय अथवा जीवन में कुछ एक आदर्शों का नैतिक महत्त्व चिरन्तन है। इस विश्वास के आधार पर ही मानव युग-युगान्तर से नैतिकता को महत्त्व देता चला आ रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव सभ्यता के आदि युग से ही नहीं वरन् सम्भवत: उससे भी पूर्व से ही मानव सत्य, शिव और सुन्दर को आदर्श मानता रहा है और सदा सर्वदा मानता रहेगा। उसके मानने का विस्तार-क्षेत्र भिन्न हो सकता है, उसकी मान्यताओं का रूप, उनका स्वरूप विशेष भिन्न हो सकता है किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि कहीं न कहीं उनमें भेद तो रहता ही रहा है और इस भेद का कारण है देश, काल और परिस्थितियों की भिन्नता। इसी आधार पर ऐतिहासिक तथ्यों की ओर देखते हुए हमें यह मानना पड़ता है कि प्रत्येक युग में, प्रत्येक देश मे, प्रत्येक जाति और समाज में नैतिकता का स्वरूप भिन्न-भिन्न रहा है और कहीं-कहीं तो यह भिन्नता इतनी अधिक हो गई है कि एक को दूसरे के विपरीत न रहना भी कठिन जान पड़ता है। जहाँ कि एक ओर तो हम यह कहना, मानना चाहते हैं कि 'नैतिक आदर्श', 'नैतिक माप दण्ड' चिरन्तन है, अनादि है, देशकाल आदि के बन्धनों से मुक्त और चिरमान्य है और दूसरी ओर जब कि हमें विविध देशों और विविध जातियों की विभिन्न कालों की नैतिक मान्यताओं में गहरी भिन्नता दिखाई देती है तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से ही उठता है यदि मानव का 'नैतिक आदर्श' और 'नैतिक मापदण्ड' एक है तो फिर इस विभिन्नता, नैतिक मान्यताओं की विविधता का कारण क्या हो सकता है? आज ही नहीं, सदा सर्वदा मानव एक सामाजिक प्राणी रहा है। उसके कर्तव्य आदि समाज में रहकर ही पूरे किये जाते थे और किये जाते है अत: उन कर्तव्य कर्मों के 'श्रेयत्व' और

'औचित्य' की व्याख्या भी बहुत कुछ उस काल की परिस्थितियों को देखते हुए ही की जा सकती है। आज भी हमारे देश में ऐसे व्यक्ति हैं जो कि अपनी बेटी की ससुराल का जल पीना भी सामाजिक दृष्टि से अनुचित समझते हैं जब कि अन्य लोग इस विचार को सुनकर भी अविश्वास की, खिल्ली उड़ाते हुए हँसी हँस देंगे। यही नहीं, कुछ एक जातियाँ अपने शत्रु के प्राण ले लेना उचित समझेंगे जब कि कुछ एक अन्य जातियाँ उसे क्षमादान देना ही उचित समझती हैं। इस प्रकार के उदाहरणों का हमारे सम्मुख अभाव नहीं है जिनमें कि किसी देश-विशेष में, काल विशेष में जन्म लेते ही असुन्दर बालक की हत्या कर दी जाती थी और ऐसा करना 'श्रेय' एवं 'उचित' माना जाता था यद्यपि उसी देश में कुछ-काल पश्चात् ऐसा करना 'अश्रेय' एवं अनुचित माना जाने लगा। अतः यह मान लेना कि नैतिक स्तर, नैतिक मापदण्ड देश, काल और सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप परिवर्तित होता रहता है कुछ अनुचित न होगा और सम्भवतः परम्परागत नैतिकता, रीत्याचार आदि सम्बन्धी नैतिक स्तर तथा मापदण्ड तो सर्वथा सामाजिक मान्यताओं पर ही आश्रित होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि नैतिकता केवल मात्र सामाजिक सभ्यता का व्यवहारिक रूप मात्र ही है। वह निश्चित रूप से इससे अधिक है। यद्यपि मानव की 'श्रेय' और 'उचित' सम्बन्धी भावनाएँ, विश्वासादि उसकी सामाजिक जातीय सभ्यता, संस्कृति आदि पर, आश्रित रहती है, यह भी सत्य है कि जिस प्रकार व्यक्ति का आचार उसके चरित्र का दर्पण होता है उसी प्रकार किसी भी जाति की सभ्यता उसकी संस्कृति का दर्पण होती है किन्तु केवल मात्र इसी आधार पर नैतिकता को एकबारगी सामाजिक रंग में ही रँगा नहीं जा सकता है। यह तो सत्य है कि समाज के सब ही सदस्य अपनी 'श्रेय' और 'औचित्य' सम्बन्धी कुछ धारणाएँ बना लेते हैं और इन धारणाओं को ही नैतिकता का आधार बनाकर चलते हैं। साधारणतया ये धारणाएँ उस समाज के विश्वासों आदि को लेकर ही बनती हैं किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि नैतिकता वहीं तक सीमित रहती है। यदि ऐसा होता तो विश्व भर में कहीं इन मान्यताओं को परिवर्तित कर सकनेवाले नैतिक नेता, नैतिक क्रान्तिवादी दिखाई ही नहीं देते।

नैतिकता का मुख्य आधार चिरन्तन है—वस्तुतः आचार व्यवहार और कर्मादि का देशकाल के अनुसार परिवर्तित होते रहना ही तो मानव की नैतिक उन्नति का चिन्ह है। यदि ऐसा न हो सकता तब

तो नैतिक स्तर एवं मापदण्ड का महत्त्व ही समाप्त हो जाता किन्तु ऐसा होते हुए भी ये तो केवल मात्र 'उस चिरन्तन आदर्श' 'सर्वोच्च श्रेय' की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मात्र ही हैं। नैतिकता का आधार ये अभिव्यक्तियाँ नहीं है वरन् है उनके भीतर रहनेवाला 'सर्वोच्च श्रेय' जो कि प्रत्येक युग में, प्रत्येक काल में और प्रत्येक देश में सदा सर्वदा रहा ही है। मानव ने कहाँ तक उसे ग्रहण कर पाया है और अब भी कहाँ तक उसे ग्रहण करता रहा है यह वे नैतिक स्तर है जिनसे होकर वह अपने नैतिक उन्नति के पथ पर बढ़ता जा रहा है। युगधर्म के अतिरिक्त मानव धर्म भी तो है ही और जब कि युगधर्म परिवर्तनशील है मानव धर्म तो चिरन्तन है ही। सत्य, शिव और सुन्दर की व्याख्या, उनकी अभिव्यक्ति मानव ने भले ही किसी भी ढंग से की हो आधारभूत तो वे सदा सर्वदा रहे ही अतः यह माना जा सकता है कि युग-परिवर्तन ने विभिन्न देशों में तथा एक देश में भी नैतिक नियमावलियो में भी परिवर्तन किया किन्तु मानव ध्येय और उनके भीतर के चिरन्तन मूल्य तो सत्य, शिव और सुन्दर के ही आधार को लेकर बने रहे। मानव की 'आत्म-ज्ञान' की जिज्ञासा ने उसे सदा ही अपने 'स्व' को एक पूर्ण के ही रूप मे पहचान पाने के लिए प्रेरित किया। समाज के महत्त्व को स्वीकार कर लेना भी एक प्रकार से मानव का समष्टि की ओर, पूर्णता की ओर बढ़ने का ही प्रयत्न रहा अतः मानव की विषय और वस्तु-सम्बन्धी विविधताओं के पीछे भी उसकी सत्य के स्वरूप-सम्बन्धी एकत्व की भावना रही ही। 'पूर्णत्व' की, 'एकत्व' की यह भावना ही नैतिकता का आधार है और यह सदा सर्वदा एक-सी बनी ही रही है यद्यपि इस भावना से उदित होकर भी नैतिकता की विषय-वस्तु, नैतिक नियम और उनका व्यवहार विविधता से भरा हुआ है। वस्तुतः कर्तव्य तो न केवल जाति, देश और काल के अनुसार ही अपना विभिन्न नैतिक मापदण्ड रखता है वरन् उसमें तो एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति से भिन्नता होने की सम्भावना रहती है। कोई भी एक कर्म विशेष मेरा कर्तव्य हो सकता है और सम्भव है कि वही कर्म आपका कर्तव्य न हो। इसीलिए तो मानव का सबसे प्रथम कर्तव्य अपने कर्तव्य की खोज करना ही हो जाता है। प्रत्येक मानव के लिए अपनी परिस्थिति आदि के अनुकूल ही कर्तव्यों की सृष्टि, उनकी व्याख्या होती है और इसी सत्य को गीता में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्॥ (भग० गी० ३. ३५)
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥ (भग० गी० १८.४७)

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् (भग० गी० १८. ४८)

अर्थात् अपना कर्तव्य ही अच्छा है। सदोष होने पर भी पर धर्म, अन्य व्यक्तियों का कर्तव्य अपने कर्तव्य की अपेक्षा किसी प्रकार भी श्रेयस्कर नहीं है। जो सहज कर्म है अर्थात् जन्म से गुण कर्म के अनुसार अपना कर्म नियत हो गया है उसे सदोष हो तो भी छोड़ना नहीं चाहिए किन्तु कर्तव्यों में विभिन्नता, विविधता होते हुए भी, प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य उसकी परिस्थितियों और जीवन-क्षेत्र के अपने स्थान के अनुसार होते हुए भी 'शिवत्व', 'श्रेयत्व' रहता है और यह 'श्रेयत्व' कर्ता तक ही तो सीमित रह नहीं जाता है। वरन् किसी भी कर्म का जीवन के क्षेत्र-विशेष से तथा विशेष परिस्थितियों से सम्बन्धित होना ही तो उसे उस व्यक्ति के लिए, जो उस जीवन-क्षेत्र और परिस्थितियों मे है, 'कर्तव्य' बनाता है। यही कारण है कि एक का कर्तव्य अथवा 'धर्म' दूसरे के लिए हितकर नहीं भी हो सकता है अतः इस दृष्टिकोण से तो 'धर्म' अथवा 'कर्तव्य' का 'स्व' से सम्बन्धित होना अत्यन्त आवश्यक है और बिना इस प्रकार का सम्बन्ध हुए काम भी नहीं चलेगा किन्तु एकत्व की स्थापना तो वहाँ होती है जहाँ कि कर्म का उदय 'सात्विक बुद्धि' से होता है। बुद्धि की सात्विकता तो प्रत्येक युग, देश, जाति तथा परिस्थिति विशेष में आवश्यक है और शुद्ध बुद्धि होने पर कर्तव्य कुछ भी हो, उसकी सामाजिक पृष्ठ भूमिका कुछ भी हो, उसके पालन करने का ढंग भी चाहे जो हो, उसे करके अनन्त सुख की प्राप्ति तो की ही जा सकेगी, 'पूर्णत्व' को प्राप्त करने के पथ पर बढ़ा तो जा ही सकेगा अतः 'पूर्णत्व' तक पहुँचने का आदर्श तो सदा मानव के निकट चिरन्तन सत्य की भाँति ही प्रतिभासित होता रहा है। सामाजिक परिस्थितियों की विविधिता, विभिन्नता और विषमता हमारे सामाजिक नैतिक नियमों और उनके विस्तार को प्रभावित कर सकती है किन्तु 'पूर्णत्व' के उस आदर्श को प्रभावित नहीं करती है जिनमें कि मानव सत्य, शिव और सुन्दर की प्राप्ति करता है। कर्त्तव्यों की सामाजिकता तो नैतिकता का एक पक्ष ही है किन्तु सर्वांग तो है नहीं। दूसरा पक्ष सम्भवतः इससे कहीं अधिक गहन और गम्भीर है अतः साधारणतया तो कर्तव्य को 'मानव-समाज का स्वीकृत एवं मान्य श्रेय' माना जा सकता है किन्तु उसके श्रेयत्व का एक मात्र आधार यही नहीं है, यह भी हमें स्मरण रखना ही चाहिए। नैतिक स्तर एवं मापदण्ड का तो पूर्ण महत्त्व है ही क्योंकि नैतिकता चरित्र का वह स्वरूप मात्र ही नहीं है जो कि समय समय पर सामाजिक मान्यताओं के आधार पर

स्वीकृत किया जाता है और व्यक्ति का श्रेय सदा सर्वदा वही नहीं है जो कि किसी भी उस समाज का श्रेय है जिसका कि वह एक सदस्य है। वस्तुतः मानव का हित किसी समाजविशेष के हित से ही सम्बन्धित नहीं है क्योंकि समाज-विशेष के हित तो परिवर्तित होते रहते हैं और मानव सामाजिक जीव होते हुए भी एकबारगी एकान्त रूप से 'सामाजिक जीव' मात्र ही नहीं है। अतः उसके हित का सम्बन्ध मानवता की विश्वव्यापी नैतिक व्यवस्था के साथ भी होना चाहिए और सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को लेकर गीता में व्यक्ति के कर्तव्य को उसका 'निजी' 'स्वधर्म' ही माना है जब कि उसके अन्तिम ध्येय को उससे कहीं अधिक विस्तृत, व्यापक और उदार अर्थात् पूर्णत्व में, एकत्व में लय हो जाना ही माना है। हो सकता है कि यह अवस्था हमें आचार शास्त्र के क्षेत्र से निकाल कर आध्यात्मिक क्षेत्र मे ले जाये जिसका आधार कर्मयोग के अतिरिक्त ज्ञान अर्थात् 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' हो अथवा भक्ति द्वारा पूर्ण के साथ लय हो जाना हो जैसा कि गीता में स्पष्ट ही है।

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (भग० गी० १८. ६६)

अर्थात् सब धर्मों को त्याग कर तू मेरी ही शरण में आ। मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, भय मत कर। यह तो मानना ही होगा कि नैतिकता का मुख्य आधार अर्थात् मानवादर्श जो कि विश्व ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण स्वरूप को ग्रहण करना अर्थात् 'सच्चिदानन्द' की प्राप्ति करना तथा सत्य, शिव और सुन्दर को जीवन के प्रत्येक क्षण में स्वाभाविक रूप से ग्रहण कर पाना है, वस्तुतः चिरन्तन है।

नैतिक उन्नति—यद्यपि यहाँ पर हमारा उद्देश्य आचारशास्त्र और भक्ति तथा तत्त्वज्ञान के परस्पर सम्बन्धों को स्पष्ट करना नहीं है फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वे सब भी सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्ध रखते हैं और आचारशास्त्र को भी विश्व के 'सम्पूर्ण रूप में' अध्ययन से पृथक् करके, अनन्त सत्य की खोज से पृथक् करके, चिरन्तन तत्त्व की खोज से भिन्न करके अध्ययन का विषय नहीं बनाया जा सकता है। जीवन सम्पूर्ण है और कर्म का आधार ज्ञान और विश्वास होता ही है अतः जीवन के एक अंग को दूसरे से एकबारगी पृथक् कर देने पर उसका सम्पूर्णरूपेण अध्ययन तो किया नहीं जा सकेगा किन्तु इतना तो निर्विवाद सत्य है कि सभ्यता और संस्कृति के विकास अथवा वैज्ञानिक युग और वैज्ञानिक सभ्यता के विकास ने मानव के जीवन और

तत्सम्बन्धी मूल्यों के विषय में धारणाएँ परिवर्तित कर दी है। यद्यपि यह कहना तो निर्विवाद सत्य नहीं है कि इस प्रकार के परिवर्तित मूल्य नैतिक दृष्टि से मानव को ध्येय की ओर ले जाने में सहायक ही होते हैं किन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि मानव की सामाजिक प्रवृत्तियों का एक दिशा विशेष में विकास होता जा रहा है। यूरुप के समाज, सभ्यता और संस्कृति पर तो युग-परिवर्तन का गहरा प्रभाव पड़ा है यद्यपि नैतिकता के आधार प्रमुख नैतिक गुण वहाँ भी आज भी प्राय: वही माने जाते हैं जो कि प्राचीन यूनान के विचारकों के लिए मान्य थे। फिर भी उनकी व्यवस्था आदि मे यथेष्ट परिवर्तन हो गया है और सम्भवत: होता जायेगा। अत: आज यूरुप के नैतिक विचारकों के सम्मुख यह प्रश्न आता है कि क्या मानव नैतिक उन्नति के पथ पर चल रहा है। विशेपतया उस अवस्था मे जब कि हम यह मान लेते है कि नैतिक नियम और नैतिक स्तर तथा मापदण्ड समाज, संस्कृति आदि से सम्बन्धित सत्य ही होते हैं तो फिर हमें यह विचारने के लिए विवश हो जाना पड़ता है कि क्या इन परिवर्तनशील, विभिन्न नैतिक सामाजिक व्यवस्थाओं की आधार-शिला कोई ऐसा सिद्धान्त है जो कि इन्हे पूर्णत्व एवं एकत्व प्रदान करता हो और यदि कोई एक ऐसी इन सब बिखरी हुई व्यवस्थाओं की पृष्ठ भूमिका है तो उससे व्यक्ति का क्या और कैसा सम्बन्ध है अथवा हो सकता है?

हमने यह देखा कि सदा सर्वदा मानव नैतिक विचार रखता रहा है और नैतिक निर्णय भी देता रहा है। कभी और किसी भी युग मे, यहाँ तक कि मानव सभ्यता के पूर्व के तथा मानव सभ्यता के आदि काल में भी मानव की 'श्रेय' और 'उचित' सम्बन्धी मान्यताएँ रही ही हैं ऐसा हमारा विचार है। हमने यह भी देखा कि यद्यपि देश, काल और सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार मानव की नैतिक मान्यताएँ परिवर्तित होती रही हैं फिर भी उनमें कहीं एक ऐसा व्यापक सिद्धान्त रहा ही है जो कि उन्हें एक ओर तो मानव-जीनव के साथ सम्बन्धित किये रहा है और दूसरी ओर जीवन की व्यापकता और पूर्णता की ओर नैतिक दृष्टि से उसका ध्यान आकर्षित करता रहा है। हमने अन्त में यह भी देखा कि मानव जिस आदर्श को, नैतिक आधार को चिरन्तन मान पाता है वह एक तात्त्विक अथवा दार्शनिक सत्य है। यदि यही सत्य मानव के लिए नैतिकता का विश्वव्यापी आदर्श हो सकता है तो क्या वे विभिन्न आदर्श जिनकी चर्चा हमने अब तक की है इस पूर्ण के अंश है और यदि ऐसा मान ही लिया जाये तो क्या यह 'पूर्णादर्श' भी ऐसा है जो कि सामाजिक प्रभावों से अछूता ही रह सकता

है। यदि ऐसा मान भी ही लें तो क्या यह भी माना जा सकता है कि विश्व उसी पूर्णादर्श की ओर बढ़ रहा है ?

मानव ने आज दिन तक सामाजिक उन्नति तो की है। साधारण आदिम मानव से चलकर आज हम सभ्य नागरिक के घने और उलझे हुए जीवन तक पहुँच गये हैं। मानव ने एकाकी जीवन से पारिवारिक जीवन, ग्राम्य जीवन से नागरिक जीवन और कृषि-प्रधान जीवन से औद्योगिक जीवन की ओर पग बढ़ाया। यही नहीं, उसने राष्ट्रीय जीवन से विश्व साम्राज्य के नागरिक जीवन तक पहुँच पाने का प्रयत्न करना भी आरम्भ कर दिया है। उसने अपने स्व-प्रेम को परिवार के सदस्यों को प्रेम करने से आरम्भ करके नगर, जाति और राज्य से होते हुए आज विश्व-प्रेम, मानव-प्रेम तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। व्यक्ति और समाज प्रायः दोनों ने ही इस प्रकार अपनी संकुचित सीमाओं से निकलकर अधिकाधिक उदार होने का प्रयत्न किया है। क्या इन सबको देखते हुए हम यह मान सकते हैं कि मानव नैतिक उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है ? क्या हम यह मान लें कि वह उस पूर्णादर्श की ओर बढ़ रहा है ? इन प्रश्नों का उत्तर देने से पूर्व हमे यह समझ लेना चाहिए कि हम उन्नति से क्या समझते हैं। अरस्तू के मतानुसार तो उन्नति का अर्थ है निम्नतर से उच्चतर की ओर अग्रसर होना। वस्तुतः पूर्णादर्श तो असीम ही हो सकता है और ऐसी अवस्था में पूर्णादर्श की ओर बढ़ने का तात्पर्य होना चाहिए निस्सीम की ओर अग्रसर होना। विकासवादी सिद्धान्तों ने यद्यपि मुख्यतः अन्य दिशाओं मे ही कार्य किया है किन्तु उनके आधार पर यह आशा तो की ही जा सकती है कि मानव अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ रहा है। और यही उसकी आन्तरिक आकांक्षा भी है इसी भाव से तो सम्भवतः वह कह पाता है :—

"असतो मा सद्गमय; तमसो मा ज्योतिर्गमय; मृत्योर्माऽमृतं गमय"

अर्थात् अभाव से मुझे भाव में, अन्धकार से प्रकाश मे और मृत्यु से अमरत्व में ले चलो और इसी भाव से स्पेन्सर इस आश्वासन पर कि उन्नति का, विकास का नियम विश्व के सब ही तथ्यों में से अधिक निश्चित है, नैतिक उन्नति के पथ पर चलकर पूर्ण अथवा दुःखरहित विश्व ले आने की आशा करते है। सम्भवतः इस प्रकार का आश्वासन ही टेनीसन से कहलाता है कि युग-युगान्तर मे एक उन्नतिशील उद्देश्य ही चलता जाता है। सम्भवतः निम्नतर से उच्चतर की ओर अग्रसर होने का तात्पर्य है आदर्श की ओर निरन्तर बढ़ते जाना। हम जितना ही आदर्श

से दूर परे रहते हैं उतना ही उन्नति-पथ पर पिछड़े रहते हैं। उन्नति का अर्थ ही यह है कि हम आदर्श की ओर बढ़ें और इस प्रकार बढ़ना हमें निम्न-तर से उच्चतर की ओर ले जाने वाला होगा ही जब कि उच्चतम होगा वह आदर्श जिस तक हमें पहुँचना है। अब यदि यह मान ही लिया जाये कि मानव नैतिक उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है तो कठिनाई यह होगी कि इस प्रकार की उन्नति का कोई काल निर्धारित नहीं किया जा सकता है, और काल निर्धारित करना इसलिए भी कठिन है कि मानव की उन्नति को मानव द्वारा स्वीकृत और मान्य काल की परिधि मे कैसे बाँधा जा सकता है यह सोचना भी कठिन है क्योंकि मानवोन्नति के लिए ऐतिहासिक काल की सीमाएँ अत्यन्त ओछी पड़ जायेंगी। इसके अतिरिक्त इस उन्नति का मापदण्ड भी तो निर्धारित कर पाना अत्यन्त कठिन है जैसा कि हम देख ही चुके हैं। फिर भी व्यक्ति और समाज दोनों के ही जीवन में उन्नति के, विकास के चिन्ह दिखाई देते हैं। व्यक्ति सर्वप्रथम 'श्रेय' अथवा 'उचित' की व्यख्या गुरुजनों के निकट पाता है। बालक यह सुनता और सीखता है कि यह अच्छा है और वह बुरा है। वह सीखता है कि यह करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिये। यह होता है रीत्याचार, व्यक्ति की प्रारम्भिक नैतिक धारणाओं-सम्बन्धी शिक्षा। इसके साथ ही साथ व्यक्तित्व का विकास व्यक्ति को विचार-धाराएँ भी देता है और अन्तर्द्वन्द्व भी, जिनसे कि उसे अपनी अपूर्णता का आभास होता है और वह पूर्णता तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील होता है। अब पुरातन धारणाओं और मान्यताओं के प्रति विश्वास उत्पन्न करके की मानव स्वयं भी सोचता विचारता, विवेक-बुद्धि से काम लेकर सिद्धान्तों का आधार लेकर आव-श्यकतानुसार परिस्थितियों को परिवर्तित करके कर्म करना सीखता है और यह होता है उसका विचारजन्य आचार किन्तु यहीं तक तो उसकी नैतिक उन्नति की चरम सीमा नहीं हो जाती है। बुद्धि को एकबारगी शुद्ध करके, स्थितप्रज्ञ हो जाने पर उसे विशेष सोच-विचार भी नही करना पड़ता और फिर जो भी कर्म उससे बन पड़ता है वह 'श्रेय' ही, 'उचित' ही होता है। यह है उसका कर्मयोग। अतः व्यक्ति भी अपने जीवन मे नैतिक उन्नति के पथ पर बढ़ता है। सामाजिक संस्थाओं ने तो उन्नति की ही है। परिवार से जाति, नगर, समाज, राष्ट्र, देश और फिर विश्वसाम्राज्य की कल्पना इसी प्रकार की उन्नति की द्योतक है। यही नही, इन सामाजिक संस्थाओं का केवल मात्र समूह न होकर पूर्णत्व के आदर्श की ओर बढ़ने की चेष्टा

करना भी यही दर्शाता है कि ये नैतिक उन्नति के पथ पर बढ़ रही हैं। यही नहीं, नैतिक गुणों की व्याख्या भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म और गहन होती जा रही है जैसा कि हम देख ही चुके हैं। विश्व के सभ्य कहलानेवाले देशों में भी 'श्रेय' और 'उचित' सम्बन्धी विचार अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म, उदार और गम्भीर होते जा रहे हैं अतः व्यक्ति और समाज दोनों ही रीत्याचार से आरम्भ करके नैतिक नियमों की प्रतिष्ठा करते हुए नैतिक ध्येय, नैतिक आदर्शों की ओर बढ़ते हैं। श्रवण, मनन और निदिध्यासन उनकी नैतिक उन्नति के सोपान हैं किन्तु नैतिक उन्नति हुई है, हो रही है इसी लिए होती भी रहेगी यह तो कोई तर्क नहीं है। अतः नैतिक उन्नति को एक सम्भावना अथवा विश्वास तो माना जा सकता है किन्तु निश्चित तथ्य नहीं माना जा सकता है। यद्यपि आज विश्व के मानव के अन्तर में नैतिक विचारों को लेकर अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो रहे हैं किन्तु वे उसे नैतिक उन्नति के पथ पर अग्रसर करेंगे ही यह तो निश्चित है नहीं। फिर भी अब तक के मानव-इतिहास पर दृष्टि डालकर यह तो कहा ही जा सकता है कि व्यक्ति और समाज दोनों ने ही योरुप में नैतिक उन्नति की है। प्राचीन सभ्यताओं में, यद्यपि इधर भले ही कुछ समय से मौन ही का साम्राज्य रहा हो किन्तु वहाँ भी नैतिक उन्नति के चिन्ह पाये जाते हैं अतः जान पड़ता है कि मानव अपूर्ण से पूर्ण, अनित्य से नित्य और अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ रहा है।

नैतिक उन्नति-सम्बन्धी विश्वास सन्देहास्पद है—

हेनरी एडमस के मतानुसार वह मान्यता जिस पर कि नैतिक उन्नति सम्बन्धी विचार आधारित है, भ्रमपूर्ण है। कुछ एक विचारकों का तो यह भी कथन है कि अब तक मानव की नैतिक उन्नति के लिए यथेष्ठ काल उसे प्राप्त हो चुका है तब वह अभी तक पूर्ण क्यों नहीं हो पाया। यही नहीं, कुछ एक भौतिक वैज्ञानिक तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि सृष्टि तो अब समाप्त ही होनेवाली है और वैसी दशा में नैतिक उन्नति का क्या अर्थ रह जायगा। वस्तुतः यह कहना तो नितान्त भ्रमपूर्ण है कि मानव की पूर्ण नैतिक उन्नति के लिए उसके पास पर्याप्त समय रहा है। सम्भवतः इस प्रकार का कोई काल मापदण्ड तो निश्चित किया ही नहीं जा सकता है। वैज्ञानिकों का भी यदि यह कथन हो कि सृष्टि समाप्त होने वाली है तो इससे यह तो निश्चित हो ही नहीं जाता कि विश्वव्यापी नैतिक जीवन भी समाप्त हो जायेगा। हो सकता है कि नैतिक जीवन अनश्वर हो और फिर विज्ञान भी तो अभी तक अपूर्ण ही है। प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के

मतानुसार क्या यह नहीं माना जा सकता कि न जाने कितनी सृष्टियाँ बनती और नष्ट होती रहती हैं। सृष्टि और प्रलय का यदि क्रम होता ही हो तो इससे यह नहीं कहा जा सकता कि नैतिक उन्नति का विचार ही भ्रमपूर्ण है और फिर हमारे पास ऐसा भी तो कोई प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर हम नैतिक उन्नति को अप्रमाणित कर सकें।

युद्धों की चर्चा इस सम्बन्ध में भी जाती है। क्या युद्ध मानव की नैतिक उन्नति के द्योतक हैं? यदि मानव नैतिक उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है तो युद्धों का अन्त वह अभी तक क्यों नहीं कर पाया? यद्यपि ये प्रश्न मानव को निराशा की ओर तो ढकेलते है किन्तु निश्चित रूप से यह तो प्रमाणित नहीं कर पाते है कि मानव नैतिक उन्नति के पथ पर नहीं चल रहा है। इतना तो मानना ही पड़ता है कि आज दिन मानव विभिन्न नैतिक व्यवस्थाओं और उनके आधारों को पूर्णता की ओर ले जाने के लिये प्रयत्नशील है। वह एक ऐसे व्यापक आदर्श, एक ऐसी सर्वमान्य नैतिक व्यवस्था की ओर बढ़ रहा है जिसका आधार और महत्त्व सामाजिक व्यवस्था नहीं है वरन् जिसके आधार पर सामाजिक मूल्यादि महत्त्व प्राप्त करते है और जो सामाजिक व्यवस्था को नैतिक आधार-शिला प्रदान करती है।



अध्याय १२

आचार-शास्त्र की कुछ समस्याएँ

व्यक्ति के लिए नैतिक-पथ प्रदर्शन—आचार-शास्त्र मानव को नैतिकता का व्यापक स्वरूप दिखाता है। अब प्रश्न यह होता है कि क्या आचार-शास्त्र व्यक्ति को उसके पथ का निर्देशन भी कर पाता है? यदि वह ऐसा नहीं कर पाता है तो फिर उसकी क्रियात्मक उपयोगिता ही क्या है? वस्तुत: आचार-शास्त्र की क्रियात्मक उपयोगिता उसके नैतिक सिद्धान्तों आदि की चर्चा करने मे ही है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या कोई ऐसा नैतिक शास्त्र भी हो सकता है जो कि हमें केवल मात्र व्यापक नैतिकता का स्वरूप ही न दिखाकर व्यक्ति-विशेष को कर्तव्य-सम्बन्धी विशेष कठिनाइयों को लेकर उसे उनका हल खोजकर दे। यद्यपि आचार-शास्त्र का उद्देश्य व्यक्ति के लिए नैतिक पथ का प्रदर्शन करना ही है किन्तु ऐसा कर पाना किसी के लिये भी सम्भव नहीं हो पाता है।

ब्रेडले के विचार मे तो आचार-शास्त्र का प्रयोग व्यक्ति के लिए नैतिक पथ-प्रदर्शन करके करना सम्भव नहीं है। ऐसा करने का प्रयत्न करके हम व्यवसायी नैतिक पथ प्रदर्शकों का एक वर्ग मात्र ही तैयार कर देंगे और उसके कुपरिणामों के उदाहरण आज भी यूरुप में मिल सकते हैं। यद्यपि रॉशडाल और मूर का तो विचार है कि व्यक्ति के लिये पथ-प्रदर्शन सम्बन्धी शास्त्र के विपक्ष में हम लोग केवल इसी कारण हो गए हैं कि उसका सम्बन्ध अनैतिक और व्यवसायी व्यवस्थाओं के साथ हो गया था अन्यथा इसकी आवश्यकता तो है ही क्योंकि यह व्यक्ति के लिए साधारण आचार-शास्त्र की अपेक्षा कहीं अधिक लाभदायक और निश्चित पथ-प्रदर्शक हो सकता है। एक और कठिनाई यह भी है कि तर्क भी तो पक्ष और विपक्ष दोनों मे ही दिए जा सकते हैं। व्यवसायी नैतिक पथ-प्रदर्शकों के हाथ में पड़ कर कहीं उनके तर्क के द्वारा साधारण व्यक्ति की दुर्दशा ही न हो जाए, यह भी एक भय तो है ही और फिर इस प्रकार के पथ-प्रदर्शक के पास भी तो उन्हीं नैतिक नियमादि का ही आधार एवं मापदण्ड होगा जो कि आचार-शास्त्र द्वारा उसे प्राप्त होंगे। इनकी सहायता से यदि वह किसी भी

व्यक्ति का नैतिक पथ-प्रदर्शन कर सकता है तो भला वह व्यक्ति स्वयं ही अपने लिए नैतिक पथ क्यों नहीं खोज पाता है ? वस्तुतः कर्ता को अपना ध्येय निश्चित करके उसके अनुरूप साधनों की खोज करना पड़ता है और फिर उन साधनों के द्वारा ध्येय की ओर बढ़ना होता है। ध्येय के लिए साधनों की खोज का तो यह अर्थ है कि ध्येय और साधनों सम्बन्धी ज्ञान भी स्वयं कर्ता को ही हो। यदि वह ज्ञान कर्ता को नहीं है और वह केवलमात्र दूसरे के प्रदर्शित पथ पर चलता ही जाता है तो उसकी नैतिकता कहाँ रही। नैतिकता तो वास्तव में अपना पथ स्वयं खोजने में ही है। यद्यपि अपना कर्म खोजते हुए कर्ता के सम्मुख कभी-कभी कठिन समस्याएँ आ जाती हैं। ऐसी ही एक कठिन समस्या मोहान्ध अर्जुन के सम्मुख आई थी और उसका हल वह श्रीकृष्ण जैसे ज्ञानी गुरु की सहायता से खोज पाया अतः मानव को, व्यक्ति को वास्तविक जीवन में गुरु की आवश्यकता तो होती है किन्तु गुरु भी तो व्यक्ति को उचित मार्ग पर ले जाकर खड़ा कर दे, इतना ही पर्याप्त है। इससे अधिक करने की चेष्टा करने पर तो शिष्य की नैतिकता ही समाप्त हो जायेगी। श्रीकृष्ण ने भी तो अर्जुन को उपदेश देकर अन्त में यही कहा है कि

'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।' (भग० गी० १८.६३)

अर्थात् जो कुछ मैंने तुझे बताया है उस पर विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि कर्ता को कर्म सम्बन्धी यथोचित ज्ञान नहीं है तो गुरु का कार्य केवल इतना ही है कि वह उसे परिस्थिति समझा दे, यथोचित ज्ञान दे दे और तत्पश्चात् कर्म सम्बन्धी निर्णय कर्ता पर ही छोड़ दे। अतः गुरु यदि कोई कार्य कर सकता है तो केवल मात्र वह कार्य पथ की दिशा की ओर संकेत करना ही है। शेष सब कुछ अर्थात् पथ की खोज तो व्यक्ति को स्वयं ही करना होगा किन्तु पथ की दिशा की ओर संकेत करना तो सचमुच व्यक्ति के लिए पथ का निर्देशन करना नहीं होगा और वस्तुतः वैसा कर पाना अत्यन्त कठिन भी है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति निजी समस्याएँ, परिस्थितियाँ आदि स्वयं ही ठीक प्रकार से समझ सकता है। गुरु को तो वह केवल उन सबके विषय में बता ही सकता है और यह आवश्यक नहीं है कि गुरु कर्ता से ही जो कि सम्भवतः मोहान्ध है उसकी बाह्य और आन्तरिक परिस्थितियों आदि का वर्णन सुन कर उन्हें ठीक ढंग से समझ सके। अतः व्यक्ति को तो स्वयं ही अपने पथ की खोज करना चाहिए। फिर भी गुरु 'समस्याओं के वर्गों' का हल उपस्थित कर सकते हैं अर्थात् यह बता सकते हैं कि इस

प्रकार की अथवा इससे मिलती-जुलती परिस्थितियों में यह किया जा सकता है अथवा इस प्रकार करना उचित होगा। वस्तुतः कथा रूप में दिए गए सब ही उपदेशादि यही कार्य करते हैं। अतः पथ भ्रष्ट होने पर व्यक्ति को बचाने के लिए गुरु भी एक अच्छा रक्षाकवच हो सकता है किन्तु उस अवस्था मे भी यह तो स्पष्ट ही है कि गुरु केवल मात्र दिशा संकेत ही कर सकता है यद्यपि उस समय दिशा संकेत का भी महत्व होता है। अतः आचार-शास्त्र को तो नैतिकता के व्यापक स्वरूप से ही सम्बन्धित रहना चाहिए। उसे व्यक्ति की समस्याओं को सुलझाने की न तो सुविधा ही है और न उसके लिए अवसर ही किन्तु नैतिक गुरु व्यक्ति की समस्याओं को वर्गबद्ध करके उनके हल खोज सकते हैं और उन्हें व्यक्ति के सम्मुख रख सकते हैं। फिर यह व्यक्ति का ही काम है कि उनसे लाभ उठाये। यद्यपि गुरु का भी काम आवश्यक रूप से यह नहीं है कि प्रत्यक्ष रूप से शिष्य की रक्षा ही करे। सम्भवतः इसी कठिनाई को देखते हुए महाभारत में धर्म निर्णय के एक मार्ग के विषय में प्रश्न किए जाने पर युधिष्ठिर उत्तर देते हैं—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(म० भा० व० प० ३१२.११५)

अर्थात् तर्क पूर्णतया निश्चित तो है नहीं अर्थात् तीव्र बुद्धिवान किसी भी पक्ष में तर्क को लगा सकता है। श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न आदेश देती हैं फिर स्मृति आदेशों को ही किस प्रकार प्रमाण भूत माना जाए। धर्म का मूल तत्त्व समझना भी कठिन है अतः महान पुरुष जिस पथ पर चल कर गए हों वही नीति मार्ग है। किन्तु यह मार्ग भी तो सर्वथा दोष रहित नहीं है अतः महाजनों के कर्मों में से भी श्रेय और उचित कर्मों का चयन करना कभी-कभी आवश्यक हो जाता है और उसके लिए मानव को अपनी बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता है :—

अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम।

अर्थात परस्पर विरोध होना किसी भी धर्म को निश्चित रूप से मान्य स्वीकार नहीं करने देता है। और ऐसी अवस्था में

'विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत्॥

(म० भा० व० १३१.११,१२. मनु० ६. २६६)

अर्थात् ऐसी अवस्था में परस्पर विरुद्ध धर्मों की लघुता अथवा गुरुता के,

निम्न अथवा उच्च होने के आधार को लेकर अपनी बुद्धि द्वारा सत्य धर्म का निर्णय करना चाहिए।

इससे यह तात्पर्य निकलता है कि किसी भी अवस्था में कर्ता को अपनी बुद्धि का प्रयोग तो करना ही पड़ता है। अतः गुरु उसका केवल मात्र सहायक ही हो सकता है, पूर्ण रूपेण पथ-प्रदर्शक नहीं क्योंकि ऐसा होने पर तो व्यक्ति, कर्ता अपने कर्म की नैतिकता ही खो बैठेगा।

आत्म-स्वातन्त्र्य—आचार-शास्त्र के कुछ मान्य सत्यों (Postulates) में से आत्म-स्वातन्त्र्य भी एक है। यूँ तो हम देख ही चुके हैं कि व्यक्ति कर्म सम्बन्धी इच्छा करने के समय अपने चरित्र, परिस्थितियों आदि से प्रभावित होता ही है किन्तु उसे इतनी स्वतन्त्रता तो है ही कि वह अपने चरित्र आदि को उन्नत कर सके। तिस पर भी आत्म-स्वातन्त्र्य तो केवल मात्र कर्ता के कर्म चयन अथवा तत्सम्बन्धी इच्छा तक ही सीमित है। वस्तुतः आत्म-स्वातन्त्र्य की समस्या हमें 'आत्मा' के स्वरूप की खोज की ओर ले जाती है और वह आध्यात्मिक क्षेत्र हो जाता है। यदि हम कर्ता अथवा 'स्व' सांख्य के पुरुष को मान लें तब तो वह पूर्णतया अकर्ता ही हो जायेगा क्योंकि मूलतः वह न तो कर्ता ही है और न भोक्ता ही। जब वह अपने आपको प्रकृति के साथ एक मान कर देखता है तब ही वह अपने आप को कर्ता समझने लगता है और फल-स्वरूप दुःख सुख प्राप्त करता है। किन्तु वस्तुतः यथार्थ में वह मुक्त ही है :—

न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ॥

(सां० द० १.१६)

अर्थात्—नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव पुरुष को बिना प्रकृति से सम्बन्ध के बन्धक योग नहीं होता है अर्थात् बन्धन नहीं होता है।

न कर्मणाऽप्यतद्धर्मत्वात् (सां० द० १.५२) कर्म से बन्ध नहीं क्योंकि वह पुरुष का धर्म नहीं है।

अहंकारः कर्ता न पुरुषः (सां० द० ६.५४) अहंकार कर्ता है। पुरुष नहीं।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

(भग० गी० १३. २६-३०)

अर्थात् जो व्यक्ति यह समझ लेता है कि यह सब कर्म केवल प्रकृति द्वारा ही सम्पन्न होते हैं और आत्मा अकर्ता है उसी ने सच्चे तत्त्व को

जान लिया है। जब सब प्राणियों का प्रथकत्व एकत्व ही दिखाई देने लगे और यह सब विस्तार इसी से जान पड़े तब ब्रह्म प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था में तो कर्ता 'कर्तृत्व' से ही परे, उच्च भूमिका में पहुँच जायेगा अतः उस अवस्था तक न भी पहुँच कर यदि हम व्यावहारिक सत्ता तक ही रहे तो भी 'पुरुष' अथवा 'आत्मा' को तो 'शुद्ध चैतन्य स्वरूप' मान लेने के पश्चात् किसी भी प्रकार से कर्ता नहीं माना जा सकता है किन्तु उससे पूर्व की स्थिति में अर्थात् उस समय तक जब तक कि मानव मुक्त नहीं होता है, जब तक कि वह अपने स्वरूप को पहचान नहीं लेता है, जब तक कि वह अहंबुद्ध रहता है, जब तक कि वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता है अपने कर्मो का दायित्व उस पर होता ही है और उस अवस्था में भी यद्यपि वह अपने स्वभाव से बद्ध है फिर भी एक ओर तो वह आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र है और दूसरी ओर वह 'चयन' करने में किसी सीमा तक स्वतन्त्र है यदि ऐसा न होता तो यह कैसे कहा जा सकता।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥
(कठ० १.३.२)

अर्थात् जब इन्द्रिय सुख और श्रेय मानव के सम्मुख उपस्थित होते हैं तब समझदार व्यक्ति उनमें से एक को चुन लेता है। जो वास्तव में बुद्धिमान होते हैं वह 'प्रेय' की अपेक्षा 'श्रेय' को चुनना उचित समझते हैं और मन्द बुद्धि प्रेय को ही चुन लेते है।

वास्तव में जीवन का, व्यक्ति का यथार्थ स्वरूप क्या है और सृष्टि में व्यक्ति होने के नाते उसका क्या और कैसा स्थान है तथा कर्म करने में उसे शरीर धारी होते हुए कितनी स्वतन्त्रता प्राप्त है इन सब प्रश्नों के मूल-तत्त्वों को दार्शनिक विवेचना के लिए ही छोड़ कर आचार-शास्त्र केवल इतना ही सत्य मान कर चलता है कि व्यक्ति को किसी सीमा तक तो आत्म स्वातन्त्र्य प्राप्त है और ऐसा मान लेने पर ही तो उसे अपने कर्म का उत्तरदायी बनाया जा सकता है किन्तु यह आचार-शास्त्र के अन्तर्गत एक विचारणीय विषय अवश्य है।

सचतेन-ज्ञान—एक और समस्या आत्म स्वातन्त्र्य के साथ गुँथी हुई ही हमारे सम्मुख आती है। मानव और विश्व के परस्पर सम्बन्धों को निश्चित करना ही यह आवश्यक समस्या है। श्रेयस्कर कर्म तो उन्हीं कर्मों को कहा जा सकता है जो कि जानबूझ कर हमें सत्य एवं श्रेय की ओर ले जाएँ और ऐसा कर पाने के लिए मानव की ज्ञान भावना

और इच्छाओं का भी तो सत्य होना आवश्यक है ? ऐसा किस प्रकार हो सकता है यह जानने के लिए हमें यह भी देखना पड़ेगा कि मानव विश्व का ज्ञान कैसे प्राप्त करता है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखते हुए यदि 'अहं ब्रह्मास्मि' के पूर्व की अवस्था अर्थात् पारमार्थिक सत्ता से नहीं वरन् व्यावहारिक सत्ता के ही दृष्टिकोण से देखा जाए तो मानव विश्व में कैसे वस्तुओं से परिचित होता है, उनका ज्ञान प्राप्त करता है यह भी एक विचारणीय विषय हो जाता है। साधारणतया विचार करने से तो यही जान पड़ता है कि वाह्य संसार सम्बन्धी ज्ञान व्यक्ति को वाहर ही से दिया जाता है। बालक विश्व में आने के पश्चात् ही विश्व सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करता है किन्तु क्या इसका यह अर्थ होगा कि वह आरम्भ में लॉक के विचारानुसार केवल मात्र 'अलिखित पत्र' (tabula rasa) ही होता है। यदि ऐसा होता है तो सम्भवतः उस पर जो कुछ भी लिखा जाता है वह वाह्य रूप की छाप तो होगी ही किन्तु व्यक्ति उसको ग्रहण कैसे कर पाता है। जब कि दूसरी ओर हम देखते हैं कि मानव बाह्य जगत् के सत्य को केवल प्राप्त ही नहीं करता वरन् ग्रहण करता है अतः जान यह पड़ता है कि सत्य को ग्रहण करने की शक्ति उसके ही भीतर होती है। यद्यपि हम वर्कले की भाँति यह भी नहीं कहेंगे कि सत्य केवलमात्र आन्तरिक ही है। वस्तुतः सत्य वाहर और भीतर सब ही कहीं है। सारी सृष्टि एक ही तत्त्व की वनी हुई होने के कारण ही मानव के भीतर बाह्य जगत् का ज्ञान भी ग्राह्य हो पाता है अतः मानव जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त करता है उसका मूल उसकी चेतना में है। सचेतन ज्ञान के कारण ही वह अपने भीतर कर्मेच्छा उत्पन्न कर पाता है। सचेतन ज्ञान ही जब स्वभाव, अन्तर वन जाता है तव उसे अन्तःकरण कह सकते हैं। सचेतन ज्ञान ही मानव को 'श्रेय' और 'अश्रेय' में भेद करने वाली विवेक बुद्धि देता है किन्तु इस सचेतन ज्ञान का मूलस्रोत खोजने के लिए तो हमें तत्त्वज्ञान के पास ही जाना पड़ेगा। आचार-शास्त्र तो इसे मान्य सत्य के रूप में ही स्वीकार कर लेता है।

अन्तिम ध्येय-आदर्श—नैतिकता का अन्तिम ध्येय, मानवादर्श क्या हो, यह भी आचार-शास्त्र के अन्तर्गत एक विचारणीय विषय है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि इसके सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने अपने-अपने मत प्रकट किए हैं और उनमे भिन्नता भी है ही किन्तु इस सब विविधता के पीछे एक प्रकार की 'उद्देश्य की एकता' भी तो है ही। मानव की, विश्व को सम्पूर्ण रूप से समझ पाने, पूर्णता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति यह दर्शाती है कि मानव के लिए यह आशा तो अवश्य है कि वह

कभी न कभी 'नैतिक अन्तिम ध्येय' को, मानवादर्श को उसके पूर्ण रूप में प्राप्त कर सकेगा। और यह आचार-शास्त्र के लिए एक ऐसी समस्या है जिसका कि सुलझाना आवश्यक है तथा उस दिशा में प्रयत्न भी किए जा ही रहे हैं। फिक्ते, शैलिंग, हीगल, ग्रीन, ब्रे डले आदि विचारक इसी दिशा में प्रयत्न करते रहे हैं। फिक्ते आत्म चैतन्य की इसीलिए विशेष चर्चा करते हैं। उनके विचारानुसार अन्तिम सत्य है स्वचैतन्य स्वरूप शुद्ध चैतन्य और यह चैतन्यात्मा ही अपने आपको विविध रूप में प्रकट करता है, स्पष्ट करता है। ऐसी दशा में अनन्त ज्ञान तो इन दोनों को एकाकार करके देखना ही होगा। नैतिक कर्म को वह अमूर्त शुद्ध विवेक बुद्धि की सैद्धान्तिक कठिनाइयों का हल मानते है। वस्तुत: स्व (Ego) तो चेतना और इच्छा सहित कर्ता है और स्वेतर (Non-ego) है प्रकृति। 'स्व' अपनी विवेक बुद्धिजन्य इच्छा के द्वारा कर्म करके स्वेतर के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है किन्तु स्वेतर उसे बन्धन में नहीं डाल पाता है। नैतिक जीवन इसी प्रकार का मानव का प्रकृति के साथ प्रगतिशील संघर्ष है। विचार और कर्म में स्वातन्त्र्य ही सर्वोच्च श्रेय है और शुद्ध ज्ञान तथा उचित कर्म के ही फलस्वरूप स्वातन्त्र्य की उत्पत्ति होती है।

शैलिंग चेतन कर्ता और अचेतन वस्तु के पूर्ण (absolute) में लय हो जाने, एकाकार हो जाने में विश्वास करते हैं किन्तु यह फिक्ते की भाँति यह नहीं मानते कि प्रकृति का अस्तित्व केवल मात्र नैतिक कर्म के ही लिए है वरन वह प्रकृति के अस्तित्व में विश्वास करते है। उनके मतानुसार विचार और कर्म का अन्तिम ध्येय पूर्ण का ज्ञान प्राप्त करना ही है। इसी को आत्म-दर्शन के रूप में भी समझा जा सकता है।

हेगल ने किसी भी पक्ष (thesis) और विपक्ष (Antithesis) को एक पूर्ण में लय होने (Synthesis), स्थान पाने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसी भाव से यह भी माना जा सकता है कि कर्ता और वस्तु, स्व (Ego) औरस्वेतर(Non-ego) दोनों को ही पूर्ण (absolute) में स्थान प्राप्त होगा तब ही तो वह पूर्ण हो सकेगा। मानव की व्यक्तिगत और व्यापक (Individual and universal) दोनों ही प्रकार की इच्छा का एकाकार हो जाना ही तो स्वातन्त्र्य है। वह तो मानव के कोमल प्रवृत्तियों के प्रति झुकाव और धार्मिक प्रवृत्तियों को भी उसके विकास के स्तर ही मानते है जो कि तत्त्वज्ञान में एकाकार हो जाते है। यहाँ तक कि वह 'अश्रेय' को भी मनस के विकास मे एक स्तर मात्र ही

मानते हैं। इतना तो निश्चित ही है कि उनकी आकांक्षा यही थी कि अन्तिम ध्येय को, मानवादर्श को 'पूर्णता' की ओर ले जाया जाय।

ग्रीन ने भी प्रयत्न तो यही किया कि अन्तिम सत्य को एक चैतन्य स्वरूप के ही रूप में लिया जा सके यद्यपि वह इस विचार को 'ईश्वरीय सत्य' (divine spirit) के रूप ही मे ग्रहण कर पाये। फिर भी उन्होंने व्यक्ति के श्रेय और जनश्रेय, स्वहित और परहित को तो व्यापक हित के रूप में एकत्रित करके देखने का प्रयत्न किया ही। विवेक बुद्धि स्व के भविष्य की अवस्था को देख पाती है और इच्छा उसे ग्रहण कर पाती है अतः नैतिक श्रेय अथवा आदर्श की प्राप्ति के रूप मे विवेक बुद्धि और इच्छा एकत्रित हो जाते हैं। इसीलिए तो उनकी दृष्टि मे स्वाधीनता ही स्वतन्त्रता है।

ब्रेडले का पूर्ण (absolute) भी तो सब ही प्रकार की विविधताओं, विरोधादि से उच्च भूमिका पर है और वहाँ तक पहुँच पाने का अर्थ तो स्वभावतः भिन्नता को पीछे छोड़ देना होगा ही। अतः आज यह तो हमे दिखाई दे ही रहा है कि यूरुप के नैतिक एवं दार्शनिक विचारक पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

भारतीय दार्शनिक तो वैदिक काल से लेकर वेदान्त युग तक पूर्णत्व की ओर अग्रसर होने की चेष्टा करते हुए ही दिखाई देते हैं। 'विश्वकर्मन्' 'विश्वेदेवाः' (ऋ० वे० १०) 'वैश्वानरः' से लेकर शंकर के केवलाद्वैत मतानुसार 'ब्रह्म' तक इसी प्रकार का प्रयत्न दिखाई देता है। 'नेति' 'नेति' कह कर ही जिसका वर्णन किया जा सकता है वह ब्रह्म किसी भी गुण द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता है इसीलिए तो सब ही गुण, धर्म, वस्तुएँ उसी एक तत्व में स्थान पाती है और वह 'अव्यक्त' है, 'अज्ञेय' नहीं। पुरुष सूक्त तक मे विविधिता को पूर्णत्व में ही ढालने के प्रयत्न दिखाई देते है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतोमृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥
तस्माद्विराड जायत विराजो अधि पूरुषः...

(ऋग० वे० १०. ९०)

अर्थात् विराट् पुरुष सहस्र शिरों, अनन्त चक्षुओं और अनन्त चरणों वाले है। वह भूमि को चारों ओर से घेर कर ब्रह्माण्ड से बाहर होकर भी

अवस्थित हैं। जो हुआ और होने वाला है सो सब पुरुष ही है। वह देवत्व के स्वामी हैं क्योंकि जीवों के भोग के निमित्त अपनी कारणावस्था छोड़कर जगदावस्था को प्राप्त करते हैं।

उन आदि पुरुष से ब्रह्माण्ड देह उत्पन्न हुई और उससे जीव रूप से पुरुष उत्पन्न हुए। आदि आदि।

ऋगवेद के अन्य स्थलों पर भी ऐसे ही प्रयत्न दृष्टिगोचर होते है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरक एक आसीत्।
सदाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां... (ऋ० वे० १०. १२१)

अर्थात् सर्व प्रथम केवल हिरण्य गर्भ थे। उत्पन्न होने पर वह सारे प्राणियों के अद्वितीय अधीश्वर थे। उन्हों ने इस पृथ्वी और आकाश को अपने अपने स्थानों में स्थापित किया ...। आदि आदि।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।
तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ॥
(छा० ६.२)

अर्थात् आरम्भ में एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उसी के विषय में कुछ विचारक यह भी कहते है कि आरम्भ में एक मात्र अद्वितीय असत् ही था। उस असत् से सत् की उत्पत्ति होती है। किन्तु फिर इसी पर शंका करके कि भला असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है यह माना कि वास्तव में आरम्भ में एक मात्र अद्वितीय सत् ही था 'सत्तेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।' (छा० ६ २) और फिर उसी सत ने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ और फिर उसने विविध प्रकार के तत्त्वों की उत्पत्ति की 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति' आदि (छा० ६. २) इनसे और अन्य इसी प्रकार के बहुत से पदों से यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि वास्तविक रूप में अनन्त सत्य, अन्तिम तत्व उनकी दृष्टि मे एक ही था, पूर्ण था असीम था और था सब ही वस्तुओं, जीवों आदि का मूलाधार।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २.१.१) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३.९.२८) 'अविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ० ३-८-११) वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है। यही नहीं, ज्ञान के अतिरिक्त वह परम आनन्द भी तो है। स्वयं अज्ञात होते हुए भी ज्ञानी है और फिर वही 'अहंब्रह्मास्मि' जीवात्मा से दूर परे कोई पृथक तत्व नहीं है। "तथान्येऽपि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्येवमादय आत्मत्वोपगमा द्रष्टव्याः। ग्राहयन्ति चात्मत्वेनेवेश्वरं वेदान्तवाक्यानि 'एष त आत्मा' सर्वान्तरः" (बृ० ३. ४. १) 'एष त आत्माऽन्त-

र्याम्यमृतः' (बृ० ३.७.३) 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६.८.७) 'इत्येवमादीनि।' आदि शंकर के मत को स्पष्ट कर देता है जिसके अनुसार जीवात्मा और ब्रह्म वस्तुतः अभिन्न हैं। (ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्यम् अधि-२. सूत्र ३ भाष्य) 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३.७.३ से २३) तक तो इस मत को स्पष्ट ही प्रतिपादित कर देता है। भगवद्गीता में यद्यपि विभिन्न दार्शनिक विचारों का संकलन और समन्वय किया गया है किन्तु लक्ष्य वहाँ भी पूर्णत्व की ओर ले जाना ही दिखाई देता है तब ही तो वहाँ भी सब ही धर्मों का अन्त में एक ही में समर्पण कर देने का आदेश दिया गया है। अतः इतनी आशा तो की ही जा सकती है कि मानव 'ऋत' अर्थात् पूर्ण नैतिक व्यवस्था सम्बन्धी नियमों को किसी न किसी रूप में प्राप्त कर ही सकता है जब कि वही विश्व ब्रह्माण्ड का सत्य आधार है और जब कि अन्तिम सत्य पूर्णता है भिन्नता नहीं, वरन् भिन्नता भी 'पूर्ण' में ही, ब्रह्म में ही पूर्णत्व को प्राप्त होती है। इसी पूर्णता तक पहुँच पाना मानव का अन्तिम ध्येय, मानवादर्श हो सकता है यद्यपि उसके लिए साधन भले ही कर्मयोग हो अथवा ज्ञानयोग। किसी भी अवस्था में कर्मयोग तो अपने स्थान पर बना ही रहेगा क्यों कि मानव किसी प्रकार भी कर्म त्याग तो कर सकता ही नहीं है।

अमरत्व—आचार-शास्त्र की आवश्यकता क्या मानव को इसी जन्म और इसी शरीर के लिए है। यह भी एक विचारणीय समस्या है। शरीर का पात तो होगा ही तब फिर क्या मानव नैतिक जीवन मात्र इस थोड़े से काल के लिए ही चाहता है जो कि उसे इस शरीर को लेकर व्यतीत करना है? वस्तुतः ऐसा मान कर मानव चल ही नहीं सकता है। इस जीवन की समाप्ति के पश्चात हम किसी और जीवन को सत्य मान कर ही तो श्रेय की प्राप्ति करना चाहते है अतः किसी न किसी रूप में हमें 'स्व' की, आत्मा की अमरता के आश्वासन का अवलम्बन लेना ही पड़ता है। यद्यपि यह भी है तो दार्शनिक समस्या ही किन्तु आचार-शास्त्र को इस मान्यता को लेकर ही चलना पड़ता है। भारतीय विचारकों में तो चार्वाक के अतिरिक्त प्रायः सब ही ने आत्मा की अमरता को स्वीकार किया है और ऐसे ही मान्य सत्य की आचार-शास्त्र को घनी आवश्यकता है भी।

इन कुछ एक अन्य सत्यों को लेकर ही आचार-शास्त्र को चलना पड़ता है यद्यपि इनमे से कुछ एक तो ऐसे भी हैं जिनके सम्बन्ध में खोज, विश्लेषण और विवेचना की गम्भीर आवश्यकता है।

अध्याय १४

सामाजिक न्याय और दण्ड विधान

न्याय—साधारणतया यह माना जाता है और ठीक भी है कि आचार-शास्त्र का सम्बन्ध मुख्यतः व्यक्ति से है किन्तु हम देख ही चुके हैं कि व्यक्ति प्रायः अपने जीवन में कभी भी एकाकी, सामाजिक प्रभावों से सर्वथा मुक्त नहीं रहता है। उसके चरित्र निर्माण का दायित्व समाज पर भी होता है और उसका सामाजिक वातावरण उसके कर्तव्य-पालन करने में भी अपना हाथ रखता ही है अतः समाज को आचार-शास्त्र से परे नहीं रखा जा सकता है। तिस पर आज तो हम यह और भी अधिक अनुभव करने लगे हैं कि मानव के व्यक्तित्व के निर्माण का बहुत कुछ नैतिक दायित्व भी समाज पर है ही। व्यक्ति को सामाजिक न्याय प्राप्त होना चाहिए और यह आज दिन व्यक्ति का एक बहुत बड़ा अधिकार मान लिया गया है कि उसे, सामाजिक न्याय सहज ही प्राप्त हो। दण्ड विधान सामाजिक न्याय का ही तो एक अंग है अतः उसकी चर्चा यहाँ कर देना उचित ही जान पड़ता है। वस्तुतः यह भी विचारणीय समस्या है कि दण्ड देना व्यक्ति अथवा समाज का कर्तव्य, उनका दायित्व है ?

पुरातन विचारधारा—प्राचीन काल में, लगभग सभ्यता के आदि युग तक मानव दण्ड देता था और उस दण्ड का मुख्याधार होता था 'अतीत', व्यक्ति का किया हुआ 'अपराध'। सम्भवतः दण्ड के पीछे प्रतिशोध की, प्रतिहिंसा की भावना ही प्रबल रहा करती थी और सम्भवतः इसी भाव से दण्ड निर्णायक बनने का अधिकार भी उसी व्यक्ति को होता था जिसके प्रति अपराध किया गया हो।

आधुनिक विचारधारा—मानव की सभ्यता एवं सामाजिक वृत्तियों के विकास के साथ ही साथ दण्ड के भीतर निहित भावना भी परिवर्तित हो गई। आज का दण्ड विधान सामाजिक हो अथवा कानूनी 'अतीत' की अपेक्षा वर्तमान और भविष्य की ओर भी देखता है और सम्भवतः इनकी ओर अतीत की अपेक्षा कुछ अधिक ही देखता है अतः

जिन विचारधाराओं के आधार पर दण्ड दिया जाना चाहिए उन पर भी दृष्टि डाल लेना ठीक ही होगा।

दण्ड:—अवश्यंभावी फल (Retributive theory)—कान्ट के विचारानुसार तो दण्ड दुष्कर्म का अवश्यंभावी फल है और इसी दृष्टि से यह किसी अन्य ध्येय का साधन मात्र ही नहीं है वरन् अपने आप में ही पूर्ण ध्येय है। वस्तुतः दुष्कर्म कर्ता को दण्ड का अधिकारी बना देता है और ऐसा मान लेने पर दण्ड देना भी तो कर्तव्य हो जाता है।

ब्रेडले के विचार में दण्ड का माप निर्धारित करना कठिन नहीं ही वरन् असम्भव है। किसी एक दोष, एक नैतिक अपराध का दण्ड क्या हो और कितना हो, यह कहना कठिन है क्योंकि तनिक भी अधिक हो जाने पर क्या वह निर्दयत्ता न हो जायेगी। अतः दण्ड देने का अधिकार होते हुए भी उसका ठीक ठीक उपयोग करना ही कठिन है। फिर यह सोचना तथा मानना भी तो कठिन है ही कि नैतिक अपराध, दुष्कर्म, दोष का फल शारीरिक कष्ट हो सकता है अथवा होना चाहिए। युद्धकाल में तो दुःख, कष्ट, मानव पीड़ा का कारण देना भी कठिन हो जाता है। भला यह कहाँ का न्याय है कि कुछ व्यक्तियों के अपराध के लिए यदि अपराध हो भी तो सम्पूर्ण जाति को दण्ड दिया जाए। अतः यह भले ही मान लिया जाए कि दण्ड देना अधिकार है किन्तु उसे कर्तव्य नहीं माना जा सकता है और फिर पीड़ित व्यक्ति तो न्यायाधीश हो ही नहीं सकता है। एक और कठिनाई यह भी है कि नैतिक अपराधी ने तो विश्व मे एक अपराध की, अश्रेय की सृष्टि की ही, अब दण्ड देकर, मानव को कष्ट देकर विश्व में अश्रेय की वृद्धि क्यों की जाए और ऐसा करने से भला कौन-सा नैतिक कार्य सध जायेगा। इस प्रकार की विचारधारा को स्वीकार कर लेने पर तो अज्ञान भी दण्ड मुक्त करने के लिए पर्याप्त कारण न हो सकेगा और ऐसी अवस्था में अज्ञान वश किए हुए अपराधों का दण्ड भी देना दिलाना ही होगा। फिर कहाँ रह जायेगा प्रेम और कौन-सा स्थान रह जायेगा क्षमा के लिए जब कि यह दोनों ही मानव जीवन में अपना अत्यधिक महत्त्व रखते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि नैतिक अपराधी के प्रति सब ही लोग घृणा की दृष्टि रखने लगते है किन्तु क्या घृणा के स्थान पर उसे प्रेम कर पाना अधिक सुन्दर नहीं है?

दण्ड:—बाधा देने के लिए—दण्ड देने के पीछे यह भावना भी हो सकती है कि अपराधी को अपराध करने से रोका जा सके किन्तु केवल

मात्र शारीरिक कष्ट भय से नैतिक अपराध न करने वाला व्यक्ति क्या नैतिक माना जा सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है और ऐसा कर पाना सदा सर्वदा सम्भव भी तो नहीं है। कभी कभी निरपराधी भी तो दण्डित हो ही जाते हैं किन्तु यह हो सकता है कि प्रारम्भ में व्यक्ति शारीरिक पीड़ा के भय से अपराधों से दूर रहे और फिर यही उसका स्वभाव वन जाए। और कुछ नहीं तो कम से कम शारीरिक पीड़ा हमें अपराध के सम्बन्ध में यह ज्ञान तो कराती ही है कि यह अनुचित है। यदि सदा सर्वदा किसी भी प्रकार से निम्न प्रवृत्तियों को दवाए रखा जा सके तो कभी कभी उच्च प्रवृत्तियाँ अपना स्थान ले ही लेंगी। वालक को पाठशाला जाने के लिए पिता के भय की आवश्यकता प्रारम्भ में ही होती है। कुछ काल पश्चात तो पाठशाला जाना उसे भला ही लगने लगता है।

दण्ड :—सुधार के लिए—एक विचारधारा यह भी है कि दण्ड का उद्देश्य होना चाहिए सुधार। सुधारवादी लक्ष्य व्यक्ति के प्रति भी हो सकता है और समाज के लिए भी। वास्तव मे वही व्यक्ति तो अपराध कर पाता है जिसकी मनोवृत्तियाँ विकृत होती है अतः मानसिक दृष्टि से वह भी तो अप्राकृतिक ही होता है। शरीर के रोगी से जव कि हम सहानुभूति करते हे तो इस प्रकार के नैतिक रोगी के प्रति कठोर क्यों हों? हमें तो उसे भी रोगी समझ कर उसके साथ भी सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए, उसकी चिकित्सा ही करनी चाहिए। अतः अपराधी व्यक्ति के सुधार की चेष्टा की जानी चाहिए। वस्तुतः अधिकतर तो कष्ट, दण्ड अपराधी का सुधार न करके उसे और भी अधिक नैतिक पतन की ओर ही ढकेलता चला जाता है। एक तो यूँ ही अपराध सम्वन्धी चेतना मानव को दुर्वल वना देती है तिस पर सामाजिक दण्ड और उसके अतिरिक्त अन्य दण्ड लाद देना तो व्यक्ति को नष्ट ही कर देना है। यद्यपि इस विचारधारा में कुछ वल तो है फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि आराम की अपेक्षा सम्भवतः वेदना मानव को अपराध सम्बन्धी नैतिक चेतना अधिक दे पाती है। एक और भी प्रश्न यहाँ हो सकता है कि मानव आज दिन तक दण्ड विधान को, विधि निषेध को लेकर ही तो चलता रहा किन्तु उसका फल क्या हुआ? अभी तक विश्व से नैतिक अपराध समूल नष्ट तो हो पाए नहीं किन्तु दूसरी ओर यह भी तो कहा जा सकता है कि सम्भवतः इतने निधि निषेध, दण्ड आदि न होने पर मानव-समाज और भी अधिक अनैतिक हो जाता। यह तो हुई व्यक्ति के सुधार की बात। कुछ

भी हो व्यक्ति का, अपराधी का सुधार करना दण्ड का नैतिक लक्ष्य, नैतिक उद्देश्य तो होना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त सामाजिक उद्देश्य समाज का सुधार करना भी तो हो सकता है। अपराधी को दण्ड देकर, अन्य व्यक्तियों में अपराध के प्रति भय और घृणा की भावना उत्पन्न करके उन्हें अपराध से प्रथक् रखा जा सकता है किन्तु ऐसा करने का अर्थ तो होगा अपराधी को अर्थात् किसी भी मानव को साधन रूप में प्रयोग में लाना अर्थात् समाज के सुधार के लिए व्यक्ति को पीड़ा पहुँचाना। ऐसा करने का किसी को भी, यहाँ तक कि समाज को भी क्या अधिकार है? वस्तुतः मानव को केवल मात्र साधन रूप में प्रयोग में लाने का किसी को भी कोई अधिकार नहीं है।

क्षमादान—वस्तुतः दण्ड की अपेक्षा क्षमा की शक्ति अधिक है। अपराधी का वास्तविक सुधार क्षमा, प्रेम से होना तो सम्भव भी है किन्तु दण्ड से तो किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। यह कहा तो जा सकता है कि न्यायधीश दण्ड दे किन्तु साधारण मानव क्षमा कर दे परन्तु ऐसा कर पाना प्रायः कठिन हो जाता है। एक बार किसी के अपराधी होने का ज्ञान हो जाने पर उसे निरपराध मानना किसी के लिए भी कठिन तो हो ही जाता है। वास्तविक दण्ड तो अपराधी का यह ज्ञान ही, इस प्रकार की चेतना ही हो सकता है कि उसने अपराध किया है, अनुचित किया है। बटलर के विचारानुसार तो जिसके प्रति अपराध किया गया है उस व्यक्ति की ओर से दिया गया क्षमादान अधिकतर अपराधी पर बहुत ही गहरा नैतिक प्रभाव डालता है। ऐसा करना कम से कम अन्य व्यक्तियों के क्षमादान से तो अधिक ही प्रभावोत्पादक होता है। वस्तुतः दण्ड के विषय में हमें सब से बड़ी शंका यही होती है कि 'अश्रेय' की वृद्धि करके 'श्रेय' कैसे उत्पन्न किया जा सकता है।

प्रायश्चित्त—सम्भवतः अपराध सम्बन्धी चेतना हो जाने पर अपराधी का स्वयं अपने ऊपर लिया गया दण्ड अर्थात् प्रायश्चित, दूसरे के द्वारा दिए गए दण्ड की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हो सकता है किन्तु प्रायश्चित करने के लिए यह आवश्यक है कि अपराधी के लिए कोई वाह्य बन्धन अथवा दबाव न हो। विभिन्न अपराधों के विभिन्न प्रायश्चितों का विधान तो किया जा सकता है और अपराधी उसमें से अपने लिए स्वयं दण्ड भी चुन सकता है किन्तु उससे भी अधिक हितकर हो सकता है इस प्रकार के किसी बन्धन, विधि-विधान में बँधे बिना भी

नैतिक अपराधी का स्वेच्छा से अपने ऊपर स्वयं ही निर्धारित करके ओढ़ा हुआ दण्ड। ऐसा होना तब ही सम्भव है जब कि अपराधी को यह चेतना हो कि उसने अनुचित कर्म किया है और उसमें यह इच्छा, आकाँक्षा भी हो कि उसे उस अनुचित कर्म के दोष से मुक्त होना चाहिए। वह अनुचित कर्म करके अशुद्ध हो गया है अतः उसे प्रायश्चित करके शुद्ध होना ही चाहिए।

दण्ड:—दूसरों के अपराधों के लिए—महात्मा बुद्ध के विषय में ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि वह आज भी बद्ध जीवों के पापों का दण्ड स्वयं अपने ऊपर लेकर उन्हे निर्वाण दिलाने के लिए प्रयत्न शील हैं। अन्य ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें कि स्वेच्छा से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अपराधों का दण्ड भोगता है। इस प्रकार के दण्ड भोगने का प्रभाव अपराधी पर बड़ा ही गहन, गम्भीर पड़ता है।

अपराध-रहित समाज—वस्तुतः हमारा नैतिक लक्ष्य तो होना चाहिए ऐसे समाज का निर्माण जहाँ व्यक्ति को अपराध करने की प्रवृत्तियों का विकास करने के अवसर ही न मिलें, अपराध करने की आवश्यकता ही न हो, अपराध कर पाने की सुविधाओं और अवसरों का अभाव हो। ऐसा समाज जिसमें व्यक्ति में अपराध करने की इच्छा उत्पन्न ही न हो और जिसमें अपराध होने की सम्भावना ही न हो, आदर्श समाजिक व्यवस्था स्थापित्त करने से ही बन सकता है। अतः हमारा लक्ष्य तो यही होना चाहिए कि आदर्श समाज, सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जाए। वस्तुतः यदि अधिकांश अपराधियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाए तो यही ज्ञात होता है कि मानव साधारणतया अपराधी प्रकृति का नहीं होता है। उसकी परिस्थितियाँ ही उसे अपराध करने को पहले विवश करती हैं और फिर वह उसी का अभ्यस्त हो जाता है अतः रोग का ठीक-ठीक निदान करके ही उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। अन्यथा हम अपराधी को कानून के अनुसार दण्डमात्र देकर और भी अधिक पाप, अपराध की ओर ही ढकेल देते हैं जो कि 'अश्रेय' की सृष्टि करना ही है। ऐसे समाज की स्थापना कैसे की जा सकती है? समाज को इस प्रकार संगठित कैसे किया जाए जिससे कि व्यक्ति स्वयं अपराध की ओर प्रवृत्त हो ही नहीं? व्यक्ति का यथार्थ दृष्टि से उचित चरित्र निर्माण कैसे किया जाए? उसे अपनी नैसर्गिक शिव-प्रवृत्तियों का विकास करने के अवसर और तत्सम्बन्धी सुविधायें कैसे दी जाएँ? यह सब प्रश्न समाज-शास्त्रियों और शिक्षा-शास्त्रियों के लिए विचारणीय है। हम तो यहाँ केवल इतना

ही, कह सकते हैं कि नैतिक दृष्टि से नैतिक अपराधी को शारीरिक कष्ट के रूप में दण्ड देने का कुछ बहुत अधिक नैतिक महत्त्व नहीं हो सकता है। आदर्श समाज की कल्पना तो की गई है, की जा रही है और की जा सकती है किन्तु कब और कैसे उसे कल्पना व्योम से धरती पर लाया जा सकेगा यह कहना तनिक कठिन है।

प्राणदण्ड—प्राणदण्ड के औचित्य को केवल 'दण्ड-अवश्यंभावी फल' के सिद्धन्त के आधार पर ही माना जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के नैतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक 'जीवित रहने के अधिकार' को छीन लेता है तो इसका यह अर्थ हुआ कि उसने अपने 'दूसरे के जीवन के प्रति आदर करने' के कर्तव्य का पालन नहीं किया। अतः उसका अपराध दो प्रकार का हुआ। एक तो दूसरे के अधिकार में हस्तात्तेप करना, उसे उसका उपभोग न करने देना और दूसरे अपने कर्तव्य का पालन न करना किन्तु यह दोनों ही अपराध क्या इतने गम्भीर है कि उस व्यक्ति का भविष्य जीवन छीन लेना ही उनका उचित दण्ड हो सकता है? और यदि ऐसा मान भी लिया जाए तो किस विधान के अनुसार यह दण्ड उक्त अपराधों का स्वाभाविक 'फल' होता है, यह कुछ ठीक-ठीक समझ मे नहीं आता है। और फिर प्राणदण्ड देकर तो हम भी उस व्यक्ति के 'जीवित रहने के' अधिकार को जो कि उसका भी प्राकृतिक अधिकार है, छीन रहे हैं। यद्यपि उसने स्वयं भी वैसा ही किया है किन्तु उसके उस कर्म को तो हम अनुचित ठहरा ही रहे हैं। यदि मानव के 'जीवित रहने के अधिकार' का अपमान करना, किसी भी व्यक्ति से उसे छीन लेना एक व्यक्ति के लिये अनुचित है तो भला वह किस न्याय से समाज अथवा राष्ट्र के लिए उचित हो जायेगा और यदि उस कर्म का एक विशेष अवश्यभावी फल है, परिणाम है तो वह अवश्यंभावी परिणाम केवल व्यक्ति के लिए ही फलीभूत होता है समाज अथवा राष्ट्र के लिए नहीं, इस विरोधाभास को किस प्रकार समझा जा सकेगा। अग्नि में हाथ चाहे अचानक डालो अथवा जानबूझ कर, व्यक्ति डाले अथवा समूह, जलती हुई अग्नि में डाल दो अथवा उसे जलाकर, हाथ तो जलेगा ही। उसके लिए विभिन्न नियम कैसे बनाये जा सकते हैं अतः दण्ड को केवलमात्र कर्म का अवश्यंभावी फल मान कर भी प्राणदण्ड का औचित्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता है।

यूँ भी यदि हम किसी व्यक्ति के प्राण-हरण करना 'अनुचित' और 'अश्रेय' मानते हैं तो प्राणदण्ड भी, भले ही वह अपराध के दण्ड स्वरूप ही दिया जाए प्राणहरण करना ही तो है। वह भी तो 'अनुचित' और

'अश्रेय' ही होगा। ऐसी अवस्था में क्या समाज अथवा राष्ट्र को 'अश्रेय' और 'अनुचित' कर्म करने का नैतिक अधिकार है ? और यदि है तो उसे यह अधिकार कैसे और कहाँ से प्राप्त हुआ तथा इसका औचित्य कैसे प्रमाणित किया जा सकेगा।

यह कहा जा सकता है कि समाज सुधार के लिए हत्यारे को प्राण-दण्ड देना आवश्यक है किन्तु यहाँ भी प्रश्न यह उठेगा कि क्या हमें किसी भी व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों के सुधार के लिए साधन स्वरूप प्रयोग में लाने का अधिकार है ? मानव केवल मात्र साधन ही तो नहीं है। वह तो अपने आप में ध्येय भी है अत' उसे केवल मात्र साधन रूप में प्रयोग करके हम 'श्रेय' की वृद्धि तो नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार तो जहाँ हत्यारे ने विश्व में एक 'अश्रेय' की सृष्टि की, वहीं हमने उसे प्राणदण्ड देकर विश्व में दूसरे 'अश्रेय' को जन्म दिया और इस प्रकार 'अश्रेय' की ही वृद्धि में योगदान दिया अतः किसी प्रकार भी प्राणदण्ड को नैतिक दृष्टि से 'उचित' तो ठहराया ही नहीं जा सकता है।

युद्ध—अब यह प्रश्न उठता है कि युद्धों में की गई मानव-हत्या कहाँ तक 'उचित' है। भले ही हम युद्ध इसलिए करें कि विश्व में शान्ति की स्थापना हो सके, दुष्टों को दण्ड मिल सके किन्तु युद्ध में होनेवाला ताण्डव, मानव ह्रास और मानव वेदना केवल इसी से उचित सिद्ध नहीं हो सकेगी कि उसका ध्येय शिव है। नैतिक दृष्टि से केवल मात्र ध्येय का ही श्रेयत्व साधनों के श्रेयत्व को नहीं सिद्ध कर देता है वरन् साधनों का श्रेयस्कर होना उतना ही आवश्यक है जितना कि ध्येय का अतः शान्ति स्थापना के लिए किए गए युद्धों को भी 'श्रेय' एवं 'उचित' नहीं कहा जा सकता है। और न किसी भी राष्ट्र को यह अधिकार ही दिया जा सकता है कि वह युद्ध में जय-प्राप्ति के लिए मानवों को साधन रूप में प्रयोग में लाए। वस्तुतः साधारण योद्धा तो युद्ध केवल इसी लिए करते है कि ऐसी उनके अन्नदाताओं की, राष्ट्र की आज्ञा है। अब प्रश्न यह होता है कि क्या राष्ट्र को यह नैतिक अधिकार प्राप्त है कि वह अनेकानेक मानवों को मानव के प्राण लेने के लिए उद्यत करे। ऐसा करने से क्या 'अश्रेय' की वृद्धि नहीं होती है ? यदि होती है तो इस कर्म को भले ही वह राष्ट्र का हो, उचित कैसे माना जा सकता है और वे सब ही लोग जो कि राष्ट्र की आज्ञा मान कर युद्ध में रत होंगे 'अश्रेय की वृद्धि' करने के अपराध के अपराधी होंगे अथवा नहीं ? ये प्रश्न विचारणीय हैं। सम्भवतः इनका उत्तर देते हुए हमें अपने वर्तमान क्षेत्र से बाहर भी चला जाना पड़े,

जो कि इस समय हमारा उद्देश्य नहीं है। फिर भी निश्चित रूप से यह कह सकना हमारे लिए कठिन है कि युद्ध भले ही अत्यन्त आवश्यक हो, 'नैतिक श्रेय' है अथवा हो सकता है। साधन रूप में भी इसे हम, उस ध्येय से सम्बन्धित होने पर भी जो कि 'श्रेय' है, श्रेयस्कर नहीं कह सकते हैं। अतः नैतिक दृष्टि से तो युद्ध की उपादेयता स्वीकार नहीं की जा सकती है।

उपसंहार—अन्त में केवल यही कहा जा सकता है कि मानव भीतर से केवल मात्र श्याम ही है यह विश्वसनीय तथ्य नहीं है। वस्तुतः मानव के भीतर ही 'देवत्व' का भी वास होता है यदि 'देवत्व' से हमारा तात्पर्य 'पूर्ण श्रेय' और 'पूर्ण रूपेण उचित' तक ले जा सकने की शक्ति से हो। केवल शक्ति ही नहीं, मानव में 'श्रेय' के, 'उचित' के प्रति भक्ति की, श्रद्धा की और आदर की भावना भी स्वाभाविक रीति से ही रहती है। यद्यपि सामाजिक सुविधाओं, वातावरण एवं परिस्थितियों का भी उसके 'श्रेय' अथवा 'अश्रेय' कर्मों के चयन करने पर प्रभाव पड़ता है फिर भी मानव के श्रेय के प्रति स्वाभाविक झुकाव को हमें मानना ही पड़ता है और सम्भवतः इसका मूल कारण यही हो कि मानव मूलतः "शुद्ध चैतन्य स्वरूपात्मा" है। हो सकता है, 'श्रेय' ही सत्य हो और उसका अभाव मात्र ही 'अश्रेय' हो अर्थात् 'अश्रेय' का अस्तित्व हो ही नहीं किन्तु यह सब तर्क तो हमें फिर दार्शनिक पृष्ठ भूमिका पर ही ले जाते हैं। अतः यहाँ पर तो हम इतना ही कह सकते है कि मानव का नैतिक आदर्श पूर्णत्व की ओर अग्रसर होना है और उसमें ऐसी शक्ति भी है जो कि उसे पूर्णत्व की ओर ले जा सके। इस दिशा में प्रयत्नशील होना ही उसकी नैतिक उन्नति है और जो उसे पूर्णत्व की ओर ले जाने में सहायक होता है, उसे 'श्रेय' कहा जा सकता है। 'श्रेयत्व' की मात्रा भी इसी से निर्धारित की जा सकती है कि कौन उसे कितना पूर्णत्व की ओर अग्रसर करता है। 'सर्वोच्च-श्रेय' सम्भवतः 'पूर्णत्व' ही है और पूर्णत्व प्राप्त कर लेने पर मानव के लिए कुछ भी 'अश्रेय', 'अनुचित' और 'अकार्य' रह ही नहीं जाता है। पूर्ण मानव तब ही तो कह पाता है :—

'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
ना नवाप्तम वाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ (भग० गी० ३.२२)

अर्थात् हे पार्थ! त्रिभुवन में न तो मेरा कुछ कर्तव्य ही शेष रहा है और न कुछ ऐसा ही है जिसे मुझे प्राप्त करना हो फिर भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ। 'पूर्णता' को प्राप्त करना ही सम्भवतः नैतिक मानवादर्श हो सकता है। वहीं पहुँच कर मानव सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम् होकर ब्रह्म में लीन हो पाता है।

पर्यायवाची शब्द-सूची

अंगी	Organism
अद्वितीय ढंग का सरल विचार	Unique simple notion
अर्थशास्त्र	Economics
अनुभूति	Feeling
अन्तःकरण	Moral sense
अनुष्ठान-सिद्धात	Theory of practice
अंतर्ज्ञान	Intuition
अंतः शक्तिवाद	Intuitionism
अंतिम ध्येय	Ultimate end
अंतर्द्वंद	Mental conflict
अमिश्रित	Pure
अवस्थाएँ	Situations
आचरण	Conduct
आचार-शास्त्र	Ethics
आत्मा	Soul
आत्मानुभूति	Self-realisation
आत्म-रक्षा	Self-preservation
आत्म-महत्त्व	Self-assertion
आत्मज्ञान	Self-realisation
आत्मत्याग	Self-sacrifice
आत्मस्नेह	Prudence, Self-love
आदर्श	Ideal
आनन्द	Happiness
आतरिक नियम अथवा विधि	Internal Law
आध्यात्मिक जगत्	Spiritual world
इच्छा	Desire
इच्छा-समूह	Universe of desires
इच्छा करने के योग्य	Desirable

ईश्वरीय सत्य	Divine spirit
उच्च-स्व	Higher-self
उचित	Right
उद्देश्य	Purpose
उपयोगितावाद	Utilitarianism
क्रम	Order
क्रमबद्ध	Systematised
कर्तव्य	Duty
कर्तव्यज्ञान	Sense of duty
कर्म-सिद्धांत	Theory of action
कामनाएँ	Impulses, passions
गतिवान	Speedy
चरित्र	Character
चुनाव	Choice
जीवी	Organism
जीविक	Organic
जीवोपम एकता	Organic unity
जीवनादर्श	Ideal of life
तर्कबुद्धि	Reason
तर्कशास्त्र	Logic
तर्क	Fact
तत्त्वशास्त्र-दर्शन	Metaphysics, Philosophy
तामसी बुद्धि	Impulsive self
तीव्र	Intense
दण्ड—अवश्यम्भावी फल	Retributive theory
दण्ड—बाधा देनेवाला	Deterrant and preventive theory
दण्ड—सुधारवादी	Reformative theory
दीर्घकालीय	Long
देश-विधि	Law of country
धर्मशास्त्र, धार्मिक मतों पर विश्वास	Religion
ध्येय मूल्य	End-in-themselves
न्याय	Justice

निस्वार्थस्नेह	Disinterested affection
निजी मूल्य	Intrinsic value
निजी गुण	Intrinsic quality
निम्न स्व	Lower self
निश्चित	Certain
निश्चय	Will
निष्पक्ष इच्छाएँ	Disinterested desires
नैतिक सद्	Moral
नैतिक माप-दण्ड	Moral standard
नैतिक नियम	Moral laws
नैतिकता का व्यापक एवं पूर्ण माप-दण्ड	Objective Standard of morality
नैतिक तथ्य	Ethical facts
नैतिक उत्तरदायित्व	Moral responsibility
नैतिक सुखवाद	Ethical hedonism
नैतिक तर्क	Sanctions of morality
नैतिक सत्ता	Moral authority
नैतिक गुण	Virtue
नैतिक उन्नति	Moral progress
नैतिक चेतना	Moral consciousness
नैतिक निर्णय	Moral judgment
नैतिकता के सिद्धांत	Maxims
नैसर्गिक संस्कार	Instincts
नैतिक नियम	Moral laws
प्राकृतिक विज्ञान	Natural or Positive science
प्राकृतिक माँग	Natural appetite
प्राकृतिक भूल	Naturalistic fallacy
प्रकृतिवादी	Naturalist
परार्थ	Altruism
पूर्ण आनन्द	Bliss
पूर्ण श्रेय	Bonum consummatum
पूर्ण ब्रह्म	Absolute
प्रत्यक्ष कारण	Intention

फलदायी	Fruitful
वाह्य नैतिक नियम	External moral laws
बुद्धिमत्ता	Wisdom
बुद्धिगत स्वार्थ सुखवाद	Epicureanism
मनस्	Mind
महत्त्व	Quality
मनोविज्ञान	Psychology
मनोवैज्ञानिक आधार	Psychological basis
मनोवैज्ञानिक सुखवाद	Psychological hedonism
मनोवृत्ति	Attitude
मान्यता	Preference
मान्य सत्य	Postulate
मात्रा	Quantity
माँग	Obligation
मूर्त	Concrete
मूल्यांकन	Systematised valuing
मूल्य	Value
मूलतः चिन्तन	A priori
मुख्य आकार	Broad features
मुख्य नैतिक गुण	Cardinal virtue
योग्यता	Suitability
राजशास्त्र	Political science
राजसी बुद्धि	Habitual self
रीति-रिवाज	Customs
रीत्याचार	Customary morality
रुचिकर	Agreeable
वस्तु	Matter
वर्ग	Class
वर्तमान सुखवाद	Cyrenaicism
विवेक प्रदर्शित अंतराज्ञा	Categorical imperative
विश्वव्यापी विधि	Universal law
वैभव	Wealth
व्यक्तिगत	Individual

व्यक्ति के लिए नैतिक पथ-प्रदर्शन	Casuitry
विस्तार	Contents
व्यापक विचार	Universal concept
व्यापक श्रेय	Common good
व्यापक इच्छा	General will
व्यापकानंद	General happiness
शारीरिक माँग	Want
शिक्षाशास्त्र	Pedagogy
श्रेय	Good
श्रेय इच्छा	Good will
श्रेणीबद्ध	Classified
समाजशास्त्र	Sociology
समस्या	Problem
समष्टि	Group
साधन मूल्य	Instrumental value
सम्बन्धित मूल्य	Relative value
संकेत	Sign
संहति	System
सर्वाधिक उपयुक्त	Fittest
सर्वोत्तम	Best
सर्वोत्तम श्रेय	Summum bonum
सर्वोपरि अधिकार	Supreme authority
सर्वाधिक श्रेय	Highest good
सशक्त प्रवृत्ति	Principal tendency
संयम	Temperance
सदसद्विवेक-शक्ति	Conscience
साहस	Courage
सहानुभूति	Sympathy
सार्वजनिक सुखवाद	Universalistic hedonism
सर्वभूत स्नेह	Benevolence
सुखवाद	Hedonism
सुखोत्पादन	Conduciveness to pleasure
सौंदर्य शास्त्र	Aesthetics

स्व	Self, ego
स्वतः सिद्ध	Self-evident
स्वभाव	Habit
स्वनिर्णय	Self-judgment
स्वेतर	Non-ego
स्वार्थ	Egoism
स्वहित	Self-love
स्वेच्छाकृत कार्य	Voluntary action
सम्पूर्ण परिस्थिति	Total situation
हृदयंगम	Intuited

सहायक-ग्रन्थ सूची (Reference Books)

१—ऋग्वेद संहिता, सायरा भाष्य । मंडल १० ।
२—महाभारत—शान्ति पर्व, वन पर्व, आदि पर्व ।
३—भगवद्गीता ।
४—तिलक—गीता रहस्य ।
५—मनुस्मृति ।
६—बृहदारण्यक उपनिषद् ।
७—छान्दोग्योपनिषद् ।
८—सांख्य कारिका ।
९—सांख्य दर्शन ।
१०—ब्रह्मसूत्रः, शांकरभाष्यम् ।
११—कठोपनिषद् ।
१२—Barret—Ethics.
१३—Broad—Five types of Ethical theory.
१४—Bradley—Appearance and Reality.
१५—Dewey and Tufts—Ethics.
१६—Ginsberg—Moral progress.
१७—Green—Prolegomena to Ethics.
१८—Hartmann—Ethics. vols I, II, III.
१९—Kant—Metaphysics of morals.
०२—Kant—Critique of practical Reason.
२१—Mackenzie—Manual of Ethics.
२२—Moore—Principia Ethica.
२३—Muirhead—Elements of Ethics.
२४—Parker—Human values.
२५—Popper—Open Society and its Enemies.
२६—Rashdall—Theory of Good and Evil. vols I, II.
२७—Ross—Foundations of Ethics.
२८—R. A. P. Rogess—A short History of Ethics.
२९—Seth—A study of Ethical principles.
३०—Spencer—Data of Ethics.